प्रणेता

समीक्षाचक्रवर्तिविद्यावाचस्पति

पं. मधुसूदन ओझा

हिन्दी-अनुवादक

पं. देवीदत्त शर्मा 'चतुर्वेदी'

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन

प्रणेता

समीक्षाचक्रवर्तिविद्यावाचस्पति

पं. मधुसूदन ओझा

हिन्दी-अनुवादक

पं. देवीदत्त शर्मा 'चतुर्वेदी'

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन

प्रकाशकीय

वेद वाचस्पति समीक्षा चक्रवर्ती पं० मधुसूदन ओझा का "ब्रह्म सिद्धान्त" हिन्दी में प्रस्तुत करते हुए मेरी प्रसन्नता का पार नहीं है। ओझाजी का यह ग्रन्थ इतना महत्वपूर्ण है कि इसका संस्कृत से संस्कृत में अनुवाद हो जाने के उपरान्त भी हिन्दी में अनुवाद करवाना आवश्यक समझा गया। इसका संस्कृत अनुवाद भी ओझाजी के योग्य शिष्य महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने किया था। यह इस बात का प्रमाण है कि संस्कृत में लिखे हुए ओझाजी के ग्रन्थों का संस्कृत में भी अनुवाद होना आवश्यक है क्योंकि वेद की परिभाषाओं को मूल ग्रन्थों से समझना कठिन है। इस ग्रन्थ की इसी महत्ता को समझकर उसका हिन्दी अनुवाद सर्व साधारण की जानकारी के लिए प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ की भूमिका पं० गिरिधर शर्मा की लिखी हुई है। वह भी हिन्दी में दी जा रही है जिससे ग्रन्थ के विषय में विस्तृत ज्ञान हो जाता है। संस्कृत अनुवाद के साथ डा० वासुदेव शरण अग्रवाल की एक प्रस्तावना अंग्रेजी में भी दी गई है जिसे यहां प्रकाशित नहीं किया जा रहा है।

संस्कृत का अनुवाद "नेपाल राज्य संस्कृत ग्रन्थमाला" के अन्तर्गत वाराणसी में हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित किया गया था और हिन्दी अनुवादक श्री देवीदत्त शर्मा चतुर्वेदी, पं० गिरिधर शर्मा के सुपुत्र हैं जो इस विषय के ज्ञाता हैं। लगभग सत्तर वर्ष की आयु में प्रथम बार लेखनी हाथ में उठाई है। अनुवाद की भाषा से ऐसा नहीं लगता कि वे सर्वथा अनभ्यस्त हैं।

"ब्रह्म सिद्धान्त" में ओझा जी ने सृष्टि विषयक वैदिक ज्ञान का विवेचन किया है और यह इतना विशद है कि इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के सम्बन्ध में सभी मौलिक तत्वों एवं प्रक्रियाओं का ज्ञान करवा दिया गया है। यह ग्रन्थ भली भांति स्पष्ट और स्थापित कर देता है कि वेद शास्त्र एक विज्ञान शास्त्र है और सृष्टि विज्ञान का श्रेष्ठतम कोष है।

मुझे पूरा विश्वास है कि पाठक इस ग्रन्थ से अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

—कर्पूरचन्द्र कुलिश

पुरावाक्

भारतीय दर्शन शास्त्रों में जगत् की उत्पत्ति के विचार में विभिन्न मान्यताग्रों के रहने पर भी 'ग्रग्नीषोमात्मकं जगत्' इस वेद वचन का किसी ने विरोध नहीं किया है। सब ही ग्राचार्यगण इसकी घोषणा करते रहे हैं किन्तु ग्रग्नितत्व का ग्रौर सोमतत्व का मानव बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य व्यावहारिक मौलिक स्वरूप क्या है ? इसका स्पष्टीकरण कहीं भी नहीं हो पाया, यह ही कारण है कि शतशः वर्षों की भारत में प्रचलित विभिन्न दार्शनिक विचार परम्पराग्रों के रहते हुवे भी वुद्धिजीवो प्राणी की ग्रग्नि—सोम क्या है ? यह जिज्ञासा—जिज्ञासा ही बनी हुई है। ग्राश्चर्य तो यह है कि वेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में इनका स्पष्ट और विशद विवरण उपनिबद्ध है। गत शताब्दियों में उन ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वाध्याय विलुप्त हो जाने से वेद विज्ञान का लोप सा हो गया था यह ही मानना पड़ेगा। ग्रन्यथा यदि उन ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि—विज्ञान नहीं होता तो इस युग का जिनको साक्षात् ऋषि कहा जा सकता है उन परम गुरुदेव समीक्षा चक्रवर्ती श्री ओझाजी को मन्त्र गर्भित इन सारे विज्ञान भावों का ज्ञान कहां से प्राप्त हो जाता।

नासदीय सूक्त को ग्राधार बनाकर इस ग्रंथ की रचना हुई है। दशविध दर्शन वादों का प्रचार भारत में था—उनको निरस्त करके ग्रग्नीषोमात्मक ब्रह्मवाद की ब्रह्मा द्वारा स्थापना की गई यह ग्रन्थ के ग्रारम्भ में ही उल्लिखित है। ब्रह्म का व्यावहारिक रूप, माया का व्यावहारिक रूप, नित्य ब्रह्म के साथ माया बल द्वारा होने वाले विभिन्न सम्बन्ध और उन सम्बन्धों से होने वाला जगत् के पदार्थों का निर्माण—ये सब जितना स्पष्ट करके इस ग्रन्थ में दिखाया गया है—वैसा ग्रन्यत्र दुर्लभ है। पूज्य पितृचरण स्व० म० म० पं० श्री गिरिधर शर्मा जी चतुर्वेदी जो कि समीक्षा चक्रवर्ती श्री ग्रोझाजी के ग्रन्यतम शिष्य थे, उनने इस ग्रन्थ की संस्कृत भाषा में ही टीका की थी, वह सर्व साधारणगम्य नहीं है और ग्रन्थ वास्तव में परम उपयोगी है, यह समझ कर राजस्थान पत्रिका के संचालक श्री कर्पूरचन्द्र जी 'कुलिश' ने मुझे इस ग्रंथ का टीका सहित हिन्दी ग्रनुवाद करने के लिये प्रेरित किया। किसी विशेष ईश्वरीय प्रेरणा से ही श्री कुलिश जी समीक्षा चक्रवर्ती जी के द्वारा लिखित वेद विज्ञान सम्बन्धी ग्रंथों को जनता के सामने लाने के लिये कई वर्षों से

प्रयत्नशील हैं। हिन्दी में अनुवाद करा कर अनेक ग्रन्थों का मुद्रण करा चुके हैं। यह सब राजस्थान पत्रिका के तत्वावधान में हो रहा है। इस ग्रन्थ के अन्त के टीकाकार द्वारा लिखित पांच श्लोकों का अनुवाद नहीं किया गया था, उन पांच श्लोकों में ग्रन्थ परिचय है– वह यहां प्रस्तुत है। पितृचरण श्री चतुर्वेदीजी की मान्यता के अनुसार– वेद में कथित ब्रह्म विज्ञान भाव का जिसमें स्पष्ट प्रकाश हो रहा है ऐसा सिद्धान्तवाद नाम का यह ग्रन्थ अति लौकिक बुद्धि के स्वामी विद्यावाचस्पति, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीमान् मधुसूदन शर्मा जी की निर्मल प्रज्ञा से समुद्भूत स्वतन्त्र विचार रूप दर्पण है। 'दर्पण में जैसे सारा प्रतिबिम्ब आ जाता है वैसे ही सृष्टि प्रक्रिया ग्रन्थ में प्रतिबिम्बित हो रही है'। उन गुरुवर की कृपादृष्टि से जो ज्ञान संपत्ति प्राप्त हुई उसके सहारे उनके ही बताये हुए मार्ग का अनुसरण करते हुए ग्रन्थ का विवरण यथामति किया गया है। इसकी व्याख्या में जो त्रुटि रह गई हो—वह मेरी बुद्धि की त्रुटि है यह समझना चाहिये। अभिप्रेत केवल यह है कि ग्रन्थोक्त दिशा का अनुसरण करते हुवे पण्डितों को वेद का अर्थ विचार करना चाहिये। विक्रम संवत् २०१६ में यह व्याख्या पूर्ण हुई—यह श्री गुरुदेव के चरणकमलों में समर्पित करता हूं।

ग्रन्थ में जो वस्तु विचार हैं—उसमें मेरी अपनी बुद्धि के प्रवेश का तो प्रश्न ही नहीं उठता। मेरे द्वारा तो मूल का तथा टीका के अक्षरों का हिन्दी अनुवाद मात्र संभव हुवा है—उस अनुवाद में भी अव्यवस्था हो जाना संभव है। उदार पाठकगण क्षमा करते हुए उसे स्वयं व्यवस्थित कर लेवें—

इस प्रार्थना के साथ—

देवीदत्त चतुर्वेदी

———

श्रीः

ग्रन्थभूमिका और सारांश

[मूलग्रन्थकार समीक्षाचक्रवर्ती विद्यावाचस्पति स्व० श्री मधुसूदन ओझा जी के संक्षिप्त परिचय सहित]

'यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।। (श्रीभगवद्गीता)

संसार में जब जब अज्ञानान्धकार सत्य विद्याओं पर विप्लवमय आवरण डालता है, तब तब सर्वनियन्ता जगदीश्वर की प्रेरणा से किसी न किसी विशेष शक्ति का आविर्भाव हुआ करता है और उस शक्तिविशेष के द्वारा ही लोक में सत्य विद्याओं का पुनर्जागरण होता है। वेद नाम से प्रसिद्ध आर्यविज्ञान एक सत्य विद्या है और वैदिक धर्म सत्य धर्म है, अतएव इनकी रक्षा का आयोजन ईश्वर की ओर से समय-समय पर सदा होता रहा है। वर्त्तमान समय वैदिक धर्म और वेद विद्या के लिये एक प्रचण्ड आपत्ति का समय है। पुराने इतिहास की खोज के लिये चाहे आज नाममात्र को वेद का गौरव माना जाता हो, किन्तु वेद सत्य विद्याओं का निधान है, सब प्रकार के विज्ञानों का मूल स्रोत है, इस अटल सत्य को मानने के लिये आज की शिक्षित जनता तय्यार नहीं। इसमें शिक्षित वर्ग का अपराध भी नहीं। क्योंकि आज सत्य विद्या या सत्य धर्म की तौल होती है वस्तु-विज्ञान (**Science**) की तराजू पर ? वस्तु-विज्ञान ही इस युग की मुख्य विद्या है। वस्तु-विज्ञान को वर्तमान शैली से प्रस्फुटित करने वाला कोई वेद का भाष्य आज तक उपलब्ध नहीं। वैदिक धर्म का वस्तु-विज्ञान से संबन्ध बताने के साधन कालसमुद्र की तरंगों में लीन हो चुके हैं, फिर विज्ञानराशि कह कर वेद का गौरव किस आधार पर टिक सके ! नाममात्र की श्रद्धा वेद की रह गई है। किन्तु श्रद्धा का आधार अंधकारमय है। यह निराधार श्रद्धा अधिक समय तक नहीं चल सकती थी—अतः जगदीश्वर ने अज्ञानान्धकार में डूबती हुई भारतीय वेद विद्या को ओझा जी के स्वरूप में एक अलौकिक प्रतिभासंपन्न ज्योति प्रदान कर दी—यही अनुमान होता है।

समीक्षाचक्रवर्त्ती, विद्वन्मूर्द्धन्य श्री मधुसूदन जी ओझा का जन्म बिहार प्रान्त में मुजफ्फरपुर जिले के गाढा नाम के ग्राम में पंडित श्री वैद्यनाथ जी ओझा की धर्मपत्नी से वि० संवत् १९२३ में श्रीकृष्ण जन्माष्टी (भाद्रपद कृ०) की रात को १० बजे मृगशिरा नक्षत्र में हुआ।

जिस वंश में आपका जन्म हुआ, वह वंश परंपरा से विद्वानों का कुल रहा है। आपसे पूर्व भी प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित विद्वान् इस कुल में होते रहे हैं। चरितनायक का बाल्यकाल समुचित लालन के साथ अपने पिता के आश्रय में बिहार में ही व्यतीत हुआ और प्रारंभिक शिक्षा भी यहीं हुई। आपके पिता के भ्राता पंडित राजीवलोचन जी ओझा थे, जो जयपुरनरेश स्व० रामसिंह जी द्वारा पूर्ण संमानित होकर

जयपुर में ही रहने लगे थे, इनके कोई सन्तति नहीं थी। अतः चरितनायक को दत्तक रूप से इनने अपना पुत्र बनाया और यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर इन्हें अपने साथ जयपुर ले आये। वहाँ उच्च कक्षा के विद्वानों के पास आपका अध्ययन आरंभ हुआ। पं० राजीवलोचन जी आपको समय-समय पर अपने साथ महाराज के पास भी ले जाते थे और यदा कदा महाराज प्रेम से इनसे कुछ प्रश्न करते, तो आरंभ से ही कुशाग्रबुद्धि पंडित जी बड़ा मधुर बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर दिया करते थे। अतः स्वयं नरेश को आरंभ से ही इन पर वात्सल्य होने लगा और महाराज ने शब्दत. यह कहा भी कि 'बालक बहुत होनहार प्रतीत होता है'।

अभी पांच छः वर्ष ही बीते थे और पंडित जी सिद्धान्तकौमुदी अध्ययन कर रहे थे कि दैव ने बाधा उपस्थित की, और आपके पालक पिता पं० राजीवलोचन जी ओझा का स्वर्गवास हो गया। इसके एक या डेढ़ वर्ष बाद ही महाराज रामसिंह जी का भी स्वर्गारोहण हो गया। चरितनायक की अवस्था अभी परिपक्व भी न हो पाई थी कि आश्रय ही टूट गया, किन्तु विद्या का व्यसन लग चुका था। अध्ययन के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही न लगता था। इधर राजीवलोचन जी के न रहने से विद्वानों का वैसा सौकर्य भी नहीं प्राप्त हो रहा था, अतः विद्याप्राप्ति का सुयोग न देखकर इन्हें अपनी पितृव्य-पत्नी के साथ सं० १९३९ में अपनी जन्मभूमि बिहार को प्रस्थान करना पड़ा, किन्तु वहां भी अपनी रुचि के अनुकूल विद्यालाभ इन्हें नहीं हुआ। तब आपने प्रेम से अपने कुटुम्बियों को समझाया और अध्ययनार्थ काशी चले आये। काशी में दरभंगा पाठशाला में जगत्प्रसिद्ध स्वनामधन्य स्वर्गीय म० म० श्री शिवकुमार शास्त्री जी के समीप आप विद्याध्ययन करने लगे; और लगातार आठ नौ वर्ष तक वहाँ ही पढ़ते रहे। अपनी प्रखर प्रतिभा और कठोर परिश्रम के सहारे व्याकरण, न्याय, साहित्य, मीमांसा, वेदान्त आदि के ग्रन्थों का आपने गुरुमुख से न केवल अध्ययन ही कर लिया, प्रत्युत उन पर पूर्ण अधिकार भी प्राप्त कर लिया।

साथ-साथ श्री भगवान् कामेश्वर शंकर की तन्मयतापूर्ण उपासना भी आपकी चल रही थी, जो कि विद्यालाभ में पूर्ण सहायक सिद्ध हुई।

आपका विवाह अलवर के राजगुरु पं० श्री चंचल जी ओझा मन्त्रशास्त्री की कन्या से १७ वर्ष की अवस्था में वि० सं० १९४० में हुआ।

काशी में अध्ययनकाल संपूर्ण कर चरितनायक बूंदी, कोटा, झालरापाटन, रतलाम आदि के नरेशों से मिले और पूर्ण संमानित हुए। अनन्तर तत्कालीन जयपुरनरेश श्री माधवसिंह महाराज के विशेष अनुरोध पर आप जयपुर चले आये। जयपुर में आरंभ में आप महाराजा कालेज में संस्कृत प्रोफेसर के पद पर काम करते रहे, किन्तु आपकी अद्भुत प्रतिभा से आकृष्ट होकर महाराज ने आपको आत्मिक परिजनों में स्थान दिया और वि० सं० १९५१ में अपने निजी पुस्तकालय का प्रबन्ध आपके हाथ में दिया एवं धर्मसभा जो कि जयपुर में मौजमन्दिर नाम से ख्यात है उसका आपको सभापति बनाया। स्वयं महाराज प्रायः नित्य आपके साथ कुछ समय शास्त्रीय आलाप किया करते थे, जिसके कारण आपकी प्रतिभा का प्रभाव उत्तरोत्तर उनपर बढ़ता चला गया। पंडित जी शास्त्रनिष्णात होने के साथ-साथ शासननीति में भी पूर्ण प्रवीण थे और समय-समय पर नैतिक विषयों पर भी गंभीर

आलोचन राजा के साथ किया करते थे। थोड़े शब्दों में यही कहा जा सकता है कि वे महाराज के अत्यन्त कृपापात्रों में थे और सामन्तों के समान आदर पाते हुए आप महाराज के नवरत्नों में एक गिने जाते थे। पूर्ण प्रतिष्ठापूर्वक आपका जीवन व्यतीत हुआ।

सन् १९०२ में सम्राट् सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के अवसर पर जतपुर नरेश श्री माधवसिंह जी की ऐतिहासिक विलायत यात्रा में पंडित जी भी साथ थे। वहाँ यूरोपियन संस्कृति-विद्वान् आपसे मिलकर अत्यन्त प्रभावित हुए और लन्दन में आपकी कीर्ति फैल गई। आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध विद्वान् मेकडोनैल्ड, कैम्ब्रिजके विद्वद्वर बेंडाल और इंडिया आफिस पुस्तकालयाध्यक्ष टामस पंडित जी से मिलकर इनकी वैज्ञानिक विवेचनाओं पर मुग्ध हो गये और आपका पूर्ण संमान किया। वेदधर्म पर एक प्रभावशाली भाषण वहां आपका हुआ, जिससे सभी विद्वज्जन चकित तथा आश्चर्यान्वित हुए। यह व्याख्यान संस्कृत मासिकपत्र 'संस्कृत रत्नाकर' में कई वर्ष पूर्व छप चुका है। लन्दन के स्थानीय समाचार-पत्र 'दी वेस्टर्न गजट' के २६–७–२ और 'दी सन' २३–७–२ के अंकों में आपकी अत्यन्त प्रशंसा और कैम्ब्रिज में किये गये सत्कार का वर्णन छपा था। सम्राट् के राज्याभिषेक पर आपने कुछ पद्य बनाये और इंग्लिश में अनुवाद सहित छपाकर सम्राट् को समर्पित किये। सम्राट् ने न केवल सादर स्वीकार किया अपितु आपको मैडिल तथा एक लिखित प्रमाणपत्र देकर सम्मानित भी किया। काशी में आपके गुरुवर श्री शिवकुमार शास्त्री जी पाश्चात्यविद्वानों द्वारा और तदनुयायी भारतीयों द्वारा होनेवाले वेद के मनमाने अर्थों से विप्लव होता देख अत्यन्त उद्विग्न थे और उनने आपका प्रतिभाबल और शास्त्र-विचक्षणता देखकर अध्ययन के समय ही आपको वेदों का यथार्थ विवेचन कर वेदविद्या के पुनर्जागरण के लिए प्रेरित किया था। बस, आप गुरुआज्ञा को शिरोधारण कर वेदार्थ परिशीलन में प्रवृत्त हो गये। थोड़े ही समय में आपको ऐसा रस इसमें प्राप्त हुआ कि सब प्रकार के शारीरिक सुखों की उपेक्षा कर, सांसारिक विषयानुराग से पृथक् रहते हुए, यहां तक कि अन्य आवश्यक लौकिक कर्त्तव्यों की ओर भी ध्यान न देते हुए आपने ४० वर्ष से अधिक वैदिकवाङ्मय में अथक परिश्रम किया। और प्रायः हजार वर्ष से विद्वन्मूर्धन्य भी जिन गूढ रहस्यों को न जान पाये थे, उन रहस्यभूत विषयों का आविष्कार कर निधि रूप में भारत को समर्पित किया। आपने प्रायः छोटे-बड़े सवा सौ से अधिक ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनमें ४० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। ग्रन्थों के प्रकाशन का यत्न चल रहा है। इस तरह देश को वैदिक विज्ञान की निधि देकर आप वि. सं. १९९६ भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा को केवल तीन दिन अस्वस्थ रह कर ब्रह्मलीन हो गए। विद्यावाचस्पति जी का विस्तृत जीवनचरित कई संस्कृत और हिन्दी के सामायिक पत्रों में प्रकाशित हो चुका है, और उनके पुत्र श्री पद्युम्न झा जी ने एक पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित कर दिया है। इसलिए यहां उसका विस्तार नहीं किया जाता।

बहुत से विद्वानों को यह जिज्ञासा होती है कि विद्यावाचस्पति जी ने ऐसा कौन नवीन आविष्कार कर दिया कि इतना गौरव दिखाया जा रहा है? उन विद्वानों के परितोषार्थ श्री पंडित जी की विशेषता का यहां दिग्दर्शन कराया जाता है।

अपनी एकमात्र प्रतिभा के आश्रय से वैदिक वाङ्मय का परिशीलन करते हुए आपने अनुभव किया कि पुराणादि अन्य शास्त्रों की अपेक्षा वैदिक वाङ्मय में अब भी भारतीयों की श्रद्धा विशेष जागरित है और विदेशीय विद्वान् भी वेदों का गौरव मानते हैं, किन्तु यह सब नाममात्र है। विदेशीय

विद्वान् केवल प्राचीन इतिहास, किं वा प्राचीन संस्कृति की जानकारी के लिए वेदों का महत्त्व मानते हैं, वेदों में कोई अद्भुत विज्ञान भी निहित है—यह मानने को वे कथमपि तय्यार नहीं। संस्कृत के भारतीय विद्वान् वेदों में श्रद्धा केवल परलोकहिताय रखते हैं। "भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति"—मनु के बताये इस मार्ग को प्राय: सब भूल गये हैं। प्राचीन शैली के अनेक मान्य विद्वान् तो वेद में विज्ञान दिखाने का प्रत्युत विरोध करते हैं, फिर भी वे इसे सर्वविद्यानिधान किस आधार पर कहते हैं—सो भगवान् ही जाने।

कुछ भारतीय विद्वानों ने वेदों में से विज्ञान को ढूँढ़ने की चेष्टा भी की, किन्तु क्रमबद्ध कोई सूत्र वे न पा सके। इसके अनेक कारण हैं। इस युग के विद्वानों ने प्राय: केवल मन्त्रभाग पर ही परिश्रम किया, ब्राह्मण ग्रन्थों की उपेक्षा करते रहे और पुराण, इतिहास पर तो दृक्पात भी नहीं किया। विद्यावाचस्पति जी ने इस ध्रुव सत्य का अनुभव किया कि जब तक ब्राह्मण ग्रन्थ, अन्य वेद के अङ्ग और पुराण तथा इतिहास आदि की समुचित सहायता न ली जाय, तबतक वैदिक गूढ रहस्यों के प्रकट होने की आशा फलवती नहीं हो सकती। इसलिए उनने उन सब शास्त्रों की सहायता से ही वेद का अन्वेषण किया। अन्य वेदान्वेषकों की तरह प्रचलित आर्यसंस्कृति के अङ्गों को भी उनने निर्मूल नहीं कहा। किन्तु प्रत्येक आर्यसंस्कृति के अङ्गों को वेदानुकूल और उपपत्तिसिद्ध माना। दूसरी बात यह है कि आज के उच्छृङ्खल विचार वाले विकासवाद के आश्रय से जो यह मान बैठे हैं कि पुराने युग में विज्ञान का बाल्यकाल्य भारत में कभी रहा होगा, विज्ञान का यौवन तो उस युग में कथमपि संभव नहीं हो सकता, उनकी यह संकुचित विचारधारा भी वेदार्थ के वास्तविक परिशीलन में बाधक हुई। प्रकृत ग्रन्थों के रचयिता की तो दृष्टि है कि 'वैदिक काल' विज्ञान का पूर्ण मध्याह्न काल था। आगे भारत में बहुत से वैज्ञानिक ग्रन्थ सर्वथा विलुप्त ही हो गये—जिनका पता अन्वेषक विद्वान् भी आजतक न लगा सके। यह सब इस ग्रन्थ के ही आरम्भिक प्रकरण में लिखा गया है।

वेद-विद्या के इस आर्ष विज्ञान को क्रमबद्ध समझने के लिये सर्वत: प्रथम 'विज्ञान' शब्द का अर्थ स्पष्ट समझ लेना भी आवश्यक है। इसके अर्थ पर बहुत मतभेद हैं,—श्री भगवद्गीता के वचन[1] का अर्थ करते हुए जगद्गुरु श्री शंकराचार्य—'स्वानुभवसंयुक्तम्' कह कर अपने अनुभवयुक्त ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। [2]अमरकोषकार शिल्प और मोक्षातिरिक्त शास्त्र को विज्ञान शब्द से ले रहे हैं। आधुनिक विद्वान् अंग्रेजी भाषा के 'साइन्स' शब्द के अनुवाद रूप से विज्ञान शब्द का प्रयोग करते हैं। तब क्या विज्ञान शब्द के अनेक अर्थ हैं? अथवा कोई ऐसी परिभाषा है जो सब अर्थों में समानरूप से विद्यमान रहती है?

इस विषय में श्री विद्यावाचस्पति जी अपना यह निर्णय देते हैं—"दृष्टि के सामने आने वाले विभिन्न पदार्थों में समान रूप से मूलत: वर्तमान रहने वाले किसी एक तत्त्व का अनुभव ज्ञान कहलाता है।" और "मूल में एक स्थायी नित्य तत्त्व मान कर—उसकी ही अनन्त पदार्थों के रूप में परिणति का वर्णन 'विज्ञान' कहलाता है"। इस तरह विज्ञान शब्द के आरंभ के 'वि' इस उपसर्ग का अर्थ 'विशिष्ट' करें, चाहे 'विविध' अथवा 'विभिन्न' कोई असुविधा नहीं पड़ती। इसका भी विवेचन हम अन्यत्र कई

---

[1] "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत:". (अध्याय ७)

[2] "मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयो:" (प्रथमकाण्ड धी वर्ग)

स्थानों में सप्रमाण कर चुके हैं—इसलिए यहाँ इसका विस्तार नहीं करेंगे। अस्तु। यह वैज्ञानिक प्रक्रिया वेद में सविस्तार पूर्णरूप से निहित है। इसका विवरण वाचस्पति जी ने इस ग्रन्थ में और अन्य ग्रन्थों में भी किया है और उसे वर्तमान निरूपणशैली से मिलाया है।

इस ग्रन्थ में उनका निरूपण मुख्य रूप से यह है कि संपूर्ण दृश्य जगत् का मूलतत्त्व एक है और वह ज्ञानकर्म भेदात्मक है जिसे यहां 'रस' और 'बल' नाम से कहा गया है। संसार में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में जीवों का निर्वचन 'जानन्ति, चेष्टन्ते च' किया जाता है, अर्थात् अनुभवसहित चेष्टा (क्रिया) करने वाले को जीव, अथवा प्राणी कहा जाता है। प्राणियों में विद्यमान यह प्राण किंवा जीव इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता। ज्ञान-चेष्टाओं से इसका अनुमान ही किया जाता है। जिसकी ज्ञान-चेष्टा नष्ट हो गई है, अथवा जन्म से ही जिसमें ज्ञान-चेष्टा प्रकट नहीं हो पाती है—व्यवहार में उसे 'शव' 'मुर्दा' वा 'जड़' कहा जाता है। अहित का परित्याग और हित का संग्रहरूप जो कर्म है—वही चेष्टा है। तात्पर्य यह कि ज्ञान और कर्म ही प्राणिमात्र के जीवन—लक्षण हैं, तब ज्ञानकर्ममय इस जीव का उत्पत्तिस्थान भी ज्ञानकर्ममय ही होगा—यह अनुमान सहज ही हो जायगा। क्योंकि कारण में विद्यमान गुणों से ही कार्यगुणों का आरंभ हुआ करता है, अतः कार्य कारण में सरूपता अनिवार्य है।

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि चेतन मनुष्य, पशु, पक्षि, कीट, पतंग आदि को, किंवा अन्तश्चेतन वृक्ष, लता, गुल्म आदि को ज्ञानकर्ममय मान भी लिया जाय, किन्तु सर्वथा अचेतन पृथ्वी आदि पदार्थ जो जड़ माने जाते हैं, वे सब तो ज्ञानकर्ममय नहीं देखे जाते। तब वे किससे उत्पन्न होते हैं ? क्या चेतन तथा अन्तश्चेतन पदार्थों के मूल कारण से अतिरिक्त उनका कोई अन्य मूल कारण है ?

यह आशंका निर्मूल है—क्योंकि चेतन वा अन्तश्चेतनों का जो मूल कारण है—वही इनका भी मूल है। प्रथम तो यह नियम नहीं कि मूल कारण में वर्तमान सभी गुण कार्य में अविकल रूप से विकसित हो जायँ, वैसा होने पर तो कार्य और कारण एक ही हो जायँगे। देखा भी जाता है कि माता, पिता के सब गुण पुत्र अथवा पुत्री में नहीं आ जाते, अपितु थोड़े थोड़े अवश्य आते हैं। अचेतन कहे जानेवाले पृथ्वी आदि पदार्थों में यद्यपि ज्ञान प्रस्फुटित नहीं हो पाता, किन्तु उत्पत्ति, स्थिति, परिणाम, वृद्धि, क्षय और नाश ये छः भावविकार जो निरुक्त आदि में माने गये हैं, उनमें भी हैं। अर्थात् संसार में पहिले पदार्थ की उत्पत्ति होती है, फिर वह अपने स्वरूप में स्थित होता है, तब उसमें परिणाम होने लगता है, वह बढ़ता है। फिर क्षीण होने लगता है, अन्त में नष्ट हो जाता है। ये छः अवस्थाएँ प्रत्येक पदार्थ की हुआ करती हैं। कौन गंभीर विचारक यह कह सकता है कि पृथ्वी आदि की ये अवस्थाएँ नहीं होतीं और ये उत्पत्ति आदि अवस्था कर्म के ही रूप नहीं हैं ? तब ज्ञानकर्ममय कारण का कर्म अंश तो इनमें भी प्राप्त होता ही है। अच्छा ज्ञान की भी परीक्षा कीजिये। पृथ्वी की अवयवरूप मिट्टी में जल के मिश्रण से थोड़े समय में ही चेतन कृमि, कीट आदि की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है और अन्तश्चेतन वृक्ष, गुल्मादि की उत्पत्ति तो पृथ्वी से ही होती है। यह चैतन्य कहां से आ जाता है ? 'चेतन आत्मा तो पृथक् ही है' यह मानने पर भी यह तो विचारना होगा कि मिट्टी में उस चेतन आत्मा का विकास नहीं हुआ, कृमि होते ही हो गया। यह विलक्षणता कार्य कारण में क्यों है, यह भी तो विचारना होना। इसलिए पृथ्वी आदि पदार्थों को 'अस्फुट चेतन' ही कहा जा सकता है—सर्वथा अचेतन' नहीं। पृथिवी आदि में चैतन्य अस्फुट है, समय पर स्फुट हो जाता है। तब यह एक निश्चित सिद्धान्त स्थिर हुआ कि ज्ञानकर्ममय किसी एक मूल कारण से संपूर्ण सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है।

अब यह प्रश्न रह जाता है कि ज्ञान के विकसित न होने के कारण पूर्ण चेतना पृथ्वी आदि में न होने पर भी अल्प अस्फुट चेतनता तो ज्ञानकर्ममय होने के कारण उनमें भी रहती ही है, फिर उनको अचेतन (जड़) क्यों कहा जाता है, जबकि बीज आदि में वृक्ष आदि की अविकसित सत्ता को सभी दार्शनिक विद्वान् स्वीकार करते हैं ?

इसका समाधान प्राचीन मुनियों ने इस प्रकार किया है—'संसार[1] के पदार्थों में 'चेतन' व 'अचेतन' व्यवहार ज्ञान-कर्म के आधार पर नहीं है अपितु 'सेन्द्रियता' और 'निरिन्द्रियता' इस व्यवहार के मूल हैं। कुछ पदार्थ 'सेन्द्रिय' अर्थात् इन्द्रियों वाले होते हैं, और कुछ इन्द्रिय रहित 'निरिन्द्रिय'। इनमें न्यूनाधिक भाव से सेन्द्रिय मनुष्य पशु, पक्षि आदि, तथा तरु, लता, गुल्म आदि को चेतन किंवा अर्धचेतन कहा जाता है और पृथ्वी आदि जो निरिन्द्रिय हैं उन्हें 'अचेतन'। इन्द्रियाँ ही चैतन्यविकास का कारण हैं। जहां वे नहीं वहां विकास नहीं होता।

[2]महर्षि चरक ने भी चेतन-अचेतन व्यवहार का मूल कारण सेन्द्रियता और निरन्द्रियता को ही माना है।

यह निर्विवाद है कि संपूर्ण प्रजा का कारणभूत, सब का आत्मस्वरूप अतएव परमात्मा नाम से कहे जाने वाला ज्ञानकर्ममय यह एक तत्त्व है। ज्ञान सदा एकरस, स्थिर, शान्त रहता है। इसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। 'कर्म' सर्वथा उससे विपरीत अनेक रूप, अस्थिर, अशान्त, और सदा परिवर्तन-शील होता है।

ज्ञान की एकरसता को पञ्चदशीकार श्री विद्यारण्यस्वामी ने आरम्भ में ही स्पष्ट करके समझाया है। अधिक विवरण की जिज्ञासा वाले अपनी जिज्ञासा को वहीं से शान्त कर सकते हैं। अस्तु विचार करने पर ज्ञान, सत्ता और आनन्द एक ही तत्त्व हैं—ऐसा सिद्ध हो जाता है। इनमें एक के विना दूसरा नहीं रहता। हमारे समक्ष वृक्ष, पशु, मनुष्य, प्रस्तर आदि हैं—इस पर कोई प्रश्न करे कि कैसे ? हम तो कहते हैं कि नहीं हैं, अपने कथन की पुष्टि करो, तो उत्तर यही होगा कि 'ज्ञायते, तस्मादस्ति।' 'देखते हैं, जानते हैं—इसलिए है।' तब सत्ता का आधार ज्ञान सिद्ध हुआ। अच्छा, दूसरी ओर देखिये—हम वृक्षादि को क्यों जानते हैं ? आकाशपुष्प, शशशृङ्ग—आदि को तो नहीं जानते, तब उत्तर होगा कि 'अस्ति तस्माज् ज्ञायते।' वृक्षादि हैं—इसलिये जाने जाते हैं, शशशृङ्गादि नहीं हैं—इसलिये नहीं जाने जाते। तब ज्ञान का आधार सत्ता सिद्ध हुई। यह परस्पराश्रयभाव एकता के विना नहीं उत्पन्न हो सकता। तब ज्ञान और सत्ता की एकता सिद्ध हुई। कई विचारक इसके विरुद्ध भी सिद्ध करते हैं कि ज्ञान और सत्ता एक नहीं हो सकते। संसार में बहुत से पदार्थ केवल सत्ता सिद्ध हैं, वे 'हैं' किन्तु हमारे

---

[1] 'न ह्ययं पदार्थानां चेतनाचेतनत्वव्यपदेशो ज्ञानकर्ममयत्वस्वीकारात्, किन्तु सेन्द्रिय निरिन्द्रियत्व मूलः। केचित सेन्द्रियाः पदार्थाः, अपरे निरिन्द्रियाः। ये न्यूनाधिकभावेन सेन्द्रियास्ते मनुष्यपशु-पक्ष्यादयस्तरुलतागुल्मादयश्च चेतना अर्धचेतना वा व्यपदिश्यन्ते। ये पुनर्निरिन्द्रिया भावाः क्षित्यादयस्ते जडा इत्यचेतना इति च प्रथन्ते।"

[2] तदुक्तं चरके—"खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः ।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥"

ज्ञान में नहीं। घने वन के वृक्ष, पक्षी आदि को हम नहीं जानते, किन्तु उनकी सत्ता में कोई सन्देह नहीं हो सकता। इसी प्रकार दो, चार आदि संख्या, छोटा, बड़ा आदि परिणाम, मन, सेर आदि तोल, दूर, समीप आदि दिग्विभाग—ये सब केवल भातिसिद्ध हैं, अर्थात् इनका ज्ञान होता है, किन्तु बाह्य सत्ता इनकी कुछ भी नहीं। एक ही वस्तु किसी की अपेक्षा छोटी और उसमें भी छोटे की अपेक्षा बड़ी कही जाती है। इसी प्रकार एक वृक्ष आदि को कभी हम दूर कहते हैं। और आगे बढ़ कर उसे ही समीप कह देते हैं। एक स्थान से खड़े हो जिसे पूर्व कहेंगे, उससे भी पूर्व जाकर उसे ही पश्चिम कहने लगेंगे। इससे सिद्ध होता है कि इन सबकी बाह्य सत्ता कुछ नहीं है। ये मन के ही बनाये धर्म हैं। इसलिये सत्तासिद्ध नहीं, केवल ज्ञानसिद्ध हैं। तब ज्ञान और सत्ता एक कहां हुए? किसी की सत्ता है, किन्तु ज्ञान नहीं, और किसी का ज्ञान है, किन्तु सत्ता नहीं। इससे दोनों पृथक् पृथक् हैं—यही कहना होगा। इसका उत्तर है कि किञ्चत् और सूक्ष्म विचार कीजिए। आप कहते हैं कई पदार्थ केवल सत्तासिद्ध हैं, और कई केवल ज्ञानसिद्ध। किन्तु विचार करने पर सत्ता स्वयं ही ज्ञानसिद्ध ठहरेगी। क्योंकि घटपटादि वस्तुओं के अतिरिक्त उनकी सत्ता क्या वस्तु है—यह कोई भी नहीं सिद्ध कर सकता। 'ये हैं' यह हमारा ज्ञान ही है, 'अस्ति' की कोई बाह्य सत्ता कभी सिद्ध नहीं होती। इसीलिये सत्ता को पृथक् सिद्ध करने के लिए खंभ ठोकने वाले नैयायिक भी सत्ता की सत्ता नहीं मानते। 'वह स्वरूप से ही सत् है' यही कह कर संतोष कर लेते हैं। उनके सूत्रकार भगवान् कणाद भी 'सामान्य विशेष इति बुद्धयपेक्षम्' ही कहते हैं। सामान्य अर्थात् सत्ता आदि जातियां और विशेष—उनका विशकलन कर प्रत्येक व्यक्तित्व—यह सब बुद्धि की ही अपेक्षा रखता है, अर्थात् केवल बुद्धिगम्य है, बाह्य सत्ता इसकी नहीं। इस प्रकार स्वयं सत्ता ही केवल ज्ञानसिद्ध है, और ज्ञान स्वयं सत्तासिद्ध है। ज्ञान का ज्ञान नहीं होता। यद्यपि नैयायिकों ने 'घटमहं जानामि' (मैं घट को जानता हूं) इस ज्ञानोत्तरभावी अनुव्यवसाय से ज्ञान का ज्ञान माना है, किन्तु अन्यान्य दर्शनकार इस पर अनवस्थादि दोष देकर इसका खण्डन करते हैं। यह प्रतीति घटज्ञान की ही आत्मभिमुखी प्रतीति होती है। प्रतीति अर्थात् ज्ञान स्वतः दो प्रकार से उदित होती है—'अयं घटः' यह बाह्यभिमुख ज्ञान है और 'घटमहं जानामि' यह अन्तर्मुखी ज्ञान है। दोनों में विषयभूत घट की ही प्रतीति है। ज्ञान का ज्ञान न होना ही वेदान्तादि दर्शन कहते हैं। जैसे नैयायिक सत्ता को स्वरूपसिद्ध कहकर अपना पीछा छुड़ाते हैं—इसी प्रकार वेदान्ती ज्ञान को 'स्वप्रकाश' कहकर इस आपत्ति से बचते हैं। किन्तु ज्ञान सत् अवश्य है। यदि ज्ञान न हो तो सब संसार ही अन्धतामिस्ररूप महानरक बन जाय। सब व्यवहारों का लोप हो जाय। सब व्यवहार ज्ञानमूलक ही तो हैं। तात्पर्य यही है कि सत्ता केवल ज्ञानसिद्ध और ज्ञान केवल सत्तासिद्ध है। यों जब ज्ञान और सत्ता ही एक दूसरे के बिना सिद्ध नहीं होते, तब अस्तिसिद्ध और भातिसिद्ध बाह्य पदार्थों में भेद कहां से सिद्ध होगा? भिन्न पदार्थों में पूर्वापरभाव अवश्य होता है, पहिले कौन और पीछे कौन—यह जिज्ञासा भिन्न पदार्थों में अवश्य होगी। किन्तु सत्ता और ज्ञान का पूर्वापरभाव कहा ही नहीं जा सकता। यदि पहिले ज्ञान, पीछे सत्ता कहें तो प्रश्न होगा कि बिना सत्ता के ज्ञान हुआ ही कैसे? कोई पदार्थ होगा तभी तो हम उसे जानेंगे। और पहिले सत्ता, पीछे ज्ञान कहें तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से सत्ता केवल ज्ञानरूप ही है, वह ज्ञान के बिना कही ही कैसे जा सकती है? इसलिये बिना इन दोनों को एक माने इन प्रश्नों से छुटकारा नहीं हो सकता।[1] इसी प्रकार आनन्द भी इनसे पृथक् सिद्ध नहीं होता। मान लो कि एक मनुष्य को पुत्रजन्म

---

[1] इस विषय का निरूपण ग्रन्थ के द्वितीयाधिकार के (२४ रसवेदाधिकरण) पृ० १२९ में है।

हुआ है, वा उसे विदेश में व्यापार के द्वारा बहुत बड़ी सम्पत्ति मिली है, किन्तु जब तक उस मनुष्य को इन अभ्युदयों का ज्ञान नहीं, तब तक उसे कोई आनन्द नहीं। किसी ने आकर उक्त वृत्तान्त कह दिया, अथवा टेलिग्राम (तारयन्त्र) से सूचना मिल गई तो ज्ञान होते ही आनन्दमग्न हो जाता है। इस आनन्द के उद्भव में ज्ञान कारणसिद्ध हुआ। अच्छा, जब तक आनन्द का अनुभव करते हैं तभी तक आनन्द रहता है, दूसरी ओर ध्यान चला गया, किसी दूसरे काम में लग गये, तो आनन्द की वह अवस्था भी नहीं रहती। इससे आनन्द की स्थिति भी ज्ञान के आधार पर ही सिद्ध होती है और अन्त में भी 'हमने आनन्द पाया' यह अनुभव ही रह जाता है। इसलिये आनन्द ज्ञान में ही लीन भी होता है। यों ज्ञान आनन्द में, आदि, मध्य, अन्त में अनुस्यूत है। पुत्र, सम्पत्ति आदि किसी पदार्थ की सत्ता होने पर ही आनन्द होता है और उस पदार्थ की सत्ता तक ही रहता है। इसलिये सत्ता भी आनन्द में अनुस्यूत है। इसी प्रकार आनन्द भी ज्ञान और सत्ता दोनों में अनुस्यूत है। बिना आनन्द के प्रेम नहीं होता। जहां हमने आनन्द पाया, उसी के साथ प्रेम करते हैं। देखते हैं कि हम सब प्राणियों की सत्ता और ज्ञान दोनों में स्वाभाविक प्रेम है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का संग्रह करने में हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इससे सत्ता का प्रेम सिद्ध होता है और अज्ञात वस्तु को जानने में भी हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। किसी वस्तु का तत्त्व जबतक प्रतीत न हो तबतक चित्त उसे जानने को व्यग्र रहता है, इसलिये ज्ञान में भी स्वाभाविक प्रेम सिद्ध होता है। जब सत्ता और ज्ञान में प्रेम अनुस्यूत है तो कहना होगा कि आनन्द भी दोनों में अनुस्यूत है। यों परस्पर एक दूसरे में अनुस्यूत रहने के कारण तीनों की एकता ही माननी पड़ती है। ये तीनों एक ही मूल के विकसित रूप हैं—यही सिद्ध होता है। जिस मूल के ये विकसित रूप हैं उसे ही इस ग्रन्थ में रस नाम से कहा गया है। यद्यपि उस नामरूपातीत तत्त्व का कोई नाम नहीं हो सकता, किन्तु बिना नाम कल्पना के उसके सम्बन्ध में कुछ कह भी नहीं सकते। इसलिये ज्ञानानन्द होने के कारण और "रसो वै सः" इस श्रुति के आधार पर उसका रस नाम ही व्यवहार में लेना उचित समझा गया। सब संसार केवल क्रियाओं का प्रसार है और सत्ता सब क्रियाओं की जननी है, वह भी मूलतत्त्व में अन्तर्गत है। इसलिये बल भी मूलतत्त्व का सहकारी माना गया। बल, शक्ति और क्रिया—एक ही तत्त्व की अवस्थाएं हैं। जबतक प्रसुप्तदशा में रहे तब तक उसे बल कहते हैं, कार्याभिमुख होने पर उसी का नाम शक्ति हो जाता है और उसका कार्य रूप परिणाम क्रिया है। किसी वस्तु को उठा लेने का हमारे हाथ में बल है। वह सदा ही हाथ में है। जब किसी पदार्थ को उठाने की इच्छा हो तो हम अनुभव करते हैं कि इसे उठा लेने की शक्ति हम में है। उसी शक्ति के प्रयोग से उठाना रूप क्रिया हो जाती है। क्रिया करने के अनन्तर वह उठी हुई एक शक्ति क्षीण हो जाती है। एक मल्ल एक बार युद्ध करके परिश्रान्त हो जाता है, वह तत्काल फिर युद्धक्रिया नहीं कर सकता। किन्तु अन्तर्निहित बल फिर शक्तिरूप में विकसित होता है और थोड़े समय के अनन्तर वह फिर मल्ललीला करने को प्रस्तुत हो जाता है। शक्ति को ब्रह्म का सहकारी सभी श्रुति, पुराणादि ने माना है। उसके ही माया, प्रकृति, शक्ति आदि नाम अपनी अपनी प्रक्रिया के अनुसार दर्शनों में मिलते हैं। इस ग्रन्थ में उसका मूल नाम बल ही लिया गया है। यही 'रसबलमय' वा ज्ञानकर्ममय' तत्त्व सब जगत् का उत्पादक है। इस प्रक्रिया को प्रकृत ग्रन्थ में और अन्यान्य ग्रन्थों में भी विद्यावाचस्पति जी ने इस रूप में समझाया है कि वह बुद्धिगम्य हो जाय।

जो विद्वान् इस प्रक्रिया के प्राचीन परम्परा सिद्ध न होने का प्रश्न उठाते हैं, उनसे हमारा निवेदन है कि वे एकबार इसका पर्यालोचन करें और देखें कि इसमें नई बात कौन सी है, जिसकी

निर्मूलता की उनके चित्त में शङ्का होती है। विषय सब प्राचीन हैं, केवल प्रतिपादन की प्रक्रिया समयोपयोगी नई है। यही इस ग्रन्थ में (पृ० ३ श्लोक २१) कहा है कि 'जो विषय यहां निरूपित हैं, वे सब प्राचीन हैं, केवल प्रतिपादन की शैली नवीन है और उसमें श्रुति के अतिरिक्त युक्तियों का प्रमाणरूप में उपयोग किया गया है।' प्रतिपादन की शैली में समयभेद से सदा ही भेद होता रहा है, तभी तो श्रुतियों के विद्यमान रहते भी स्मृति, सूत्र, मीमांसा, भाष्य, वार्तिक आदि ग्रन्थों की समयानुसार सृष्टि होकर संस्कृत वाङ्मय का इतना विस्तार हो गया। विषय तो श्रुति से अतिरिक्त किसी भी शिष्ट विद्वान् ने नहीं किया। जनता की योग्यता और रुचि के अनुसार ही नये नये ग्रन्थों की आवश्यकता होती गई। तदनुसार ही वर्तमान युग के मनुष्य जिस प्रक्रिया से समझने में रुचि और योग्यता रखते हैं उसी प्रक्रिया से विद्यावाचस्पति जी ने ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

स्वर्गीय धर्मप्राण जयपुर नरेश महाराज माधवसिंह जी की सन् १६०१ में सम्राट् सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के समय ऐतिहासिक इङ्गलैण्ड यात्रा हुई थी, जिसमें गङ्गाजल और भारत की मृत्तिका तक भी स्वर्गीय महाराज अपने सपरि कर्मनिर्वाह के लिये अपने साथ लिये थे। उस यात्रा में विद्यावाचस्पति जी भी महाराज के साथ थे। वहां जब केम्ब्रिज और आक्सफोर्ड में आपने वेदधर्मविषयक अपनी वक्तृता संस्कृत में प्रस्तुत की, तो वहां के यूरोपियन अन्वेषक विद्वान् भी कहने लगे कि 'बिल्कुल नई बातें हैं।' यह सुनकर आपने उस वक्तृता का शीर्षक रक्खा था—'अतिनूनम्, नहि नहि अति प्रत्नं रहस्यम्।' अर्थात् 'बहुत ही नया, नहीं नहीं बहुत ही पुराना रहस्य, मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ।' कोई आपसे कभी कह देता कि आप नई बात कह रहे हैं, तो आप बहुत अप्रसन्न हो जाते थे। काशी की विद्वत्सभा ने, जब विक्रम सम्वत् १९९२ में हिन्दू विश्वविद्यालय की पञ्चमहाभूतपरिषत् में पधारे हुए थे, विद्यावाचस्पति जी को मानमन्दिर में स्वर्गीय म० म० प्रमथनाथ भट्टाचार्य जी के सभापतित्व में मानपत्र अर्पित किया था। उस अवसर पर विद्वत्प्रवर स्वर्गीय श्री हरानचन्द्र भट्टाचार्य जी महोदय ने अपनी वक्तृता में यह कह दिया था कि 'जिस प्रकार शङ्कर, रामानुज आदि अन्यान्य सम्प्रदाय हैं, उसी प्रकार पण्डित जी भी एक सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं,' इस पर आप इतने अप्रसन्न हुए कि मानपत्र दूर फेंक कर सभा से उठ गए। सभापति महोदय ने बड़े परिश्रम से अनुनय-विनय कर किसी प्रकार आपको शान्त किया। तात्पर्य यह कि विद्यावाचस्पति जी यह कभी नहीं सुनना चाहते थे कि हम कोई नया सम्प्रदाय चला रहे हैं। उनका तो केवल यही लक्ष्य था कि वेदार्थ की परिपाटी जो कालवश विद्वानों को विस्मृत हो गई है, उसकी ओर पुनः विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया जाय। इसीलिये आपने मन्त्रों, ब्राह्मणों वा उपनिषदों पर कोई नया भाष्य नहीं लिखा। आपने तो इस ग्रन्थ के आरम्भ में यही लिखा है कि जैसे प्रत्येक शास्त्र में एक नियत परिभाषा रहती है—उसके बिना जाने उस शास्त्र का मर्म कोई नहीं समझ सकता, इसी प्रकार वेदादि जानने की भी कुछ परिभाषाएँ हैं। वे आज कालवश विस्मृत हो गई हैं, इसी से वेदार्थ में अनेक विवाद-प्रसङ्ग उठ रहे हैं। उन परिभाषाओं का ही स्फुटीकरण आपने अपने ग्रन्थों में किया है। उन परिभाषाओं के समझ लेने पर उपलभ्यमान वेद भाष्य से ही सब कुछ मिल सकता है, नये भाष्य की आवश्यकता नहीं।

अब यदि यह प्रश्न हो कि जो परिभाषाएं विलुप्त हो चुकी थीं, वे इनको कैसे प्राप्त हुई, तो इसका भी संक्षेप में यहां वर्णन किया जाता है। वेदों में यज्ञ की प्रधानता है। यजुर्वेदसंहिता यज्ञक्रम से ही संग्रथित हमें प्राप्त है, अर्थात् शुक्लयजुःसंहिता के २० अध्यायों के मन्त्रों का पाठ उसी क्रम से है जिस

क्रम से उनका यज्ञ में उच्चारण होता है। कृष्णयजुःसंहिता में मन्त्र और ब्राह्मण समिश्रित रहने के कारण मन्त्रों का क्रम विस्पष्ट प्राप्त नहीं होता, किन्तु शुक्लयजुःसंहिता में क्रम स्पष्ट है। ब्राह्मण तो प्रायः सभी वेदों के यज्ञप्रक्रिया के अनुसार ही संघटित हैं। शतपथब्राह्मण में यह क्रम स्पष्ट मिलता है कि पहिले यज्ञ के किसी क्रम का विधि वाक्य है, आगे उसकी उपपत्ति का निरूपण है कि यह कर्म क्यों किया जाय। उसी उपपत्तिप्रदर्शन में कई जगह आख्यायिकाएं और सृष्टिप्रकरण भी आ जाते हैं। उन सब का पर्यवसान उस विधि के उपपादन में ही होता है। अन्यान्य ब्राह्मणों में भी ऐसा ही है, किन्तु शतपथ में अतिस्पष्ट है। उन उपपत्तिभागों पर विचार करने से यह भासित होता है कि यज्ञ दो प्रकार के हैं। एक प्राकृत, दूसरे क्रियमाण अर्थात् द्विज मनुष्यों द्वारा अनुष्ठेय। प्रकृति स्वयं एक प्रकार का यज्ञ करती है। उसी यज्ञ से संपूर्ण प्रजा की उत्पत्ति और उसका पालन होता है। भगवद्गीता के तृतीयाध्याय में भगवान् का यह स्पष्ट उपदेश है कि प्रजापति ने प्रजा को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया और यह उपदेश दिया कि तुम भी यज्ञ से ही प्रजा को आगे बढ़ाते रहना। उस प्राकृत यज्ञ के आधार पर ही मनुष्यों को यज्ञ का उपदेश श्रुति ने दिया है और इस अनुष्ठेय यज्ञ की उपपत्ति के लिए प्राकृत यज्ञ के ही विषय बताये जाते हैं जिनसे कि प्रजा की उत्पत्ति और पालन होता है। मीमांसा दर्शन में विधिभाग को ही मुख्य माना गया और उस उपपत्तिभाग को अर्थवाद कहकर उसकी उपेक्षा की गई। वह समय इसी प्रकार का था कि श्रुतिवाक्यों पर जनता की अटूट श्रद्धा थी। जो कुछ श्रुति ने उपदेश दिया उस कर्म को विना 'ननु नच' के सब लोग करने को प्रस्तुत रहते थे। 'ऐसा क्यों करें' यह प्रश्न उठाना ही एक प्रकार का अपराध माना जाता था। अतः ऐसा प्रश्न उस समय में उठता ही न था। इसलिए आलंकारिक श्रुति को प्रभुसंमित उपदेश मानते हैं, जैसे प्रभु की आज्ञा में सेवक को 'क्यों करूँ' ऐसा प्रश्न करने का अधिकार नहीं है—यह माना गया। वस्तुतः बात ऐसी नहीं हैं, श्रुति तो 'किमर्थं वा अप उप स्पृशामि' (यजमान आरम्भ में ही आचमन क्यों करे) ऐसे प्रश्न स्वयं उठाती है। अस्तु उस अवसर में दोनों बातें थीं, एक तो वेदानुयायी जनता के मन में प्रश्न ही नहीं उठता था और दूसरे वह उपपत्तिज्ञान दार्शनिक सम्बन्ध होने के कारण कठिन भी था। बौद्ध आदि विधर्मियों के आक्रमण से गुरुपरम्परा शिथिल हो चुकी थी। तब उपपत्तिभाग के अध्ययन में असुविधा देख मीमांसकों ने विधिभाग और यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों की ही रक्षा को आवश्यक समझा और उपपत्तिभाग को अर्थवाद कहकर उपेक्षित कर दिया। इससे उपपत्तिभाग और भी अधिक विस्मृत होता गया। अब समय ने पलटा खाया। आज बिना उपपत्ति के दृढ़ श्रद्धा बहुत अल्प मनुष्यों को होती है। अधिकतर जनता 'क्यों करें' यह क्यों का प्रश्न पहिले उठाती है और विना उपपत्तिज्ञान के प्रायः मुख्य कर्म भी विलुप्त होते जा रहे हैं। बस, स्वनामधन्य अपने गुरु महामहोपाध्याय श्री शिवकुमार शास्त्री जी ने जब विद्यावाचस्पति की सर्वतोमुखी प्रतिभा देख इन्हें उपदेश दिया कि वेदार्थ का सत्य मार्ग प्रकाशित करना और अपने मुख से शतपथब्राह्मण की एक कण्डिका पढ़ाकर आशीर्वाद भी दिया कि अब हमारे मुख से आरम्भ कर तुम्हारा वेदाध्ययन साम्प्रदायिक हो गया, तुममें ईश्वर कृपा से वेदार्थ का भाव होगा, तब इनने देखा कि उपपत्ति तो वेद में प्रतिपद भरी है, फिर जनता इस पर अश्रद्धा क्यों कर रही हे। यों मीमांसा द्वारा उपेक्षित अर्थवाद भाग पर ही इनने लगातार परिश्रम किया और उसी परिश्रम से इन्हें वेद की परिभाषायें प्राप्त हुयीं। ज्यों ज्यों परिभाषाओं का ज्ञान होता गया, त्यों त्यों इनकी रुचि बढ़ती गई। लौकिक सब व्यवहार और वैषयिक सुखों का त्यागकर ये उसी अन्वेषण में एकान्त निरत हो गए। यह परिश्रम प्रायः ४० वर्ष अनवच्छिन्न चला।

दर्शनों का ज्ञान गुरुमुख से ही प्राप्त था। ईश्वरदत्त प्रतिभा प्रबल थी। सबसे मुख्य बात ईश्वरप्रसाद था, इन्हें परिभाषाज्ञान हुआ। वे परिभाषाएं ही इनने अपने ग्रन्थों में लिखीं। कहने का सारांश यह है कि उनने निर्मूल कुछ भी नहीं लिखा है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद से ही जो भासित हुआ, उसे प्रकाशित किया है।

साम्प्रदायिक आचार्यों के सिद्धान्त से न विद्यावाचस्पति जी का विद्वेष है, न किसी एक आचार्य के सिद्धान्त से ये बद्ध हैं। आचार्यों के जो सिद्धान्त इन्हें वेद में भासित हुए, उनका संग्रह किया। जिन अंशों में वैदिक प्रमाण प्राप्त न हुए उनका परित्याग किया। जैसे, सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान परब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष है। उसकी सहकारिणी माया भी अनादि है, किन्तु वह स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती, भेदाभेद रूप से वा सत्त्व, असत्त्व रूप से अनिर्वचनीय है। मायाशबलित ब्रह्म ही जगत् का उत्पादक है, वही ज्ञेय भी हो सकता है, शुद्ध ब्रह्म मन वा वाक् का विषय नहीं होता, ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप है। ये धर्म भी उससे पृथक् नहीं—इत्यादि श्री शङ्कराचार्य के सिद्धान्त इनके ग्रन्थों में दृढ़ युक्तियों से समर्थित होकर आए हैं। श्री शङ्कराचार्य ने केवल मूलतत्त्व के निरूपण को ही अपने ग्रन्थों में प्रधानता दी है। एक ही निर्विशेषतत्त्व से यह सम्पूर्ण जगत् कैसे बन गया—इसकी प्रक्रिया के प्रतिपादन पर उनने बहुत अल्प ध्यान दिया है। अवान्तर तत्त्व प्राणादि के निरूपण पर भी उनका बहुत अल्प ध्यान है। प्राण के प्रकरण में उनने कह भी दिया है कि मूलतत्त्व के सम्बन्ध में उपनिषदों का एक ही सिद्धान्त है—यही हमारा प्रतिपाद्य है। इसीसे मोक्षप्राप्ति श्रुति मानती है, अवान्तर प्रक्रिया में मतभेद भी हों तो इससे कुछ बनता विगड़ता नहीं—इत्यादि। किन्तु विद्यावाचस्पति जी ने सृष्टि की अवान्तर प्रक्रिया में भी श्रुति आदि का समन्वय विस्तार से बताया है। यही इनके ग्रन्थ में विशेषता हुई। वर्तमान विद्वान् और जनता केवल मोक्ष लोलुप नहीं होते। वे विना अवान्तरसंगति के मूलतत्त्व पर भी विश्वास नहीं करते। मूलतत्त्वनिरूपण को भी वे उपपत्ति से ही समझना चाहते हैं। इसलिये इनका निरूपण समयोपयोगी है। इसके अतिरिक्त 'जगत् उत्पन्न ही नहीं होता, केवल उसकी भ्रांति जीवों को हो रही है', इस श्री गौडपादाचार्य के उद्भावित और श्री शङ्कराचार्य द्वारा पल्लवित 'अजातवाद' को विद्यावाचस्पति जी ने अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया। मिथ्या शब्द का एक दूसरा ही अर्थ किया, अजातवाद या भ्रमवाद को नहीं माना। इसी प्रकार सृष्टि का उपादान होता हुआ भी ब्रह्म स्वयं अविकृत ही रहता है—इस श्री बल्लभाचार्य का 'अविकृत परिणामवाद' विद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। विकारों में ब्रह्म की ही सत्ता अनुस्यूत है, विकारों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं—यह भी इनके ग्रन्थों में प्रतिपादित है। सत्ता एक होने के कारण ही अद्वैत है—इस विषय को अनेक दृष्टान्तों से इस ग्रन्थ में ही समझाया गया है (देखें निर्विकाराधिकरण, पृ० ७२ आदि में), किन्तु शक्ति भी ब्रह्म से प्रादुर्भूत है—इत्यादि शुद्धाद्वैत के सिद्धान्त को श्रुति में प्राप्त न होने से इनने नहीं माना। आगमशास्त्र में अपने स्वरूप से अपनी शक्ति को परम शिव पृथक् करते हैं—यह प्रक्रिया मिलती है। सम्भवत: वहीं से श्री बल्लभाचार्य जी ने ली है। उपनिषदों में इस प्रकार का विवरण प्राप्त नहीं—इससे विद्यावाचस्पति जी ने इस अंश को नहीं लिया। सृष्टि के उत्पादन में बल शब्द से प्रतिपादित प्रकृति की ही प्रधानता है, किन्तु वह प्रकृति स्वतन्त्र नहीं, रसपदवाच्य ब्रह्म से ही रस प्राप्त करती है। अत: उसके अधीन है—यह इन ग्रन्थों का निरूपण श्री रामानुजाचार्य के सिद्धान्त से मेल रखता है, किन्तु मूलतत्त्वरूप ब्रह्म में स्वत: अप्राप्त अनन्त कल्याण गुण हैं, वा मूल तत्त्व स्वयं त्रिरूप है—यह सिद्धान्त यहां नहीं माना गया।

रस और बल में भेद अभेद दोनों हैं—यह सिद्धान्त इस ग्रन्थ के वैधर्म्याधिकरण (पृ० २३) में प्रतिपादित है—जो कि श्री निम्बार्काचार्य और श्री भास्कराचार्य के सिद्धान्त से मिलता सा प्रतीत होता है—किन्तु भेद, अभेद दोनों को उच्छृङ्खल न मानकर अनिर्वचनीयता में ही इनने पर्यवसान माना है। इसी प्रकार संसारावस्था में जीव, जड़ आदि सब अपने अपने तन्त्र का स्वतन्त्रता से परिचालन करते हैं—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन श्री मध्वाचार्य के द्वैतवाद से मिलता सा प्रतीत होता है, किन्तु मूल परिस्थिति में ये द्वैत का स्पर्श भी सहन नहीं करते। अचिन्त्यभेदाभेदभाव भी अनिर्वचनीयता के रूप में इन ग्रन्थों में मिलता है। इस प्रकार सभी आचार्यों के सिद्धान्तों से स्वल्प वा अधिक अंशों में इसके निरूपण की प्रक्रिया मिलती है, किन्तु पूर्णतया अनुगमन किसी भी एक आचार्य का यहां नहीं है। पूर्ण अनुगमन तो मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का ही है। अस्तु।

इसी प्रकार प्रसिद्ध भिन्न भिन्न दर्शनों से स्वल्प वा बहुत अंश भी प्रकृत ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। आरम्भ के विप्रतिपत्त्याधिकरण (पृ० २१) से ही बौद्धमत का प्रसङ्ग और उसकी आलोचना आरम्भ हो जाती है। आगे भी कई बार क्रियाद्वयवादी के रूप में मतभेदाधिकरण (पृ० १४४) आदि में बौद्धमत का प्रसङ्ग और उसका वैदिक सिद्धान्तानुसार निराकरण आया है। अल्परूप से जैनमत की भी चर्चा है। वैशेषिक सिद्धान्तानुसार क्रियोपपत्ति का तो (पृ० १८०) विस्तार से निरूपण है। वैशेषिक दर्शन का पञ्चम अध्याय सम्पूर्ण यहां उद्धृत हुआ है। सांख्यदर्शन भी प्रकृत्यधिकरण आदि में (पृ० १५२) और मतभेदाधिकरण (पृ० १४४) आदि में विस्तार से वर्णित है। बल निरूपण में उसका आधार बहुत लिया गया है। 'सांख्याभास' नाम से एक स्वतन्त्र प्रकरण भी तृतीय अधिकार के अन्त में दिया गया है। किन्तु वेदविरुद्ध केवल प्रकृतिकारणवाद का सर्वत्र खण्डन है। वेदान्तदर्शन तो उनके सिद्धान्त की मूल भित्ति ही है। आरम्भ की षड्दर्शनी समालोचना में ही स्पष्ट लिखा गया है कि व्याससूत्र और भगवद्गीता तो स्पष्ट 'विज्ञान' हैं—इन्हें केवल अपनी कल्पनाओं पर आधारित दर्शनों की श्रेणियां नहीं गिनना चाहिये। इत्यादि। पूर्ण निर्दिष्ट मतभेदाधिकरण में भी अन्तिम सिद्धान्त यही किया है कि 'हमारे विचार से तो व्याससिद्धान्त ही सर्वथा श्रुतिमूलक और सम्यक् सिद्धान्त है' इत्यादि। इस प्रकार इस ग्रन्थ से ही सब दर्शनों के सिद्धान्तों का आभास मिल जाता है। अन्यान्य ग्रन्थों में भी दर्शनों के मत और उनकी आलोचना विवृत है।

सत्य तो यह है कि 'एक ही ब्रह्म से सम्पूर्ण प्रपञ्च का उद्भव है' इस सिद्धान्त को श्रुति पर श्रद्धा होने के कारण ही विद्वान् मानते आये हैं। किन्तु विद्यावाचस्पति जी का यह ग्रन्थ (अन्यान्य ग्रन्थ भी) मननपूर्वक पढ़ लेने पर 'ब्रह्म से कैसे जगत् का उद्भव हो गया' यह सिद्धान्त उपपत्तिसिद्ध और बुद्धिगम्य प्रतीत होने लगता है। विचारक की बुद्धि स्वयं मानने लगती है कि जगत् की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई होगी। श्रुति के सिद्धान्त केवल आज्ञासिद्ध ही नहीं, वे मनन करने से बुद्धि में स्वयं भासित होने लगते हैं। 'ब्रह्म अपनी शक्ति से जगत् का उत्पादन करता है' यह सिद्धान्त श्रुति, पुराण, आगम आदि में सर्वत्र ही सुन लिया जाता है, किन्तु वह शक्ति कैसी है, कैसे उससे जगदुत्पादन होता है—ये बातें इन ग्रंथों का मनन करने पर ही बुद्धि में बैठती है। भगवद्गीता में क्षर, अक्षर और अव्यय (उत्तम) पुरुषों का नाम सुना जाता है, संक्षिप्त परिचय भी मिलता है। इसी प्रकार सांख्य में महान् अहंकार इत्यादि नामों का पारायण सभी कर लेते हैं। किन्तु इन पुरुष और प्रकृतियों का क्या स्वरूप है और इनसे कैसे जगत् बनता है—इन बातों का आभास इन ग्रंथों से ही बुद्धिगम्य होता है। प्रकृत ग्रन्थ में

तीनों पुरुषों का और उनकी ५–५ कलाओं का विवरण कर प्रथमाधिकार में जैसे उनका स्वरूप विस्पष्ट समझाया है, इसी प्रकार द्वितीय और तृतीय अधिकारों में महदादि प्रकृतियों का स्पष्टीकरण है। रस और बल का या पुरुष और प्रकृति का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार होता है—यह भी लौकिक दृष्टान्त से बुद्धिगत कराने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। बल का निरूपण जैसा इस ग्रन्थ में है ऐसा अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होता। बल किस प्रक्रिया से शक्तिरूपता को प्राप्त होता है और शक्ति क्रियारूप में कैसे परिणत होती है एवं क्रिया क्षणिक और अत्यल्पदेशवर्तिनी होने पर भी इसके आश्रय से प्रवाहरूप होकर चिरस्थायिनी और सर्वप्रदेशव्यापिनी कैसे बन जाती है—इत्यादि विषयों का विवरण विस्पष्ट रूप से इस ग्रन्थ में मिलता है। प्रवाहरूप होने पर एक बल पर दूसरा बल आरूढ़ हो जाता है—इससे बलों की ग्रन्थि हो जाती है, यही ग्रन्थि रस के स्वरूप को आवृत्त कर लेती है और इन ग्रन्थियों से ही स्थूल होकर यह दृश्य जगद् बन जाता है—यह प्रक्रिया इस ग्रन्थ में निरूपित है। वेदों से ही भगवान् सृष्टि करते हैं—यह जो श्रुति, स्मृति आदि में वर्णन आता है, वे वेद कौन से हैं—इन वैज्ञानिक अपौरुषेय वेदों का निरूपण भी इसमें इतने स्पष्ट रूप से किया गया है कि उसे समझ लेने पर इस विषय में कोई शङ्का नहीं रहती। आज का बीसवीं शताब्दी का भास्वर विज्ञान भी जिन ग्रन्थियों को अभी तक ठीक ढंग से नहीं सुलझा सका, जिन बातों में पाश्चात्य वैज्ञानिक भी अभी तक चक्कर में पड़े हैं, वे इन ग्रन्थों में सुगमता से सुलझाई गई हैं। जिन प्राचीन शैली के विद्वानों को यह संदेह वा संभावना है कि विद्यावाचस्पति जी ने आधुनिक विज्ञान के आधार पर ही अपने ग्रन्थ रच डाले हैं और वेद में यत्र कुत्र उपलब्ध प्रकीर्ण वचनों से उनका समर्थन कर दिया है, वे यदि उनके ग्रन्थों का परिभाषाज्ञानपूर्वक परिश्रम से मनन करें तो उनकी दृष्टि स्वच्छ हो जाय, वे देखने लगें कि आधुनिक विज्ञान जहां तक पहुंचा है, उससे बहुत दूर आगे तक का निरूपण इनके ग्रन्थों में है जहां तक का स्वप्न भी अभी आधुनिक विज्ञान ने नहीं देख पाया है। और जो कुछ विद्यावाचस्पति जी ने कहा है उसका आधार मुख्यतः श्रुति और तदनुगामिनी स्मृति एवं सूत्र है। श्रुति-स्मृति-सूत्रादि के विरुद्ध इन्होंने कुछ नहीं कहा। जिन शब्दों का अर्थ वर्तमान में भुला दिया गया है, उनके उस प्राचीन अर्थ का विवरण भी श्रुति, स्मृति के आधार पर ही है। यदि विद्वान् महानुभाव आग्रह, रागद्वेष और पक्षपात को हटाकर इस मार्ग का प्रचार करें तो आज के युग में भी भारत का मस्तक संसार में ऊँचा हो सकता है और वेदों का यथार्थ गौरव संसार में प्रख्यापित हो सकता है। एवं जिन गुत्थियों को आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं सुलझा सका, उनके सुलझाने में उसे भी बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि इस प्रकार का भौतिक विज्ञान वेद में है ही नहीं, उनसे हमारा इतना ही निवेदन है कि—

'भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति।'

इत्यादि मन्वादि की उक्तियों पर क्या आप हरिताल ही लगावेंगे? और ऐसा करने पर वेदों की श्रद्धा अभिव्यक्त होगी या विद्वेष? यह आप ही विचारिये।

कुछ विद्वान् महानुभाव इसका उत्तर यों देते हैं कि—प्रत्यक्ष या अनुमान से जो बातें जानी जा सकती हैं उनके प्रतिपादन से वेदों का गौरव नहीं, उनका गौरव सर्वथा परोक्ष परलोकादि के प्रतिपादन में ही है—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता' इत्यादि ।

उनसे भी हम सविनय कहेंगे कि एक बार आप विद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थों का अवलोकन कीजिये उनमें प्रत्यक्षानुमानगम्य विषयों का निरूपण कहाँ है ? वे भी तो यही कहते हैं कि ये सिद्धान्त प्रत्यक्ष वा अनुमान से जाने ही नहीं जा सकते। सूक्ष्मतत्त्वों के विज्ञानार्थ जो परिभाषाएँ ग्रहण की गई — उनसे यदि लौकिक विषय भी क्वचित् सिद्ध हो जाते हैं तो इससे क्या दोष हुआ ? लोक को छोड़ कर तो परलोक वा परमात्मा का ज्ञान हो ही नहीं सकता—यह तो सब शास्त्रों का डिण्डिम घोष है। प्राचीन आचार्य भी तो लौकिक दृष्टान्त से ही अलौकिक तत्त्वों का हृदयंगम कराते हैं। ऐसे आक्षेप केवल उन्हीं महानुभावों के हैं जिन्होंने न तो वेद का परिशीलन किया और न विद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थ देखे। केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर कल्पना के किले बनाने का ही जिनका स्वभाव है। वस्तुतः देखकर ग्राह्य वा त्याज्य का निर्णय करना ही विद्वानों को उचित है।

कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि विद्यावाचस्पति जी ने अपनी बुद्धि की कल्पनाओं से अधिक काम लिया है। उनका उत्तर इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही दिया गया है कि वैदिक वाङ्मय के बहुत ग्रन्थ विलुप्त हो गये। जो मिलते हैं वे भी वैज्ञानिक क्रम से संगठित नहीं जैसा कि हम पूर्व कह चुके हैं। तब प्रकीर्ण रूप से प्राप्त भिन्न-भिन्न स्थानों के सिद्धान्तों की शृङ्खला जोड़ने में तो बुद्धि से ही काम लेना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कोई मार्ग हो ही नहीं सकता। हाँ, निर्मूल कल्पना इनके ग्रन्थों में कोई नहीं।

बहुत से निष्पक्ष विद्वानों को भी यह आपत्ति थी कि नये मार्ग से प्रतिपादन होने के कारण और अधिकांश पद्यबद्ध होने के कारण ये ग्रन्थ समझ में नहीं आते। उनके परितोषार्थ मैंने इस ग्रन्थ पर विस्तृत व्याख्या लिख दी है। उसमें इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों को प्राचीन आचार्यों के साथ समन्वित करने का भी अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार पूर्ण प्रयत्न किया है। यदि इससे जिज्ञासु जन लाभ उठाकर इस मार्ग की ओर झुकेंगे तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा। अस्तु अब संस्कृत भाषा से अत्यल्प परिचय रखने वाले जिज्ञासु जनों को ग्रन्थ का कुछ आभास बताने के उद्देश्य से ग्रन्थ का अति संक्षिप्त सार हिन्दी भाषा में लिखकर यह भूमिका रूप वक्तव्य समाप्त किया जायगा।

———

ग्रन्थ का सारांश

आरंभ में मंगलाचरण, प्रतिज्ञा और नवीन ग्रन्थ की आवश्यकता का प्रदर्शन करते हुए विषय की गंभीरता बतलाने के लिए यम-नचिकेता संवाद आदि के श्रुतिवाक्य उद्धृत किये गये हैं। आगे चलकर ग्रन्थ की अवतरिणका इस प्रकार की गई है कि यह समस्त दृश्य जगत् जिसके अन्तर्गत हमारा व्यक्तित्व भी समाविष्ट है किस प्रकार उत्पन्न हुआ, इसका मूल तत्त्व क्या है, और जहां जाकर वह समाप्त होता है वह परायण क्या है। यह जिज्ञासा स्वभावतः सब के मन में समय-समय पर समुदित होती है और जिज्ञासा के उत्पन्न होने के अनन्तर उसे शान्त न किया जाय तो वह कष्टप्रद भी किसी समय हो जाया करती है। इसलिए उपर्युक्त जिज्ञासा को शान्त करने के लिए वर्तमान में भारत में छः प्रकार के दर्शनों का उद्योग प्रचलित है। इसी प्रसंग में छः दर्शनों की प्रसिद्धि की भी आलोचना की गई है कि प्रसिद्धि में कुछ भ्रम का समावेश हो गया है। न्याय जो समस्त दर्शनों का पूर्वाङ्ग है और योग जो दर्शनों का उत्तरांग है इन दोनों को भी दर्शनों की क्रमिक श्रेणी में कई विद्वानों ने गिन लिया है। पूर्व मीमांसा जो कि केवल वाक्यार्थ विचार का शास्त्र है उसे भी दर्शनों की श्रेणी में गिन लिया गया है। वस्तुतः छः दर्शनों का क्रम इस प्रकार है—(१) चार्वाक (२) बौद्ध (३) जैन (४) वैशिषिक (५) सांख्य और (६) वेदान्त। इनमें आदि के तीन वेदों को प्रमाण नहीं मानते इसलिए नास्तिक दर्शन कहलाते हैं और आगे के तीन वेद प्रामाण्य के समर्थक होने के कारण आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। इनके अवान्तर भेदों का भी वहाँ संकेत किया गया है। सब मिलाकर २० भेद होते हैं। अन्यान्य ग्रन्थों में विद्यावाचस्पति जी ने ३६ तक भी दर्शनों की संख्या बतलाई है। अस्तु, जिस प्रकार आज कल भारत में ६ दर्शन प्रसिद्ध हैं इस प्रकार बहुत पूर्वकाल में देवयुग में दशवाद प्रसिद्ध थे, अर्थात् जगत् के मूल तत्त्व के सम्बन्ध में दस मत थे, जिनका संकेत ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में किया गया है।

यहाँ संक्षेपतः इस इतिहास का भी संकेत है और ग्रन्थ के अन्त में उपसंहाराधिकरण में इस पर कुछ अधिक प्रकाश डाला गया है कि बहुत पूर्वकाल में 'मणिजा' नाम की एक जाति प्रसिद्ध थी। वर्तमान में आर्य जाति में जिस प्रकार ब्राह्मणादि नामों से चार प्रकार के वर्ण प्रसिद्ध हैं इस प्रकार उस जाति में, साध्य, भास्वर, अनिल और तुषित नाम के चार विभाग थे। साध्यों में एक ब्रह्मा नाम के बड़े तपस्वी और तेजस्वी व्यक्ति प्रादुर्भूत हुए। उन्होंने वैज्ञानिक त्रिलोकी के आधार पर भूमण्डल में भी त्रिलोकी की रचना की। दिव्य स्वर्गलोक के समान भूमण्डल के उत्तर भाग में भी इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि भिन्न-भिन्न देवताओं की पुरियाँ प्रतिष्ठापित कीं, जिनका संकेत पुराणों में बहुधा मिलता है। अस्तु, इस इतिहास का इस ग्रन्थ में संकेत मात्र है। अन्य ग्रन्थ 'जगद्गुरु वैभव', 'स्वर्ग सन्देश', 'इन्द्र विजय' आदि में इस इतिहास का विस्तार से निरूपण है।

यहाँ वक्तव्य इतना ही है कि प्राचीन काल में जगत् के मूल तत्त्व के सम्बन्ध में दस मत प्रचलित थे। वे वाद ये हैं (१) सदसद्वाद (२) रजोवाद (३) व्योमवाद (४) अपरवाद (५) आवरणवाद

(६) अम्भोवाद (७) अमृतमृत्युवाद (८) अहोरात्रवाद (९) दैववाद (१०) संशय तदुच्छेदवाद। देव वर्ग में किन्हीं ने सत् को जगत् का मूल तत्त्व माना था और किन्हीं ने असत् को। कोई रज अर्थात् सूक्ष्म कणों को ही जगत् का मूल तत्त्व कहते थे तो कोई व्योम अर्थात् आकाश को ही मूल तत्त्व मानते थे। इसी प्रकार के दशवाद प्रचलित थे जो कि दशवाद रहस्य नाम के ग्रन्थ में पृथक्-पृथक् संक्षेप में दिखाये गये हैं और एक-एक वाद पर एक-एक ग्रन्थ की रचना विद्यावाचस्पति जी ने की है।

पहिले कहा जा चुका है कि इन दसों वादों का ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में संकेत है और ब्राह्मण उपनिषत् आदि में यत्र तत्र इनका विवरण मिलता है। विद्यावाचस्पति जी ने प्रत्येक वाद पर एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है और दशवादरहस्य नाम के ग्रन्थ में सबका संक्षिप्त विवरण दिया है। अस्तु पूर्वोक्त ब्रह्मा ने इन पृथक्-पृथक् वादों का निराकरण कर सबके समन्वय से एक सिद्धान्तवाद प्रतिष्ठापित किया जिसमें जगत का मूल तत्त्व ब्रह्म को माना, और उसकी एक त्रिगुणात्मक शक्ति मानी, किन्तु शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गई। वह अनिर्वचनीय है, न सत् कही जा सकती है न असत्, इसलिए ब्रह्माद्वैतवाद उन्होंने प्रतिष्ठित किया। ब्रह्म निर्विशेष, निर्धर्मक अतएव नामरूप से रहित है, किन्तु बिना नाम के उपदेश आदि कोई व्यवहार बन नहीं सकता, इसलिए भविष्यवृत्ति से उसके कार्य आदि देखकर कोई नाम कल्पित किये जाते हैं। विद्यावाचस्पति जी ने 'रसो वै सः' इस श्रुति के आधार पर उसका रस नाम अपने इस ग्रन्थ में रक्खा है और उसकी शक्ति का बल नाम रक्खा है। बल, शक्ति और क्रिया ये तीनों शब्द अवस्था भेद से एक ही तत्त्व के वाचक हैं। प्रसुप्त अवस्था में उसका नाम बल होता है, कार्योन्मुख होने पर वही शक्ति कहलाने लगती है और कार्य रूप में परिणत होकर वह क्रिया हो जाती है। इन ही दोनों तत्त्वों का विवरण श्रुति और स्मृति के आधार पर इस ग्रन्थ में किया गया है।

प्रथमतः ब्रह्म, रस, बल आदि शब्दों की निरुक्ति बतलाई गई है और मूलतत्त्व में इन शब्दों का प्रयोग कैसे संगत होता है इसकी संगति बताई गई है। जहाँ कोई पदार्थ स्वयं नष्ट न होता हुआ नाना रूप से विकसित हो उसे विकास या बृंहण कहते हैं। जैसे वृक्षलता आदि में फल-पुष्प आदि का उत्पन्न होना बृंहण ही कहा जा सकता है। मूलतत्त्व की यही स्थिति है। वह स्वयं अपने स्वरूप में स्थिर रहता हुआ ही जगत् को उत्पन्न करता है। अतः बृंहण-स्वभाव होने के कारण ब्रह्म नाम से उसका व्यवहार किया जाता है। रस शब्द के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं। आनन्द को भी रस कहते हैं और जल को भी। विकास आनन्द का लक्षण है और पूर्वोक्त रूप से मूलतत्त्व का विकास ही जगत रूप में होता है, इसलिए आनन्द रूप होने से रस शब्द का प्रयोग वहाँ सुसंगत है। जल में जिस प्रकार लहरें उठती हैं और उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार मूलतत्त्व में संसार रूप लहर उठकर उसी में लीन हो जाती है। इस जल के सादृश्य से भी उसे रस कहना युक्ति-युक्त है। वेष्टन करने वाले को बल कहना व्याकरण की प्रक्रिया से सिद्ध है और वह शक्ति मूलतत्त्व को वेष्टित करती है, अर्थात् अपना ही स्वरूप दिखाती हुई उसे प्रच्छन्न रखती है, इसलिए उसका नाम बल युक्ति-युक्त है, इत्यादि। आगे रस और बल दोनों का स्वीकार करना आवश्यक है यह दिखाया गया है।

इसी भूमिका में हम लिख आये हैं कि जगत् में जितने भी पदार्थ हैं उनमें स्थिरता और गति दोनों प्रतीत होती हैं। इसलिए इनका मूल तत्त्व भी ऐसा ही होना चाहिए जिसमें स्थिर और चल दोनों

रूप हों। रस सदा एकरूप रहने के कारण स्थिर है और बल प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। उन दोनों की समष्टि ही जगत् का मूलतत्त्व माना जाय यह युक्ति-संगत बात है। वही श्रुति ने माना है। इसके अतिरिक्त बल का प्रस्फुटित रूप जो क्रिया है उसकी परिस्थिति हम देखते हैं कि वह उत्पन्न होने के साथ नष्ट भी होती रहती है। तब वह निराधार नहीं ठहर सकती। इसलिए उसका आधार कोई मानना ही पड़ेगा। सम्पूर्ण जगत् को हम क्रिया के ही विजृम्भण रूप में देखते हैं। किन्तु उक्त युक्ति से उसका कोई आधार मानना आवश्यक है। जो आधार माना जायगा वह क्रिया से विलक्षण होगा। उसी के नाम ब्रह्म, रस, इत्यादि कहे जाते हैं। ये रस और बल दोनों निर्धर्मक हैं, अर्थात् इनमें और कोई दूसरे धर्मों की सत्ता नहीं। किन्तु दोनों के मिलने पर जो विशिष्ट रूप बनता है उसमें ये दोनों धर्मरूप से प्रविष्ट हो जाते हैं। सत्ता, चेतना, आनन्द इन धर्मों के रूप में रस सब में अनुप्रविष्ट है और नाम, रूप और क्रिया इन धर्मों के रूप में बल सबमें अनुप्रविष्ट है। आदि के तीन धर्म कभी परिवर्तित नहीं होते और अन्त के तीनों सदा परिवर्तनशील हैं।

आगे आश्रयभूत रस को न मानकर केवल क्षणिक क्रिया को ही जिन्होंने जगत् का रूप माना है उन बौद्धों के मत की "विप्रतिपत्त्यधिकरण" में आलोचना है। यह भी कहा गया है कि 'श्रम' नाम क्रिया का है, क्रिया को ही एकमात्र मूल तत्त्व मानने वाले श्रमण कहलाते हैं; और 'ब्रह्म' नाम ज्ञान का है, अतः ज्ञान या ब्रह्म को मुख्य तत्त्व मानने वाले ब्राह्मण कहे जाते हैं।

इसके आगे "वैधर्म्याधिकरण" में यह बतलाया गया है कि रस और बल सदा सम्मिलित ही रहते हैं, किन्तु दोनों का स्वरूप एकान्ततः विरुद्ध है, जैसा कि एक नित्य और शाश्वत है, दूसरा प्रतिक्षण नष्ट होने वाला। एक स्थिर है, दूसरा सर्वथा चल इत्यादि। इन्हीं विरुद्ध धर्मों का यहाँ विवरण है। यद्यपि रस और बल दोनों में ही कोई धर्म नहीं ऐसा पहिले कहा जा चुका है, किन्तु 'सत्तासिद्ध' धर्म न होने पर भी 'भातिसिद्ध' कल्पित धर्म जो रहते हैं जिनके आधार पर हम उन दोनों का स्वरूप समझ सकते हैं। वे दोनों के धर्म परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। इसका विस्तार से विवरण इस अधिकरण में हुआ है। इसके आगे इन दोनों का परस्पर संबन्ध किस प्रकार का है यह संसर्गाधिकरण में निरूपित है। पहिले लोक में सावयव पदार्थों के सम्बन्ध पाँच प्रकार के होते हैं यह निरूपण है। एक स्थानावरोध सम्बन्ध है, जो कि पृथिवी और जल में प्रायः रहता है। जहाँ एक पार्थिव पदार्थ रहेगा वहाँ दूसरे पार्थिव पदार्थ को नहीं आने देगा। यही स्थानावरोध कहलाता है। यद्यपि देखा जाता है कि भीत में एक-कीला ठोक दिया जाता है किन्तु वहाँ बल पूर्वक कीला ठोकने से उस प्रदेश के अवयव टूटकर नीचे गिर जाते हैं, अथवा समीप के अवयवों से गुंथकर घनीभूत हो जाते हैं, तभी कीला उस प्रदेश में प्रवेश पाता है। दूसरा सामञ्जस सम्बन्ध है जहाँ एक ही प्रदेश में कई वस्तुएँ साथ-साथ रह सकती हैं, जैसा कि एक ही घर में अनेक दीपकों का प्रकाश। जहाँ जल को उष्ण कर लिया जाता है वहाँ जल और अग्नि के अवयव परस्पर संगठित होकर एकरूपता को प्राप्त कर लेते हैं। जल कभी उष्ण नहीं होता वह शीत ही रहता है, किन्तु उसमें अनुप्रविष्ट अग्नि के अवयवों का उष्ण स्पर्श जल के शीतस्पर्श को दबा देता है। इसीलिए शीतस्पर्श की प्रतीति वहाँ नहीं होती। जब अग्नि के अवयव उसमें से निकल जाते हैं तब जल पुनः ठंडा प्रतीत होने लग जाता है। ऐसे स्थल में जल और अग्नि के अवयवों का परस्पर ऐकात्म्य सम्बन्ध है। जहाँ अम्भः नाम के शुद्ध जल के अणु अग्नि के अवयवों के साथ मिलकर स्थूल जल को उत्पन्न कर देते हैं वहाँ सूक्ष्म जल के अवयव और अग्नि के अवयवों का ऐकाभाव्य सम्बन्ध

होता है। इस 'अम्भः' को ही पाश्चात्य विज्ञान की परिभाषा में 'हाइड्रोजन' कहा जाता है और उसके साथ मिलने वाले अग्नि के कणों को आक्सीजन। आजकल के वैज्ञानिक पंचभूत सिद्धान्त पर आक्षेप किया करते हैं कि शास्त्रों ने जल को एक अखण्ड तत्त्व माना है, वह भूल है। जल तो दो चीजों से मिलकर बनता है। यह आक्षेप शास्त्रों का मर्म न समझ कर ही होता है। इस प्रकरण की टीका में श्रुति आदि के प्रमाणों से स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस स्थूल जल का लोक में जल शब्द से व्यवहार होता है उसे तो हमारे यहाँ भी स्पष्ट रूप से संयोगज बताया गया है। जिस जल को हम पंचभूत प्रक्रिया में गिनते हैं वह अम्भः नामक सूक्ष्म जल है, जो संयोगज नहीं है। अस्तु ऐकात्म्य में एक दूसरे से पृथक् भी हो जाया करते हैं, किन्तु ऐकाभाव्य में बिना रासायनिक प्रक्रिया के पृथक् भाव नहीं होता, यही इन दोनों सम्बन्धों में विशेषता है। पाँचवाँ सम्बन्ध भक्ति कहलाता है। जैसा कि मोटर आदि पर चढ़कर मनुष्य दूर चला जाता है वहाँ मनुष्य के अवयवों में कोई स्वतन्त्र गति नहीं हुई किन्तु यह मोटर आदि पर चढ़ कर उसका भाग बन गया इसलिए वह भी दूर पहुँच गया।

ये पाँच प्रकार के सम्बन्ध लोक में सावयव पदार्थों के देखे जाते हैं। किन्तु रस और बल इनमें से कोई भी प्रकार संभव नहीं। रस और बल का सम्बन्ध दो प्रकार का कहा जा सकता है। एक स्वरूप-सम्बन्ध और दूसरा वृत्तित्व-सम्बन्ध। शुद्ध रस और शुद्ध बल का परस्पर स्वरूप-सम्बन्ध ही होता है और उस सम्बन्ध के कारण जब रस-प्रधान पुरुष और बल-प्रधान शक्ति ये दोनों विशिष्ट रूप बन जाते हैं तब उनमें शक्ति का पुरुष के साथ वृत्तित्व-सम्बन्ध हो जाता है। स्वरूप-सम्बन्ध के तीन भेद हैं, बन्ध, योग और विभूति। रस बल के साथ सदा विभूति-सम्बन्ध ही रखता है और सम्बन्ध होने पर बलविशिष्ट रस के साथ बलान्तर का सम्बन्ध बन्ध और योग भी होता है। इन तीनों के परिचय के लिए इनके भी लौकिक उदाहरण वहाँ दिये गये हैं। नये-नये पदार्थों की उत्पत्ति इन तीन प्रकार के सम्बन्धों से ही हुआ करती है। जहां दो तत्त्व मिलकर एक तीसरा तत्त्व उत्पन्न कर दें किन्तु उन दोनों का अपना स्वरूप न रहे उसे बन्ध कहते हैं। जैसे जल के भीतर वायु जब प्रविष्ट होता है और वह वायु जल के घेरे में आ जाता है तब जल का बुद्बुद बन जाता है। वायु के निकल जाने पर बुद्बुद टूट जाता है किन्तु यदि जल का स्तर दृढ़ हो और वायु को निकलने न दे तब जल और वायु के अणु मिलकर फेन नाम का एक नया तत्त्व पैदा कर देते हैं। अब जल और वायु के अवयवों का पृथक् स्वरूप नहीं रहा, किन्तु दोनों के बन्धरूप सम्बन्ध से फेन बन गया। जहाँ दो मिलकर तीसरी वस्तु को उत्पन्न कर दें किन्तु वे दोनों भी अपने स्वरूप में बने रहें उसे योग कहते हैं। जैसे कोई पक्षी उत्तर की ओर मुख करके जब उड़ने लगता है तो उसका एक पंख पूर्व की ओर गति करता है और दूसरा पश्चिम की ओर। इन दोनों गतियों के योग से उत्तराभिमुख नई गति पैदा हो जाती है किन्तु वे दोनों पंखों की गतियाँ भी यथावत् बनीं रहतीं हैं। इसी प्रकार हम अपने दोनों हाथों का परस्पर मर्दन करें तो एक प्रकार की उष्णता नई उत्पन्न हो जाती है किन्तु दोनों हाथों में वा उनके बलों में कोई न्यूनता नहीं आती। यह योग सम्बन्ध कहा जाता है। जहां दो का सम्बन्ध होने पर एक तो मर जाय अथवा परतन्त्र हो जाय और दूसरा अपने स्वरूप में यथावस्थित स्वतन्त्र बना रहे उसे विभूति सम्बन्ध कहते हैं। जैसे हमारी आन्तर प्राण की प्रेरणा से हाथ उठता है वहां प्राण और हाथ का परस्पर सम्बन्ध हुआ। उस सम्बन्ध में प्राण स्वतन्त्र हैं किन्तु हाथ परतन्त्र। प्राण जैसे चलाता है वैसे हाथ को चलना पड़ता है। किन्तु हाथ के सम्बन्ध से प्राण की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं आती, अतः यहां प्राण का हाथ के साथ

विभूति-सम्बन्ध है। इसी प्रकार सूत्रात्मा रूप वायु सर्वत्र व्याप्त है जिसके हमें कई निदर्शन प्रत्यक्ष मिलते हैं। जैसे शुष्क मृत्तिका से ईंट नहीं बनायी जा सकती, मृत्तिका में जल मिला कर ईंट थापी जाती है। वहां मृत्कणों का परस्पर संयोग जल के कारण हुआ। जब उस ईंट को पकाया गया तब जल तो सूख गया किन्तु उसके स्थान में अग्नि प्रविष्ट हो गया, उसने उस मृत्कणों के संयोग को स्थिर रक्खा। कुछ काल में वह अग्नि भी निकल गया क्योंकि आगे चल कर ईंटों में उष्णता नहीं प्रतीत होती। अब उस संयोग की रक्षा करने वाला कौन है, यह प्रश्न होगा। यदि संयोग टूट जाय तो ईंट बिखर जानी चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं। इससे यही मानना होगा कि व्यापक सूत्रात्मा रूप वायु ने अब उस सम्बन्ध को स्थिर कर रक्खा है। इसी प्रकार लोहे या सोने के दो टुकड़े आपस में जोड़े नहीं जा सकते, उन्हें अग्नि में तपा कर द्रवावस्था उत्पन्न कर जोड़ दिया जाता है। किन्तु अग्नि के निकल जाने पर भी वह जोड़ बना रहता है। उसकी रक्षा करने वाला वही सूत्रात्मा रूप वायु है। इन सब पदार्थों के साथ सूत्रात्मारूप वायु का विभूतिसम्बन्ध है। ये समस्त पदार्थ उसके अधीन रहते हैं, वह इनमें बद्ध नहीं रहता।

और भी देखिए हमारे ज्ञान में बाह्य पदार्थ हाथी, घोड़े, गृह, मनुष्य आदि आते हैं और निकल जाते हैं, किन्तु ज्ञान रूप प्रकाश जैसा का तैसा बना रहता है। यहां ज्ञान का उन बाह्य पदार्थों के साथ विभूतिसम्बन्ध है। बस इसी प्रकार का विभूतिसम्बन्ध रस का बल के साथ भी रहता है। बल विशिष्ट रस के साथ दूसरे बलों का बन्ध और योगसम्बन्ध भी होता है। केवल विभूतिसम्बन्ध से अव्यय पुरुष का, योगसम्बन्ध से अक्षर पुरुष का और बन्ध सम्बन्ध से क्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है जिनका निरूपण आगे किया जायगा। इनमें अव्यय पुरुष में रस की प्रधानता है, बल गौण रूप से रहता है। अक्षर पुरुष में दोनों की समान प्रधानता रहती है और क्षर पुरुष में बल ही प्रधान हो जाता है और वह रस को आवृत कर लेता है।

इसी प्रकार पुरुष का प्रकृति के साथ जो वृत्तित्वसम्बन्ध बतलाया गया उसके भी अवान्तर तीन भेद हैं—आसक्ति, उदार और समवाय। इनमें अव्यय पुरुष का अपनी शक्ति के साथ उदार-वृत्तिरूप सम्बन्ध होता है। जैसे आकाश में वायु व्याप्त रहता है किन्तु उस वायु का प्रभाव आकाश पर कुछ नहीं पड़ता, इसलिए वायु की आकाश में वृत्तिता उदार सम्बन्ध से है—इत्यादि रूप से इस प्रकरण में संसर्गों का बड़ा गंभीर विवेचन है। यह प्रकरण बहुत महत्व का और विशेष मनन योग्य है। इस प्रकार के संसर्ग के निरूपण संस्कृत के ग्रन्थों में अन्यत्र प्राप्त नहीं होते।

इसके आगे मायाधिकरण आया है। बल जब प्रकट होकर अपरिच्छिन्न रस को परिच्छिन्न प्रदर्शित कर देता है। जैसे कि समुद्र के अपार जल को भिन्न-भिन्न तरंगें सीमाबद्ध दिखा दिया करती हैं, अथवा जैसे अपरिछिन्न आकाश को घट मठ आदि घटाकाश मठाकाश आदि के रूप में दिखा देते हैं। परिच्छेद वा सीमाबन्ध दिखा देने के कारण ही इस प्रधान बल का नाम "माया" होता है। 'मा' धातु का अर्थ है 'मिति' या परिच्छेद। 'मिति' का साधन होने के कारण इस बल का माया नाम अन्वर्थ है। परिच्छिन्न रूप में दिखाई देने पर एक-एक पृथक्-पृथक् रूप बन जाता है जिसे संस्था वा छन्द नाम से भी वैदिक परिभाषा में कहा गया है। एक परिच्छिन्न रूप होने पर उसका नाम भी एक नियत हो जाता है। ये नाम और रूप माया के कारण ही होते हैं। इसलिए श्री शंकराचार्य ने नामरूप को ही 'माया'

कहा है। बलरूपा यह माया स्वतन्त्र नहीं, रस के आधार पर ही रहकर सब कुछ करती है, इसलिए वैष्णव आचार्यों ने भगवान् की शक्ति को माया कहा है। ऐश्वर्य, धर्म, यश, ज्ञान, वैराग्य और श्री का नाम 'भग' है, ये सब धर्म मायारूप बल के कारण निर्धर्मक रस में प्रादुर्भूत होते हैं, इसलिए वह भगवान् है और बल उसकी शक्ति है। अपरिच्छिन्न का परिच्छेद कैसे हो गया और नाम रूप कहाँ से आ गये वा कहाँ चले जाते हैं, ये सब बातें बुद्धि में नहीं आतीं। इस कारण समझने के अयोग्य इन्द्रजाल आदि में भी माया शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध हो गया। परिच्छेद के कारण रस का नाम पुरुष हो जाता है। परिच्छेद होने पर सर्वप्रथम मन और आगे प्राण और वाक् का आविर्भाव होता है—ये ही सर्वप्रधान अव्यय पुरुष की सृष्टि-साक्षिक कलाएँ हैं।

इसके आगे अव्यय, अक्षर और क्षर—इन तीन पुरुषों का विस्तार से निरूपण हैं। पूर्व में कह आये हैं कि रस और बल इन दोमों में अन्य कोई सत्तासिद्ध धर्म नहीं, इसलिए ये धर्मी नहीं कहे जा सकते, किन्तु स्वयं धर्म रूप से सर्वत्र प्रविष्ट होते हैं। जहाँ ये दोनों प्रथमतः धर्मरूप से प्रविष्ट हुए वह दोनों का समुदाय पुरुष कहा जाता है। वह धर्मी है। संसर्ग प्रकरण में विभूति, योग और बन्ध नाम के तीन स्वरूप सम्बन्ध बताये जा चुके हैं। उनमें से केवल विभूतिसम्बन्ध से अव्यय पुरुष का प्रादुर्भाव है, योगसम्बन्ध से अक्षर पुरुष का और बन्धसम्बन्ध से क्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। इन तीनों का श्रुतियों में तो विशद विवेचन मिलता ही है, आगे श्रुतियों की सारभूत भगवद्गीता में भी इनका निरूपण हुआ है। श्री विद्यावाचस्पति जी के विस्तृत ग्रन्थ भी इस त्रिपुरुष-वाद को मानकर ही निर्मित हुए हैं। इनमें अव्यय पुरुष केवल सबका आलम्बन मात्र है। उसकी पांच कलाएं हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। इनमें मन, प्राण, वाक् सृष्टि-साक्षी हैं, अर्थात् इनके आधार पर ही सृष्टि होती है और आनन्द, विज्ञान, मन मुक्ति-साक्षी हैं, अर्थात् इनमें क्रम से प्रविष्ट होने से मुक्ति हो जाती है। मन दोनों में अन्वित है, इसीलिए सर्वत्र कहा जाता है कि—"मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः"। यहां यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि जिन्हें हमारे दार्शनिक मन और प्राण कहते हैं, या हमें मन और प्राण शब्दों से जिनका परिचय है, वे तो अतिस्थूल हैं। उन्हें अव्यय पुरुष की कला नहीं समझना चाहिए। अव्यय पुरुष की कला रूप मन और प्राण अतिसूक्ष्म हैं। इनका भेद बतलाने के लिए ही श्रुतियों में इन्हें 'श्वोवसीयस् मन' और 'मुख्य प्राण' नाम से कहा गया है। वाक् इन दोनों से अवर कक्षा की है इसलिए 'अवाक्' शब्द के अकार का लोप कर इसे वाक् कहा गया है। दूसरा तात्पर्य यह भी है कि 'उ' यह स्वर प्राण के लिए संकेतित है और 'अ' मन के लिए। ये दोनों जिसमें अनुस्यूत रहते हैं वह वाक् कही जाती है। "उश्च अश्च वं, वं अञ्चतीति वाक्", यह वाक् ही सब भूतों की जननी है। अव्यय पुरुष की प्राणरूप कला के आधार पर अक्षर-पुरुष का और वाक् रूप कला के आधार पर क्षर-पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। इन पांचों कलाओं का कोष नाम से तैत्तरीय उपनिषद् में विवरण है। वहां वाक् को 'अन्न' नाम से कहा गया है और ऊपर के चारों अपने-अपने नाम से ही कहे गये हैं। संसार में जो आनन्द विज्ञान मन प्राण दिखाई देते हैं वे इनके ही अंश हैं। ये सब समष्टि रूप उनके विधान हैं, इसलिए इन्हें कोष नाम दिया गया है। कोष नाम जिसमें खड्ग रक्खा जाता है उस म्यान का भी है। इन पांचों में रस रूप मुख्य आत्मा छिपा हुआ है इसलिए भी इन्हें कोष कहते हैं। अस्तु, यह अव्यय-पुरुष कार्य कारण दोनों से अतीत है, इसे उत्तम पुरुष वा विश्वातीत आदि नामों से भी शास्त्रों में कहा गया है।

दूसरा अक्षर-पुरुष सृष्टि का निमित्त कारण है। वह स्वयं विकृत न होता हुआ भी क्षर को नानारूपता प्राप्त कराने में सहायक होता है। न्याय आदि दर्शनों में इसे ही ईश्वर कहा गया है। स्वयं विकृत न होने के कारण इसे कूटस्थ कहते हैं। कूटस्थ शब्द का अर्थ है अविचाली या अपरिणामी, अथवा कूट शब्द का अर्थ समूह भी है। जगत् के नाना रूपों में परिणत होने वाला क्षर-पुरुष कूट है। उसमें स्थित रहने के कारण यह कूटस्थ कहा जाता है। इसकी भी पांच कलाएं हैं, जिनके नाम ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम हैं। इन्द्र, अग्नि और सोम इन तीनों की समष्टि को पौराणिक परिभाषा में महेश्वर या महादेव नाम दिया गया है। ये ही रूप हमारे उपास्य हैं। इनके द्वारा हम अव्यय-पुरुष को प्राप्त कर सकते हैं। अव्यय-पुरुष से साक्षात् सम्बन्ध हम सांसारियों का नहीं हो सकता। संसार के प्रत्येक पदार्थ का प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। उसके कुछ अंश निकल कर बाहर जाते हुए अन्य पदार्थों में सम्मिलित होते रहते हैं और उन अंशों की पूर्ति के लिए बाहर से उसके भीतर अंश सम्मिलित होते रहते हैं। यह गति-आगति की प्रक्रिया ही यज्ञ नाम से कही जाती है। किन्तु इस प्रकार का यातायात होने पर भी 'यह वही पदार्थ है' यह प्रत्यभिज्ञा हम लोगों को बनी रहती है। इनमें गति की प्रवर्तक अर्थात् अंशों को बाहर निकालने वाली शक्ति इन्द्र नाम से, बाहर से पदार्थों को लाकर क्षतिपूर्ति करने वाली शक्ति विष्णु नाम से और फिर भी पदार्थ को एक रूप में दिखाने वाली प्रतिष्ठा प्राणरूप ब्रह्मा नाम से कही जाती है। इसीलिए विष्णु को पालक और इन्द्र वा रुद्र को संहारक कहा गया है। बाहर निकलने वाले अंश प्रत्येक पदार्थ का पृष्ठ भाग बनाते हैं, वे अग्नि और सोम नाम से प्रसिद्ध है। जाने वाले बहिर्मुख प्राण अग्नि नाम से और आने वाले अन्तर्मुख प्राण सोम नाम से कहे जाते हैं। ये ही अग्नि और सोम सब जगत् के उत्पादक माने गये हैं—"अग्नीषोमात्मकं जगत्।" इनमें ब्रह्मा आदि तीन को 'हृद्य' कहा जाता है, क्योंकि ये तीनों शक्तियाँ हृदय अर्थात् केन्द्र में रहती हैं, और अग्नि और सोम को पृष्ठ्य कहा जाता है, अर्थात् ये दोनों बाहर का पृष्ठ भाग बनाते हैं। इन्हीं दोनों बाह्यकलाओं से क्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है।

क्षर पुरुष सब जगत् का उपादान कारण है। अक्षर की प्रेरणा से यह नाना भावों के रूप में प्रकट होता रहता है। किन्तु श्रुति में कहा गया है कि अर्धभाग से यह परिणत होता है और अर्धभाग से नियामक रूप में भी अनुप्रविष्ट रहता है। उस नियामक रूप को क्षर-पुरुष और परिणत रूप को 'पुर' कहा जाता है। इसकी पांच-पांच कलाएं आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक रूप में पृथक्-पृथक् प्रकट होती हैं। प्रथमतः मुख्य कला इसकी पांच हैं, जिन्हें प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद् और अन्न नाम से कहा जाता है। इन कलाओं से बने हुए आधिदैविक रूप स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य चन्द्र, और पृथिवी हैं। ये पांच मण्डल मिलकर एक ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। यह विश्वरूप वृक्ष की एक शाखा कही जाती है। ऐसी अनन्त शाखाएँ आकाश में व्याप्त हैं। अस्तु हम अपनी बल्शा का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। भावना ब्रह्माण्ड हमारी बुद्धि में नहीं आ सकता। इस हमारी बल्शा के पांच मण्डल हैं, उनमें प्रत्येक की नियामक एक एक प्राण शक्ति है, जिनके नाम स्वयंभू आदि हैं। प्रत्यक्षमात्र पर अवलम्बित आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान पृथ्वी, चन्द्रमा, और सूर्य तीन को ही पूरी तरह जान सका है, इनका ही निरूपण विस्तार से करने में वह लगा हुआ है। किन्तु वैदिक विज्ञान इनसे आगे भी अन्य दो मण्डलों का पता देता है। जिस प्रकार हमारी पृथ्वी सूर्य के अधिकार में है, सूर्य द्वारा ही इसमें सब प्रकार के परिवर्तन होते हैं, इसी तरह ऐसे अनेक सूर्य जिसके अधिकार में हैं, वह उस परमेष्ठी मण्डल

से मिलती है, और निरन्तर उष्णता और प्रकाश बहुत बड़े परिमाण में फेंकते हुए सूर्य की पूर्ति भी उसी परमेष्ठी मण्डल का सोम करता है। जितनी उष्णता और जितना प्रकाश सूर्य से प्रतिक्षण निकलता है उसकी नाप तो पाश्चात्य विज्ञान ने कर डाली किन्तु जैसे उष्णता और प्रकाश फेंकने वाले एक दीपक को तेल की आवश्यकता होती है वा विद्युत् प्रकाश को करेन्ट द्वारा निरन्तर विद्युत् लेने की आवश्यकता होती है इसी प्रकार सूर्य को वह तेल वा करेन्ट कहां से मिलता है इसका पूरा पता अभी पाश्चात्य विज्ञान न लगा सका। वैदिक विज्ञान इसका स्पष्ट पता देता है कि "सोमेनादित्या बलिनः" अर्थात् परमेष्ठि मण्डल के सोम से ही सूर्य को बल मिलता है। इसी प्रकार परमेष्ठिमण्डल भी स्वयं अन्तिम स्वयंभू मण्डल के अधिकार में है। वह मण्डल किसी दूसरे मण्डल के अधिकार में नहीं। इसीलिए उसे स्वयंभू कहते हैं। वह ब्रह्मारूप शक्ति का अधिष्ठान है। एक सूर्य की आयु समाप्त हो जाने पर उस ब्रह्मा का एक दिन पूरा होता है। सूर्य की समाप्ति पर हमारी त्रिलोकी प्रलीन हो जाती है, किन्तु परमेष्ठि-मण्डल और स्वयंभू मण्डल बने रहते हैं। इसे ही पुराणों में नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है।

वे मण्डल उस दिन के हिसाब से सौ वर्ष की आयु पूरी होने पर प्रलीन होते हैं। वह महाप्रलय कहलाता है। यह आधिदैविक कलाओं का विवरण हुआ। आधिभौतिक कलाएं पञ्चभूत नाम से प्रसिद्ध हैं और आध्यात्मिक कलाएं कारण सूक्ष्म स्थूल शरीर प्रजा और वित्त ये मानी जातीं हैं। इन्हीं क्षर पुरुष कलाओं से सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है। इन तीनों पुरुषों के उद्भव, कला, स्थिति आदि का विवरण पुरुषाधिकरण और गद्यमय पुरुष प्रपंचाधिकरण में विस्तार से है। यही इस ग्रन्थ का मुख्य भाग है।

आगे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार क्षराक्षररूप में प्रादुर्भूत होता हुआ भी रस निर्विकार कैसे रहा। इसका उत्तर देने के लिए "निर्विकाराधिकरण" आता है। इस अधिकरण में अनेक दृष्टान्तों से यह समझाया गया है कि जो कुछ परिणाम वा विकार है वह बल का ही है, रस निर्विकार ही रहता है। विकार की प्रतीति नाम, रूप और कर्म में ही होती है। उनमें अन्तर्निहित सत्ता, चेतना और आनन्द जो रस के रूप हैं वे सदा निर्विकार ही रहते हैं। नाम, रूप और क्रियागत विकार रस में केवल प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः रस में कोई विकार नहीं, जैसे दूर्वा वा कमल पत्र पर गिरा हुआ जल बिन्दु प्रातः काल सूर्य रश्मियों के प्रभाव से किसी दिशा से रक्त, किसी दिशा से श्वेत और किसी दिशा से हरित प्रतीत हुआ करता है किन्तु वास्तविक भाव में जल बिन्दु स्वयं निर्विकार ही है। भिन्न रूपों की प्रतीतिमात्र है। इसी प्रकार बलगत अनेक विकार रस में प्रतीत मात्र होते हैं किन्तु वस्तुतः रस निर्विकार ही है। यही अविकृत परिणामवाद है। आगे पुनः शंका उठाई गई है कि ऐसे अन्तर्निहित तत्त्वक रस को मानना ही क्यों जो प्रतीति में नहीं आता केवल अन्य रूप से ही प्रतीत होता रहता है। इसका विस्तार से उत्तर देने को 'ब्रह्म दर्शनाधिकरण' लिखा गया है। इसमें किस किस रूप से रस वा ब्रह्म की प्रतीति जगत् में है इसका गंभीर दृष्टि से विशद विवेचन है। "गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी" इत्यादि भगवद्गीता पद्य की व्याख्या भी वैज्ञानिक रीति से इस प्रकरण में आ गई है।

आगे 'आत्माधिकरण' में आत्म शब्दार्थ का विशद विवेचन है। वहाँ दिखाया गया है कि आत्मा शब्द विचाली है। जिसकी सत्ता पर अन्य की सत्ता अवलम्बित हो उस अन्य का आत्मा वह सत्ता देने वाला ही कहा जाता है। रस सब का सत्ताप्रद है इसलिए वह मुख्य आत्मा है। आगे 'सिंहावलोक-

नाधिकरण' में इस प्रकरण के सब विषयों को संक्षेप से फिर दोहराया गया है और उनमें कुछ कुछ विशेषताएं भी नई बताई गई हैं। इस प्रकार यह प्रथम भूमिकाधिकार पूर्ण किया गया। यह इस ग्रन्थ की पृष्ठ भूमि है।

इसके आगे द्वितीय रसाधिकार है। इसमें रस किन-किन रूपों में जगत् में प्रविष्ट है इसका विस्तृत विवरण है। प्रथमाधिकार में अव्यय-पुरुष की सृष्टि-साक्षिक तीन कलाएं जो मन, प्राण, वाक् नाम से निरूपित हुई हैं, वे क्रम से ज्योति, विधृति और प्रतिष्ठा के रूप में जगत् में व्याप्त होती हैं, यह उपक्रम में बताकर इन तीनों में प्रत्येक के तीन-तीन भेद बताये गये हैं। ज्योति प्रकाश का नाम है। उसके तीन भेद हैं, आन्तर प्रकाश ज्ञान, बहिःप्रकाश सूर्य, दीप आदि और प्रत्येक वस्तु का विकास जिससे कि प्रकाश होता है वह प्रकाश का हेतु भी ज्योति की गणना में आ जाता है। इनमें विकासरूप ज्योति अव्यय-पुरुष की मन से रूप कला से सम्बन्ध रखती है। ज्ञानरूप ज्योति अक्षरपुरुषानुप्रविष्ट मन से और भौतिक प्रकाशरूप भूतज्योति क्षरपुरुषानुप्रविष्ट मन से सम्बद्ध है। आगे विकास के भी तीन भेद बतलाये हैं—काल विकास, मात्रा विकास और संस्था विकास। इनके भी और अवान्तर विकास बतलाते हुए जगत् विस्तार का स्पष्ट निदर्शन किया गया है। इन प्रकरणों पर ध्यान देने से जगत् की उत्पत्ति-प्रक्रिया ठीक समझ में आ सकती है। मध्य में जीव, ईश्वर और परमेश्वर नाम से चैतन्य की तीन संस्था बताते हुए तीनों के क्रम से वाचक अहं, अहः और ओं का भी एकीभाव निरूपण 'संस्था विकासाधिकरण' में किया गया है। यह प्रकरण बहुत मननीय और गंभीर है। आगे विधृति के भी तीन भेद बतलाये गये हैं। संसार में जो कुछ दिखाई देता है वह एक दूसरे के आश्रित रूप से प्रतीत होता है। यह आश्रयाश्रयिभाव वा आधाराधेयभाव ही विधृति है जो कि प्राण का रूप है। इस विधृति प्रकरण-में भर्गः, महः और यशः इन वैदिक शब्दों की वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। प्रत्येक पदार्थ का मण्डल भर्ग नाम से कहा जाता है, उसका उत्कट प्रभाव जहाँ तक हो वह महः मण्डल है और सूक्ष्मरूप से भी प्रभाव जहाँ तक व्याप्त है वह यशोमण्डल कहलाता है। जैसा कि सूर्य का मण्डल भर्ग है। उसकी दीप्ति का प्रसार उसका महः है और आवृत स्थान में भी जो कुछ प्रकाश की विशेषता पहुंचती है वह यशोमण्डल कहा जाता है। इन तीनों में ही दूसरे पदार्थों का धारण होता है। जैसे कोई एक मनुष्य किसी यान पर चढ़ कर दूर देश की यात्रा कर रहा है, वहां उस यान के भर्ग पर उस मनुष्य की विधृति है। पृथिवी वा सूर्य के आकर्षण में जितने पदार्थ स्थित हैं उनका भी धारण पृथ्वी वा सूर्य पर है क्योंकि उस आकर्षण मण्डल से वे पदार्थ बाहर नहीं जा सकते किन्तु वह विधृति भर्ग पर नहीं महः पर है। इसे इस प्रकार समझाया जा सकता है कि भूमि का भ्रमण मानने वाले ऐसा अवश्य मानते हैं कि पृथिवी एक-एक क्षण में बहुत योजन दूर चली जाती है किन्तु जब इस पर यह प्रश्न होगा कि हंस आदि बहुत दूर उड़ने वाले पक्षी जब भूमि को छोड़कर आकाश मण्डल में ऊपर या तिर्यक् बहुत दूर निकल गये तब वे अपने स्थान पर फिर कैसे लौटकर आ सकेंगे क्योंकि इतने समय में भूमि तो बहुत दूर चली जायगी, इतनी गति हंस आदि में कैसे हो सकती है। इसका उत्तर भूभ्रमणवादियों को यही देना होगा कि भूमि के आकर्षण से बद्ध जितने पदार्थ हैं वे सब भूमि के साथ ही उसी गति से चलते रहते हैं। इसलिए आकर्षण भी एक प्रकार की विधृति है, किन्तु वह विधृति पृथ्वी के भर्ग पर नहीं उसके महः मण्डल पर है। इसी प्रकार ध्रुव-मण्डल से भी पृथिवी का आकर्षण वैदिक विज्ञान में माना जाता है। इसी कारण ध्रुव की व्याप्ति से पृथिवी-मण्डल पृथक् नहीं हो सकता। वह विधृति ध्रुव के यशोमण्डल पर है। इस प्रकार

भर्गः महः यशः मण्डलों के भेद से विधृति भी तीन प्रकार की हुई। इसके द्वारा संसार में बहुत से परिवर्तन होते हैं।

इसके आगे विधृति की आनन्दरूपता बताई गई है। जब मन बुद्धि आदि व्यावहारिक आत्मा विचलित होते हैं तब दुःख का अनुभव होता है। और जब मन बुद्धि आदि स्थिर हो जायँ तो वह दुःख हट जाता है। इस शान्ति को ही आनन्द कहा जाता है। जैसे एक मनुष्य सिर पर भार लादे धूप में जा रहा है, वह बहुत दुःख का अनुभव करता है, किन्तु जब कहीं छाया में भार उतार कर रख दे और विश्राम करने लगे तो उसे अनुभव होता है कि मैं बड़े आनन्द में आ गया। यह व्यावहारिक आनन्द की स्थिरता ही शान्त्यानन्द कही जाती है। चंचलता की अभावरूप विधृति में इसका होना स्पष्ट ही सिद्ध है। दूसरा आनन्द समृद्धचानन्द है जो कि अपने परिग्रह की वृद्धि पर प्राप्त होता है, जैसा कि सम्पत्प्राप्ति और पुत्रजन्मादि पर मनुष्यों को प्राप्त हुआ करता है। वह भी विधृति के आधार पर ही होता है क्योंकि बिना अपने स्वरूप में स्थिर हुए वृद्धि भी नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्योति ज्ञानरूप है, विधृति आनन्दरूप और प्रतिष्ठा सत्तारूप। यही सत् चित् आनन्द तीनों रूप जगत् में व्याप्त हैं।

आगे प्रतिष्ठा का निरूपण है। सत्ता का ही नाम प्रतिष्ठा है। इसे विस्तार से समझाया गया है और एक रस ही सत्तारूप से सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है यह स्पष्ट किया गया है। इससे आगे भूमा और अणिमा का निरूपण है। भूमा अर्थात् व्यापक तत्त्व और अणिमा अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म, ये दोनों एक ही तत्त्व हैं, यह दार्शनिक गंभीर रहस्य इन प्रकरणों में बतलाया गया है। और भूमा ही आनन्द है इस उपनिषत् प्रतिपादित तत्त्व को खूब समझाया गया है। इसी प्रकरण में सत्ता, चेतना और आनन्द ये तीनों एक ही रूप हैं इसका भी टीका में विस्पष्ट विवरण है। भूमा आनन्दरूप होने के कारण ही आत्मा को आनन्दरूप कहा जाता है।

आगे यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जब आत्मा आनन्दमय है तो दुःख वा भय की प्रतीति हमें क्यों होती है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दुःख का स्वरूप-निरूपण विस्तार से किया गया है। भय और दुःख एक रूप हैं या पृथक्-पृथक्? भय के बिना भी दुःख होता है या नहीं? भय ज्ञान से या अज्ञान से? इत्यादि बातों का मार्मिक और रोचक विवेचन दुःख सुखाधिकरण में है। इसका भी विवेचन किया गया है कि भय के विभिन्न प्रभाव शरीर पर देखे जाते हैं, जैसा कि कभी भय से शरीर में इतनी शीघ्रता आ जाती है कि खाट पर पड़ा हुआ अतिजर्जर मनुष्य भी कूद कर जल्दी से भागने लगता है, और कभी-कभी भय से ऐसा होता है कि समर्थ पुरुष के पैर भी रुक जाते हैं। ऐसा वैषम्य क्यों होता है इत्यादि बातों का विवेचन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का दूसरा प्रकरण रसाधिकार पूर्ण हुआ।

अब आगे तीसरा बलाधिकार है। इसमें बल का क्या स्वरूप और रस के साथ उसका कैसे सम्बन्ध हो जाता है—इत्यादि पूर्वोक्त बातों का पुनः-पुनः विस्तृत विवेचन है। केवल बल ही सब कुछ है, रसरूप पुरुष तो केवल साक्षी रहता है इस सांख्य मत की पुनः आलोचना कर रस ही सब कुछ है, बल तो केवल उसकी अनिर्वचनीय शक्ति मात्र है इस व्यास भगवान् के सिद्धान्त को दृढ़ किया गया है। इसी मतभेदाधिकरण की टीका में व्यावहारिक १८ प्रकार के आत्माओं का निरूपण है जो कि विशेष

मननीय है। आगे चल कर प्रकृति का विवेचन करते हुए यह बताया है कि रस और बल के परस्पर सम्बन्ध में जहां रस की प्रधानता हो वहां पूर्वोक्त तीन पुरुषों का प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार बल की प्रधानता में प्रकृति या शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ करता है। उधर पुरुष-प्रकरण में जिस प्रकार मन, प्राण और वाक् तीन तत्त्व मुख्य हैं उसी प्रकार इधर शक्ति प्रकरण में सत्व, रज और तम तीन तत्त्व मुख्य रूप से प्रादुर्भूत होते हैं। उन तीनों की समष्टि से जैसे रस प्रधान अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष प्रादुर्भूत हुए हैं इसी प्रकार इधर शक्ति प्रकरण में महत्, अहंकार और तन्मात्राओं का प्रादुर्भाव है। उनमें एक-एक पुरुष का एक-एक शक्ति के साथ विशेष सम्बन्ध होकर उससे सम्पूर्ण प्रपंच की रचना होती है। जिस प्रकार रस के व्यापक धर्म ज्योति, विधृति और प्रतिष्ठा रूप दिखाये गये हैं उसी प्रकार बल-प्रधान शक्ति के तीन रूप अशनाया, विक्षेप और आवरण हैं। अन्य बल वा बलविशिष्ट रस को अपने भीतर लेने की क्रिया अशनाया है। अपनी प्रेरणा से अपने में वा अन्यत्र स्थित बल को अन्यत्र उपसंक्रान्त करना विक्षेप कहा जाता है। प्रवाहरूप बल जब स्थिर सा बन जाय तब वह आवरण रूप हो जाता है। वैदिक विज्ञान में यही तीनों सत्त्व, रज और तम हैं। इन्हीं शक्ति के रूपों से सम्पूर्ण प्रपंच बनता है। इनका यहां इतना विशद और विस्पष्ट विवेचन किया गया है कि सृष्टि बनने की प्रक्रिया बुद्धि में बैठ जाती है। विक्षेप प्रकरण में कणाद भगवान् के वैशेषिक सूत्र स्थित पंच अध्याय का पूर्ण विवरण है और उपनिषदों में आये हुए नारद-सनत्कुमार के गंभीर संवाद पर भी इस प्रकरण से पूरा प्रकाश पड़ता है। वैशेषिक सूत्रों की स्वाभिमत व्याख्या करते हुए जल में सांसिद्धिक द्रवत्व मानना आदि नवीन नैयायिकों के अपसिद्धान्तों का स्पष्ट निराकरण भी इस प्रकरण में आया है, और रूप आदि की वैज्ञानिक उत्पत्ति के अनेक मननीय सिद्धान्त इस प्रकरण में हैं। बल, शक्ति या क्रिया का वेदमूलक ऐसा विवेचन संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता यह स्पष्ट कहा जा सकता है।

इस प्रकार वैदिक प्रक्रिया के अनुसार सत्त्व, रज, तम का पूर्ण विवरण कर आगे सांख्य दर्शन के अनेक भेदों में जो सत्त्व, रज, तम की व्याख्या की गई है उसका भी संग्रह 'सांख्याभास' नाम से किया गया है। उनमें भी इतने भेद दिखाये गये हैं जो प्रायः आधुनिक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। सत्त्व ही प्रधान है, रज, तम उसी के रूपान्तर हैं, अथवा रज ही प्रधान है सत्त्व और तम उसी की अवस्था विशेष हैं, अथवा तम ही प्रधान है। सत्त्व, रज उस ही के रूप हैं—इन तीनों सिद्धान्तों का दो-दो प्रकार की युक्तियों से प्रतिपादन है। आगे वर्तमान सांख्य दर्शन में तीनों गुणों को समान रूप ही माना जाता है। एक से दूसरे की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। इस पंचशिखाचार्य के सिद्धान्त का भी विस्तार से विवेचन है। सुख दुःख मोह रूप सत्त्वादि तीनों गुणों का ऐसा सांकर्य कहीं-कहीं जगत् में होता है जहां उन तीनों का संमुग्ध रूप हो जाता है। कितना अंश किसका है यह विभाग ही भासित नहीं होता, इसके अनेक रोचक उदाहरण औत्पत्तिक त्रैगुण्य में दिये गये हैं। आगे सत्त्व, रज, तम आदि विषयनिष्ठ नहीं केवल अन्तःकरण के धर्म हैं—इस वेदान्त ग्रन्थोक्त विषय का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन है।

इस प्रकार बल और शक्ति का निरूपण कर इनसे उत्पन्न होने वाली क्रिया का कर्म नाम से विवेचन किया गया है। वहां क्रिया वा कर्म के तीन प्रकार निरूपित हैं। कर्म, स्वस्वरूप से तो क्षणिक और अत्यल्प अणुरूप प्रदेश रखने वाला है, किन्तु रस के आधार पर जब उसकी परम्परा बन जाती है तब वह छोटे बड़े आदि अनेक रूपों में भासित होने लगता है। संसार में कर्म वा क्रिया शब्द से जिसे

कहा जाता है वह शुद्ध एक-एक क्रिया नहीं किन्तु सहस्त्रशः क्रियाओं का एक समुदाय है, जैसे रसोई पकाना, अपने मित्र के घर जाना आदि क्रियाएँ संसार में एक-एक क्रिया के रूप में व्यवहृत होती हैं, किन्तु विचार करने पर सिद्ध होगा कि ये सहस्त्रशः क्रियाओं के समुदाय रूप हैं। रसोई पकाने में अग्नि जलना, पाक पात्र को अग्नि पर चढ़ाना, समय-समय पर दर्वी से उसमें परिवर्तन करते रहना, अन्त में उसे उतार कर रख देना इत्यादि शतशः क्रियाओं का समावेश है। उन एक-एक क्रियाओं में भी फिर शतशः सूक्ष्म क्रियाएँ रहती हैं। एक क्षण के बहुत सूक्ष्म भाग में हम एक अंगुली को घुमाकर एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में ले जाते हैं, इतने ही में शतशः क्रियाएँ हो जाती हैं। एक-एक आकाश प्रदेश से उस अंगुली का क्रम से संयोग होना और उनसे विभाग होकर फिर आगे के प्रदेशों से सम्बन्ध होते जाना इस प्रकार के विभाग सोचने से क्रिया का इतना सूक्ष्मांश अनुमित होता है जो बुद्धि की ग्रहण शक्ति से भी बाहर चला जाता है। कमल के सौ पत्तों को ऊपर नीचे रख कर एक मनुष्य ने एक पैनी सुई उन पर डाली। एक क्षण के बहुत सूक्ष्मांश में वह सुई नीचे के पत्ते तक को वेध गई, इसमें स्थूल दृष्टि वालों को यही प्रतीत होगा कि साथ ही सब पत्तों का वेध हो गया। किन्तु विचारक दृष्टि कहेगी कि सबसे ऊपर से पत्ते का वेध जब तक हुआ तब तक तो दूसरे पत्ते के साथ सुई का सम्बन्ध ही नहीं था। बिना सम्बन्ध के सुई उसे वेध कैसे सकती थी। इसलिए प्रत्येक पत्ते का वेध क्रम से हुआ और एक-एक वेध में भी पूर्व-संयोग, उसका विभाग और फिर अपर-संयोग ऐसे क्षण भेद होते रहे। इसे ही शास्त्रों में "उत्पलपत्रशतभेदन्याय" कहते हैं। यह सूक्ष्म काल कला बुद्धि की पहुँच से भी बाहर हो जाती है। यही एक-एक क्षणिक कर्म का मुख्य रूप है जो कि अपनी सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष गृहीत नहीं हो सकता। हम सांसारिक व्यवहार में जिसे क्रिया वा कर्म कहते हैं वह तो सहस्त्रशः क्रियाओं का एक समुदाय है जिसके अन्तर्गत सजातीय वा विजातीय बहुत सी क्रियाओं का समावेश रहता है। यह परंपरारूप कर्म का दूसरा भेद हुआ। अब जगत् के अनन्त पदार्थों की परंपरारूप ऐसी क्रियाएं इकट्ठी होकर जो एक प्रवाह बनता है वह भी किसी एक विशेष शक्ति द्वारा परिचालित है। यह तीसरा भेद कर्मप्रवाह नाम से कहा जाता है। यह कर्मप्रवाह अनादि अनन्त है। अतएव प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाली क्रियाओं का समूह होने पर भी इस प्रवाह को नित्य ही कहा जाता है, अर्थात् प्रवाह का उद्भव वा समाप्ति कभी नहीं होती। इसे शास्त्रों में प्रलयावस्था कहा गया है। जिस समय सब क्रियाओं का उपरम माना जाता है उस समय भी सजातीय परिणाम रूप क्रियाएं होती रहती हैं—ऐसा सांख्य दर्शन में भी माना गया है, और अनन्त ब्रह्माण्डों के विचार करने वाली वैदिक प्रक्रिया में तो स्पष्ट ही कहा जाता है कि जिस समय एक ब्रह्माण्ड का लय है उस समय भी अन्य अनन्त ब्रह्माण्डों में क्रिया-चक्र बराबर चला करता है। इसलिए प्रवाहरूप कर्म का कभी उद्भव वा विनाश नहीं होता। रस के आधार पर बल जनित यह अनन्त प्रवाह सदा चलता रहता है। इन सब बातों का विशद विवेचन कर ग्रन्थ के तृतीय बलाधिकार को पूर्ण किया गया है।

अन्त के उपसंहार प्रकरण में इन विद्याओं का प्रादुर्भाव समय-समय पर किस प्रकार होता है यह दिखाया गया है जिसका संक्षिप्त सारांश हम आदि में ही लिख चुके हैं। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि अक्षर पुरुष तक ही मानव बुद्धि का कुछ व्यापार हो सकता है। इससे आगे अव्यय, परात्पर वा निर्विशेष का स्पर्श बुद्धि नहीं कर सकती। उनका तो संकेत मात्र ही बुद्धि में आता है। जैसा कि श्रुति ने कहा है—"अस्तीत्येवोपलब्धव्यः", वह है इतना ही शब्द-प्रमाण वा अनुमान के द्वारा बुद्धि जान

सकती है। कोई विशेष विवेचन वहां बुद्धि द्वारा संभव नहीं। इसीलिए अक्षर पुरुष को सेतु कहा गया है, जिस पर आरूढ़ होकर हम आगे के अज्ञेय तत्त्वों का आभास पाते हैं, और इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि सब का मूल तत्त्व एक है और वह निर्धर्मक निर्विशेष है।

इस प्रकार ग्रन्थ का अति संक्षिप्त सार आभास मात्र प्राप्त करने के लिए दे दिया गया है। मैंने यथाशक्ति टीका में विषयों को स्पष्ट करने की चेष्टा की है, फिर भी ये नये विषय हैं इसलिए अवधान से देखने पर ही विवेचकों की बुद्धि में आ सकते हैं।

इस ग्रन्थ के सटीक प्रकाशन का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने आयोजन किया, उसके अधिकारी अवश्य ही धन्यवाद के पात्र हैं और यह योजना जिस नेपाल फण्ड समिति के द्वारा हुई है उसके संयोजक और वर्तमान कार्यकर्त्ता डा० श्री वासुदेव शरण जी अग्रवाल विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। श्री अग्रवाल जी ने स्वयं और अपने सहायकों द्वारा सम्पादन में भी बहुत कुछ सहायता दी है, उनका मैं पूर्ण कृतज्ञ हूं। **मेरे पुत्र शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी व्याकरण साहित्याचार्य बी. ए. ने इस ग्रन्थ के सम्पादन में मेरी सहायता की है** तथा मेरे शिष्य श्री रामाधीन चक्रवर्ती और श्री रघुराज शास्त्री न्यायाचार्य एम. ए. ने भी प्रूफ संशोधन और विषय सूची आदि में सहायता दी है।

आशा है विद्वान् लोग इसे अवधान से पढ़ने की कृपा करेंगे और इस मार्ग का प्रसार कर भारत के सुयश प्रसार में हाथ बँटावेंगे एवं ग्रन्थकार गुरुवर श्री विद्यावाचस्पति जी का परिश्रम सफल करने के यशोभागी होंगे—इति।

गिरधर शर्मा चतुर्वेदः

———
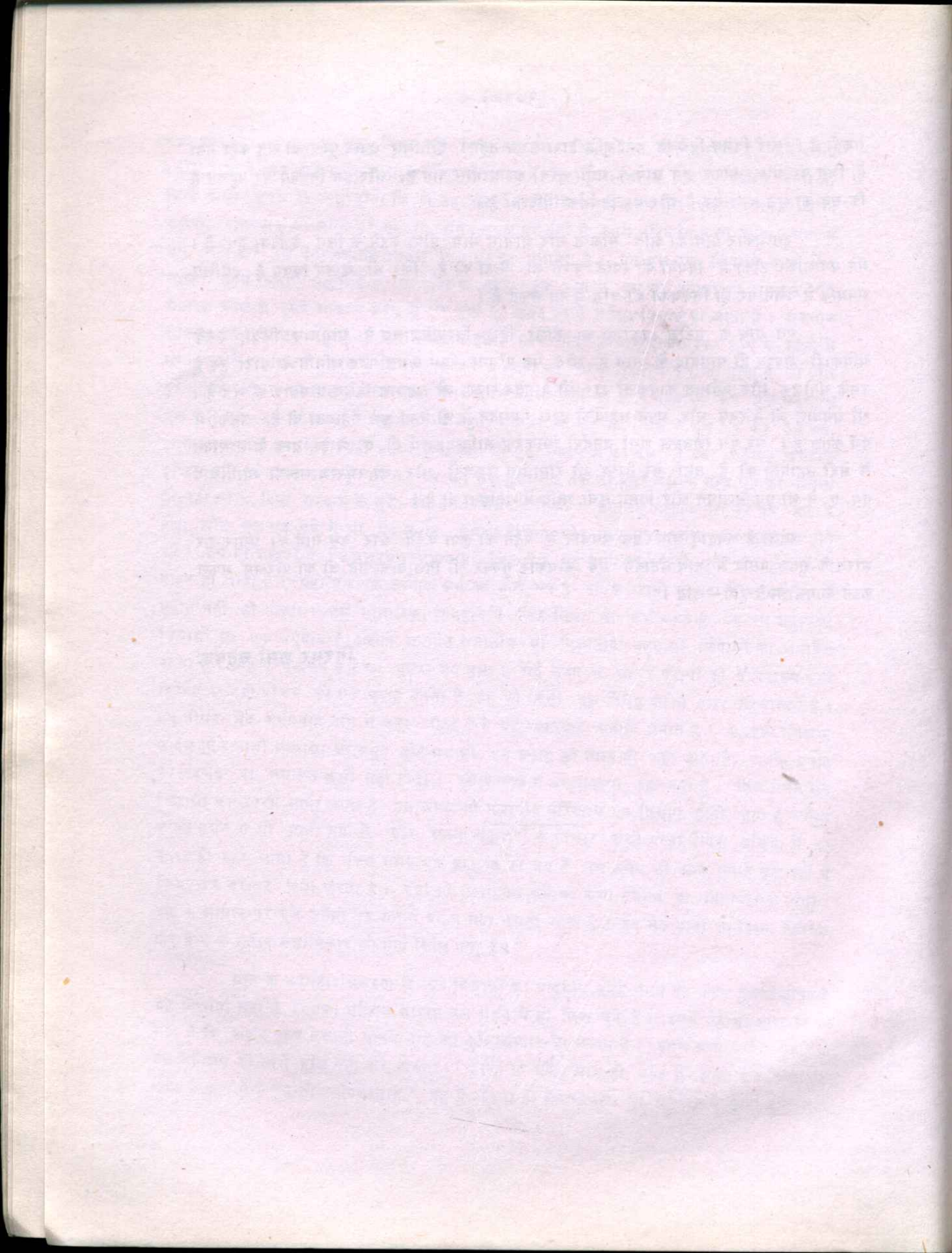
विषयानुक्रमणिका

संख्या	विषय (अवान्तरनिरूपणसहितः)	पृष्ठ संख्या

सिद्धान्तवादः

१	मङ्गलम्	१
२	प्रतिज्ञावाक्ये प्रस्तावना	२
३	वेदे चत्वारो विषयाः	२
४	नवीन ग्रन्थावश्यकता	२
५	नचिकेतसं प्रति यमोपदेशः	६
६	जिज्ञासावतारणम्	१०
७	षड् दर्शन समालोचना	१०-१७
८	सृष्टिकारणसम्बन्धे स्वर्गदेवानां दश मतानि	१८-१६
९	साध्यदेवानां दशमतेष्वादिब्रह्मणो विप्रतिपत्तिवादः	१६
१०	ब्रह्ममते सिद्धान्तवादाभ्युपगमः	१६-२२
११	महर्षेर्विश्वकर्मणः सिद्धान्तवादः	२२
१२	विश्वसृष्टौ दीर्घतमसः प्रश्नाभिनयः	२२-२३

ग्रन्थारम्भः

१	प्रथमाधिकरणम्	२५-२७
	शब्दोपपत्तिः	२७-२६
२	रसबलाधिकरणम्	२६-३३
३	संज्ञाधिकरणम्	३३-३५
४	निर्वचनाधिकरणम्	३५-३६
५	द्वैतो पपादाधिकरणम्	३६-४२
६	वि प्रतिपत्त्यधिकरणम्	४२-४८
७	वैधर्म्याधिकरणम्	४८-५७

संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
८	संसर्गाधिकरणम्	५७-७९
९	मायाधिकरणम्	८०-९०
१०	शक्त्याधिकरणम्	९०-९२
११	पुरुषाधिकरणम्	९२-१०६
१२	गद्यमयं पुरुषप्रपञ्चाधिकरणम्	१०६-१४१
१३	निर्विकाराधिकरणम्	१४१-१४७
१४	ब्रह्मदर्शनाधिकरणम्	१४७-१५८
१५	आत्माधिकरणम्	१५९-१६५
१६	सिंहावलोकनाधिकरणम्	१६५-१८०
१७	परधर्माधिकरणम्	१८१
१८	ज्योतिराख्याने मात्राविकाशाधिकरणम्	१८१-१८९
१९	संस्थाविकाशाधिकरणम्	१९०-२०४
२०	दीप्तिविकाशाधिकरणम्	२०४-२०८
२१	विधृत्यधिकरणम्	२०८-२२०
२२	प्रतिष्ठाधिकरणम्	२२१-२२८
२३	भूमाधिकरणम्	२२८-२३५
२४	आनन्दकारणताधिकरणम्	२३५-२३९
२५	अणिमाधिकरणम्	२४०-२४८
२६	रसभेदाधिकरणम्	२४८-२५७
२७	अथ दुःखसुखाधिकरणम्	२५७-२७५
२८	अथ मूलबलाधिकरणम्	२७५-२८५
२९	मतभेदाधिकरणम्	२८६-२९८
३०	प्रकृत्यधिकरणम्	२९८-३००
३१	बलदशाधिकरणम्	३००-३०८
३२	बलस्वापप्रबोधाधिकरणम्	३०८-३१८
३३	अशनायाधिकरणम्	३१८-३३७
३४	विक्षेपाधिकरणम्	३३७-३७४
३५	आवरणाधिकरणम्	३७४-३८७

अथ सांख्याभासाः

संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
३६	सत्वप्राधान्याधिकरणम्	३८८-३८९
३७	अपरं सत्त्वप्राधान्याधिकरणम्	३९०-३९७
३८	रजः प्राधान्याधिकरणम्	३९७-३९८
३९	अपरं रजः प्राधान्याधिकरणम्	३९८-४००
४०	तमः प्राधान्याधिकरणम्	४००-४०३
४१	अपरं तमः प्राधान्याधिकरणम्	४०४-४०६
४२	औत्पत्तिकत्रैगुण्यम्	४०६-४०९
४३	त्रैगुण्यपञ्चिकाधिकरणम्	४१०-४२०
४४	उत्पन्नशिष्टत्रैगुण्याधिकरणम्	४२०-४२३
४५	कर्मरूपाधिकरणम्	४२४-४२७
४६	प्रवाहाधिकरणम्	४२७-४३६
४७	उपासनाधिकरणम्	४३६-४४५
४८	सन्तानाधिकरणम्	४४५-४४८
४९	क्षणिकाधिकरणम्	४४८-४५१
५०	कर्मबन्धाधिकरणम्	४५२-४५४
५१	कर्मप्ररोहाधिकरणम्	४५४-४६२
५२	कर्मवृक्षाधिकरणम्	४६२-४६५
५३	उपसंहाराधिकरणम्	४६५-४७६

———

॥ श्रीः ॥

ब्रह्मविज्ञानशास्त्रे

(दशवादान्तर्गतः)

सिद्धान्तवादः

(ब्रह्मविद्यारहस्यम्)

(परा विद्या)

मङ्गलम्

(विद्यावाचस्पति मधुसूदन जी ओझा के विज्ञान शास्त्र में दशवाद के अन्तर्गत सिद्धान्तवाद-ग्रन्थ में ब्रह्मविद्या रहस्य प्रकरण में पराविद्या का निरूपण)

यो[1] निर्विशेषः स परात्परो भवन् निरञ्जनः सन्नुपसृष्ट ईक्ष्यते ।
हित्वोपसर्गं स निरञ्जनो भवन् परात्परः शिष्यत एव केवलम् ॥१॥

(सिद्धान्तवाद तथा उस पर स्व० महामहोपाध्याय पं० श्री गिरिधर शर्मा जी चतुर्वेदी द्वारा विरचित "सिद्धान्तप्रकाशिका" नामक संस्कृत टिप्पणी का श्री देवीदत्त चतुर्वेदी कृत हिन्दी अनुवाद)

जो निर्विशेष निराकार नाम, रूप रहित परब्रह्म, 'एकमेवाद्वितीयम्' माना जाता है, लोक सर्जन काल में वही परात् पर भाव में अवतरित होता हुआ मायाबल में सन्निविष्ट देखा जाता है, किन्तु माया के कोई गुण भाव उस में अंजित नहीं होते, अतः वह निरञ्जन भाव में ही प्रत्येक में आविष्ट रहता है और सर्गान्तकाल में जिन उपसर्गों के कारण वह जगत् भाव में आया था उन सारे उपसर्गों को समाप्त कर अपनी निज परात्पर अवस्था में महाप्रलय में भी शेष रहता है—सारा जगत् उस में ही लीन हो जाता है ।

महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी की सिद्धान्त प्रकाशिका टीका

१. इस मङ्गल पद्य के द्वारा जगत् का मूल कारण ब्रह्म है—उसका स्वरूप बताते हुए आगे ग्रन्थ में जो वर्णनीय विषय हैं उसका संकेत भी कर दिया ।

आरम्भ में श्री चतुर्वेदी जी ने भी मङ्गल पद द्वारा गुरु चरणों में प्रणाम किया है—

"प्रणम्य गुरुपादाब्जं सुगम्भीरास्तदुक्तयः ।
तच्छिक्षितेनाध्वनैव व्याक्रियन्ते विदां मुदे ॥"

श्री गुरु चरण कमलों में प्रणाम करके—गुरुदेव की उक्तियां जो परम गम्भीर हैं—उन को उन की ही बताई हुई प्रक्रिया से विद्वानों की प्रसन्नता के लिये स्पष्ट करने का यत्न किया जा रहा है ।

प्रतिज्ञावाक्ये प्रस्तावना

वैदिकविचारकानन-कान्तारेऽस्मिन् प्रवेष्टुकामानाम् ।
सुखतः प्रवेशिकेयं सरला पद्या विरच्यते श्रमतः ।।२।।

ग्रन्थ की प्रस्तावना करते हुए ग्रन्थकर्ता की प्रतिज्ञा—

वेद के विषयों का विचार एक बियाबान जङ्गल की खोज जैसा है—इस गहन कान्तार में जो विद्वान् प्रवेश करना चाहते हैं, उन की सुख पूर्वक गति के लिये बड़े परिश्रम से यह निष्कंटक सरल पगडंडी बनाई जा रही है ।।२।।

वेदे चत्वारो विषयाः

यज्ञश्च विज्ञानमथेतिहासः स्तोत्रं तदित्थं विषया विभक्ताः ।
वेदे चतुर्धा त इमे चतुर्भिर्ग्रन्थैः पृथक्कृत्य निरूपणीयाः ।।३।।

[२]यज्ञास्तु याज्ञे मधुसूदने स्मृताः ख्यातिष्वथो पञ्चसु वृत्तमर्पितम् ।
स्तोत्राणि वक्ष्यामि परत्र साम्प्रतं तद् ब्रह्मविज्ञानमिह ब्रवीम्यहम् ।।४।।

वेद में चार विषय

यज्ञ, विज्ञान, इतिहास और स्तोत्र वेद में ये चार विषय विभाग हैं, इन चारों का चार ग्रन्थों के द्वारा अलग-अलग निरूपण करना योग्य है ।।३।।

इन में यज्ञ का निरूपण 'यज्ञ मधुसूदन' नामक ग्रन्थ में किया गया है, पांच ख्याति ग्रन्थों में इतिहास बताया गया, स्तोत्रों का ग्रन्थ रूप निरूपण आगे किया जायगा, इस ग्रन्थ में अभी ब्रह्म विज्ञान स्पष्ट कर रहा हूँ ।।४।।

२. गुरुदेव ने पंच ख्याति-ब्रह्मविज्ञान, ब्रह्महृदय तथा यज्ञमधुसूदन ये चार महाग्रन्थ बनाये हैं और अवान्तर छोटे ग्रन्थ सौ से अधिक बनाये हैं ।

नवीन ग्रन्थावश्यकता

आलस्यजाज्ञानतमोभरेणातिवाहितं ब्राह्मण[३] वेदतत्त्वम् ।
मनः समुद्रे प्रतलावगाहादन्वेषितुं तत् क्रियते प्रयत्नः ।।५।।

विशालविज्ञानमिदं पुरा युगे मनीषिदेवर्षिवरैः प्रवर्तितम् ।
शाखाप्रशाखाभिरनेकभेदवत् कार्त्स्न्येन विज्ञातुमलं न शक्यते ।।६।।

यथोदितं ब्राह्मणवेदशास्त्रे क्वचित् स्फुटं वा क्वचिदस्फुटं वा ।
सर्वां तमर्थं नवयुक्तियोगाद् विलक्षणं संप्रति लक्षयामि ।।७।।

यद्यप्यहं शास्त्रमनु स्वबुद्धिं संचारयन्नेव विचारयामि ।
स्वबुद्धिमन्वेव तथापि शास्त्रं क्वचिन्नयामीति प्रतीयतेऽन्यैः ॥८॥

न चैष दोषो मम कालदोषाच्छ्रुत्यर्थसिद्धान्तगतोपपत्तेः ।
लुप्ता निबन्धा[२] इति गत्यभावान्न नः स यत्नोऽस्ति नितान्तगर्ह्यः ॥९॥

विद्वानों के स्वाध्याय में आलस्य के कारण उत्पन्न अज्ञान रूप गहन अन्धकार के प्रवाह में ब्राह्मण ग्रन्थ एवं वेदों का तत्वार्थ बहा दिया गया, उस ही तत्व को मन रूपी समुद्र के तल में घुसकर अर्थात् गहन मनन करके खोज निकालने का प्रयत्न किया जा रहा है ॥५॥

१. यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेदों के अन्तर्गत ही माने जाते हैं फिर भी ब्राह्मण शब्द का उल्लेख इसलिये किया गया है कि संहिता के मूल मन्त्रों में विज्ञान का संकेत मात्र होता है—उसका स्पष्टीकरण ब्राह्मण ग्रन्थों की आलोचना से ही होता है—अतः ब्राह्मण ग्रन्थों की तत्वार्थ ज्ञान में प्रधानता दिखाने के लिये ब्राह्मणवसिष्ठन्याय से—ब्राह्मण पद अलग से लिखा गया है। (ब्राह्मण आ गये वसिष्ठ भी आ गये—इस वाक्य में यद्यपि वसिष्ठ भी ब्राह्मण शब्द से गृहीत हैं तब भी पृथक् कथन उनकी प्रधानता बता रहा है—यह ब्राह्मणवसिष्ठन्याय कहा जाता है) । दूसरी उपपत्ति यह भी ब्राह्मण शब्द की बताई है कि आगे मूल में ही क्रिया को ही प्रधान मानने वाले श्रमण-बौद्ध और वेद को प्रधान मानने वाले ब्राह्मणों का उल्लेख होगा—उसका संकेत यहां ब्राह्मण पद द्वारा किया गया ।

प्रत्यक्षज्ञानी उदारचेता देवतामय ऋषिप्रवरों ने पूर्वयुग (वैदिक काल) में इस विशाल विज्ञान को प्रयोगों द्वारा प्रत्यक्ष कर के तत्कालीन समाज में प्रवृत्त किया था, आगे शाखा प्रशाखाओं से अनेक भेद हो गए अतः सम्पूर्ण भाव में इस को जान लेना सामर्थ्य के बाहर हो गया है ॥६॥

ब्राह्मण ग्रन्थ रूप वेदों में कहीं प्रकट रूप में और कहीं अप्रकट रूप में जिस विज्ञान का तात्विक उल्लेख है, अभिनव युक्तियों के सहयोग से सारे उन उन मन्त्रों के तात्विक अर्थ को कुछ विलक्षण सा अनुभव कर देख रहा हूं ॥७॥

मैं यद्यपि शास्त्रोक्त परिभाषाओं के अनुसार ही अपना बुद्धि संचार करता हूं, शास्त्रानुसार ही मेरे विचार हैं, किन्तु कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि शास्त्रों को मैं अपनी बुद्धि के अनुसार चलाना चाहता हूं ॥८॥

बात नई सी लगती है एतन्निमित्त उन के वैसे विचार होते हैं—(ग्रन्थकार कहते हैं) इसमें मेरा कोई दोष नहीं है क्योंकि काल योग से वेद के तात्विक सिद्धान्तों की सकारणता को बताने वाले निबन्ध ग्रन्थों का लोप होगया—अतः तात्विक विज्ञान भाव को जानने की कोई गति नहीं रही, ऐसी परिस्थिति में उन प्राचीन परिभाषाओं को प्रकाश में लाने का यत्न निन्दनीय नहीं कहा जा सकता । अतः उपेक्षणीय भी नहीं ॥९॥

२. वेद के जिन अङ्गों का लोप हो गया उनका गोपथ ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषत् में उल्लेख है जिसका टीका में उद्धरण है "इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः, सरहस्याः, सब्राह्मणाः, सोप-

निषत्काः, सेतिहासाः, सान्वाख्यानाः, सपुराणाः, सस्वराः, ससंस्काराः, सनिरुक्ताः, सानुशासनाः, सानुमार्जनाः, सवाकोवाक्याः" । (गोपथ० २ प्रपा० १० क०), तेरह अङ्ग ग्रन्थों का संकेत तो यहां हुआ, और छान्दोग्य में 'पित्र्यं राशिम्, दैवं निधिम्, देवविद्याम्, ब्रह्मविद्याम्, भूतविद्याम्, क्षत्रविद्याम्, नक्षत्रविद्याम्, सर्वदेवजनविद्याम् (छान्दो० ७।१।२) । आठ अङ्गों का संकेत यहां है । इन सब को वेदाङ्ग माना गया है, किन्तु ये अङ्ग तथा ये विद्याएं सारी इस समय प्राप्य नहीं हैं ।

ग्रन्थास्तु लभ्यन्त इहाद्य वैदिका ये ये तथा तेषु च यान् लभामहे ।
विज्ञान बिन्दून्[3] परितश्चितानिमान् संगृह्य तान् दर्शयितुं यतामहे ।।१०।।
वेदोक्तवादान् प्रतिपद्य तेषां समन्वयायैष कृतः प्रयत्नः ।
असाधु यत् तत्र स नः प्रमादो यत्साधु सर्वः स ऋषिप्रसादः ।।११।।
यथा तु यद् यावदिहोदितं मया निर्धारितं तत्वमिदं तथास्ति तत् ।
इति प्रतिज्ञा तु न मेऽस्ति केवलं विदां मतं देवयुगस्य[1] दर्श्यते ।।१२।।
यद्यन्मतं देवयुगे यथायथं सर्वं तदत्रैव निरूपितं मया ।
इति प्रतिज्ञापि न मेस्ति केवलं देवैः प्रहृष्टे पथि दृष्टिरर्प्यते ।।१३।।
ये वेदमन्त्रा अपि संहितायां नैषां न चास्याः कृतमत्र भाष्यम् ।
न तत् क्रमं चाप्यनुरुध्यकिञ्चिद् व्याख्यायते कश्चन वेदभागः ।।१४।।

आधुनिक भारत में वेद के विषय के जो जो भी ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं—उन में यत्र तत्र संकेतित विज्ञान अंशों का सब जगह से चयन करके—एकत्र संग्रह रूप में दिखाने का यत्न हम कर रहे हैं ।।१०।।

३. जगह जगह से चुनने का कारण—ऋषियों द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण यज्ञ को लक्ष्य कर, यज्ञ सम्बन्धी कर्म समुदाय के क्रम से हुआ है, अर्थात् अनेक क्रियाओं के समुदाय को यज्ञ कहते हैं—वहां जो कर्म किया जाय उसका मन्त्र होगा—फिर आगे होने वाले कर्म का—इस प्रकार क्रम होता है, वहीं कहीं कहीं उस कर्म को करने की, प्रकृति यज्ञ से सम्बन्धित तात्विक उपपत्ति बताने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में विज्ञान समाम्नात हुआ है और वह भी क्रम में नहीं, कहीं अन्यत्र प्रसंगवश कहा जाता है । अतः उपक्रमबद्ध विज्ञान कहीं एक जगह नहीं मिलता । मूल संहिताओं में ऋग्वेद संहिता ऋषियों के वंश क्रम से संहित है, यजुर्वेद संहिता यज्ञ के क्रम के क्रम से संहित प्रायः प्राप्त होती है—अतः क्रमबद्ध विज्ञान विद्या वहां भी नहीं मिलती—अतः मूल में 'परितश्चितान्' लिखा है, अर्थात् यत्र तत्र से अन्वेषण का महान् परिश्रम करना पड़ा ।

वेद कथित मतों मान्यताओं के अनुसार उन सब वादों का एकार्थ समन्वय कर के इस लुप्त विद्या को प्रकाश में लाने का यत्न किया गया है, इस में जो कुछ अयोग्य जान पड़े वह हमारा प्रमाद है और जो सुयोग्य ज्ञात होवे वह सब ऋषियों का प्रसाद है ।।११।।

मेरी यह प्रतिज्ञा नहीं है कि इस ग्रन्थ में जिस प्रकार से जो कुछ या जितना भी मैंने कहा है वह सर्वमान्य सिद्धान्तित परम तात्त्विक माना जाय, मेरे द्वारा केवल देवयुग के विद्वानों का मत दिखाया जारहा है ।।१२।।

१. भारत में जब वेद का खूब प्रचार था—वह काल ही देवयुग पद से कहा गया है ।

मेरी यह प्रतिज्ञा भी नहीं है कि देवयुग में जो जो मत जिस प्रकार से चल रहे थे उन सबका यथार्थ निरूपण मैंने इस ग्रन्थ में ही कर दिया है, केवल देवयुग के मनीषियों ने जिस मार्ग को साधिकार दिखाया है—उस प्रक्रिया पर ही दृष्टि डाली जारही है ।।१३।।

न तो संहिताओं का, न वेद के मन्त्रों का भाष्य इस ग्रन्थ में किया गया है और मन्त्रों के क्रम से या यज्ञकर्म के क्रम से भी किसी वेद भाग का व्याख्यान यहां नहीं किया गया है ।।१४।।

या[२] तु मता परिभाषा यान् सिद्धान्तान् महर्षयोऽवधृतान् ।
आलम्ब्यैतान् मन्त्रानाम्नासिषुरत्र ते प्रदर्श्यन्ते ।।१५।।
अत्रोक्तां परिभाषां सिद्धान्तान् वा प्रदर्शितानत्र ।
ये ज्ञास्यन्ति समस्ता भास्यन्त्येषां विशिष्य मन्त्रार्थाः ।।१६।।

आलोडिता यैः श्रमतो न वैदिका ग्रन्था न यैरत्र समाहितं मनः ।
सिद्धिश्च दैव्यस्ति न येषु ते हठादर्हन्ति नोत्क्षेपयितुं कुतर्कतः ।।१७।।

वैदिक ग्रन्थों को जानने की जो परिभाषा मानी गई, उस के अनुसार प्रयोग में लेकर महर्षियों ने जो निश्चित सिद्धान्त नियत किये और उनको आधार बनाकर वैज्ञानिक तत्व युक्त जिन मन्त्रों का उनने प्रणयन किया—उनकी ही विवेचना ग्रन्थ में दिखाई जारही है ।।१५।।

२. तपस्या में संलग्न ऋषियों की बुद्धि में परमेश्वर के अनुग्रह से सृष्टि रचना सम्बन्धी तात्विक सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ, उन ही सिद्धान्तों को ऋषियों ने मन्त्र रूप में प्रकट किया । इस विषय को ग्रन्थकर्त्ता ने महर्षिकुल वैभव नामक ग्रन्थ में प्रमाणों सहित प्रतिपादित किया है, उसका ही संकेत यहां किया है ।

इस गन्थ में जो परिभाषा बताई गई है—तदनुसार जो सिद्धान्त दिखाये गये हैं, उन परिभाषाओं को और उन कथित सिद्धान्तों को जो अवधान सहित जान लेंगे, उन को मन्त्रों का विशेष तात्विक अर्थ स्वयं भासित हो जायगा ।।१६।।

जीवन में जिनने वेद सम्बन्धी ग्रन्थों का परिश्रमपूर्वक, मन्थन रूप स्वाध्याय नहीं किया, उस अध्ययन के लिये कभी मन को समाधिस्थ भी नहीं किया, और न तपस्यापूर्वक कोई दैवी सिद्धि पा सके, वे केवल पूर्वाग्रहवश कुतर्कों का सहारा लेकर मिथ्या आक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं रख सकते ।।१७।।

व्याघाततो[३] वा पुनरुक्तितो वाऽनृतत्वतो वा न न तत्प्रमाणम् ।
प्राग् गौतमेनात्र समाहितत्वादाक्षिप्य नोत्क्षेप्यमिदं मदुक्तम् ।।१८।।
विज्ञानदृष्टया च परीक्षया च प्रपद्य देवैरुदिताः पुरार्थाः ।
तेषां परीक्षामधुना[४] त्वकृत्वा सिद्धान्तमात्रेण वदामि कांश्चित् ।।१९।।
मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य वर्य्या युक्तीः समस्ता अवधारयन्तु ।
क्षुण्णे तदित्थं पथि संचरन्तो[५] मार्गं परिष्कारमिमं नयन्तु ।।२०।।

यत्र प्रदर्श्या विषयाः पुरातना यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने ।
यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तयस्तद् ब्रह्मविज्ञानमिदं विमृश्यताम् ॥२१॥

इति ब्रह्मविज्ञानारम्भप्रतिज्ञा नाम प्रथमं वक्तव्यम् ॥१॥

अपनी उक्ति का स्वोक्ति से ही खण्डन रूप वदतोव्याघात दोष के कारण, पुनरुक्ति के कारण या मिथ्यात्व के कारण रूप तर्कों द्वारा आक्षेप किया जाता है और वस्तु को अप्रमाणित बताने की कोशिश की जाती है किन्तु मेरे इस ग्रन्थ पर यह अप्रामाणिकता नहीं आ सकती क्योंकि उक्त सारे दोषों का समाधान गौतम बहुत पहले कर चुके हैं—अतः उन तर्कों का उत्थापन तथा निराकरण यहां करना अनावश्यक है ॥१८॥

३. गौतम न्याय सूत्र में वेद पर उपरोक्त सारे आक्षेप जो किये जाते हैं, उनका सम्यक् समाधान कर दिया है—उस ही रीति से वेदार्थ के अनुवाद स्वरूप मेरे इस ग्रन्थ में भी सम्यक् समाधान कर लेना चाहिये—ये भाव हैं।

विज्ञान दृष्टि से अन्वेषण प्रक्रिया द्वारा प्रयोगात्मक परीक्षा करके तत्व पर अधिकार पा कर देवमय ऋषियों ने प्राचीन काल में विज्ञानार्थों को प्रकट किया था, इस समय उन ऋषियों की प्रक्रिया का परीक्षण तो नहीं किया गया—केवल कुछेक सिद्धान्तों को कह रहा हूं ॥१९॥

४. इस समय भारत में ऋषि प्रदर्शित विज्ञान की परीक्षा करने की सामग्री न मिलने से प्रयोगात्मक परीक्षा नहीं की जा सकती—यह भाव है।

श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषगण ईर्ष्या डाह युक्त मात्सर्य का परित्याग कर के सारी युक्तियों को अवधान पूर्वक देखें, बड़े परिश्रम से वेद रूप महाकान्तार में प्रवेश करने के लिये यह निष्कण्टक पद्धति बनाई गई है—इस में सावधानी से संचरण करते हुए आगे इस मार्ग का वृद्धि रूपेण परिष्कार करें ॥२०॥

५. मार्ग प्रदर्शन मैंने कर दिया है—अब आगे विद्वद्गण इस मार्ग पर चलते हुए गूढ वेद के रहस्यों का क्रमशः उद्घाटन करें—यह भाव है।

जिस 'ब्रह्म विज्ञान' में अति प्राचीन काल में व्यवहार में लिये जाने वाले विषयों का विचार है, अभिनव दृष्टि से विचार को प्रकट करने का तरीका नवीन है—जिसमें सर्वत्र युक्तियों सहित वेद मन्त्रों के प्रमाण दिये गए हैं—ऐसे इस 'ब्रह्म विज्ञान' को विद्वद् गण गम्भीरता से देखें ॥२१॥

नवीन ग्रन्थ की परम आवश्यकता से आरम्भ कर 'ब्रह्म विज्ञान' की निर्मिति रूप तथा ग्रन्थ का प्रथम प्रतिज्ञा रूप वक्तव्य पूर्ण हुआ ॥१॥

नचिकेतसं[1] प्रति यमोपदेशः

नचिकेता को यमराज का ब्रह्म उपदेश

१. इस विज्ञान विषय की महत्ता तथा गम्भीरता को प्रमाणित करने के लिये कठोपनिषत् का अंश यहां आरम्भ में उद्धृत कर दिया है।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते ।।१।।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरो ऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।२।।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ।।३।। (कठोप०)

हे नचिकेता ! इस जगत् में एक श्रेय मार्ग है और एक प्रेय मार्ग है । श्रेय अर्थात् कल्याणकारी आनन्दमय अन्तर्निगूढ आत्मा को प्राप्त कराने वाला मार्ग, प्रेय अर्थात् इन्द्रिय भोग रूप प्रत्यक्ष जगत् का ऐश्वर्य भोग ! इन दोनों के अनेक रूप हैं दोनों ही पुरुष से जुड़ते हैं, उनमें से श्रेय मार्ग को ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है, जो प्रेय मार्ग का वरण करता है, वह मानव जीवन प्राप्त करने की सार्थकता से वञ्चित हो जाता है—क्योंकि आहार विहार की बहुतायत को ही प्रेय कहा जाता है—यह तो पशुपक्षि योनि में भी हो जाता है—फिर सर्व श्रेष्ठ मनुष्य योनि प्राप्त करने की विशेषता क्या हुई ? ।।१।।

श्रेय और प्रेय ये दोनों मार्ग मनुष्य के समक्ष आते हैं उन दोनों का सम्यक् परीक्षण करके धीर पुरुष छांट करता है, धीर पुरुष श्रेय मार्ग को अपना जीवन लक्ष्य साधक मानकर अति प्रिय मानकर वरण करता है और जो मन्द बुद्धि केवल इन्द्रियाराम पुरुष है वह सांसारिक योगक्षेम को प्रिय मानकर प्रेय मार्ग का वरण करता है ।।२।।

नचिकेता तुम धीर पुरुष हो तुमने उन कामनाओं का परित्याग कर दिया—जो काम्य विषय, स्वरूपतः भी प्रिय मालूम देते हैं और भोग काल में भी प्रिय लगते हैं, उनके परिणाम का तुमने गहन विचार कर लिया है, इस धनरूपी मणिमयी संकड़ी (सोने की सांकल) में तुम नहीं फँसे—इस स्वर्ण नदी में तो बहुत विज्ञजन भी डूब जाते हैं ।।३।।
(कठोपनिषत्)

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्तः ।।४।।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।५।।

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।६।।

नचिकेता ! ज्ञान दो प्रकार का है, एक अविद्या रूप और एक विद्या रूप । ये दोनों रूप बड़े गहन हैं और एक दूसरे से नितान्त विपरीत हैं—अर्थात् विद्या है तो अविद्या नहीं, अविद्या है तो विद्या नहीं । अ-विद्या, अज्ञान के पेट में ज्ञान है—जैसे अ-लक्ष्मी के पेट में लक्ष्मी है । शरीर या शरीर से सम्बन्धित अन्य भोग्यवर्ग तत्सम्बन्धित मात्र ज्ञान को अविद्या कहते हैं । क्योंकि यह ज्ञान मर्त्य सम्बद्ध है । अमृत रूप में विराजमान शरीर में निगूढ आत्म चैतन्य का ज्ञान कराने वाली विद्या है । यमराज कहते हैं—हम समझ रहे हैं

नचिकेता ! तुम विद्या प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा कर रहे हो, हमने तुम को अनेक कामनाओं को पूर्ण कर देने वाले वरदान देने चाहे, लेकिन कोई भी कामना तुमको लुभा नहीं सकी ।।४।।

संसार चक्र में तो अधिकतर अविद्या में ही समय जाता है, किन्तु इस अविद्या का प्रभाव इतना तीव्र है कि वह अविद्या ग्रस्त विद्वान् अपने आप को धीर पुरुष तथा महा पण्डित मानता है। ऐसे लोग पारम्परित मूढ भाव में वैसे ही इधर उधर भटक कर जीवन व्यतीत कर देते हैं—जैसे एक अन्धे का सहारा लेकर चलने वाले अन्य अन्धे लोग ।।५।।

एक है आपात रमणीय दृष्टि और एक परिणाम रमणीय दृष्टि, ये दो प्रकार हैं संसार में, तो यमराज कहते हैं कि जो बालक हैं वे परिणाम को नहीं देख पाते, अर्थात् परिणाम न देख सकने वाला विद्वान् कहा जाने वाला भी बालक के समान ही है ! वह धन के मोह में पड़ा हुआ जीवनभर प्रमाद करता रहता है, इस लोक के अतिरिक्त परलोक कोई नहीं है यह मानने वाला वह बार बार वशीभूत होकर यमलोक में आता है ।।६।।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्यलब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।७।।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमनु प्रमाणात् ।।८।।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ।।९।।

संसार में बहुत से ब्रह्म की बात सुनना चाहते हैं—उनको ब्रह्म ज्ञाता कोई नहीं मिलता और यदि कोई ब्रह्मज्ञानी मिल जाय—ब्रह्म प्रवचन करे—उस प्रवचन को ध्यान से सुनने वाले भी उस ब्रह्म को जान नहीं पाते । आश्चर्य की बात तो यह है कि कोई ब्रह्म का प्रवचन करता है ! जबकि ब्रह्म वाणी से अतीत है, और जो कहता है कि उसने ब्रह्म को पा लिया, तो मानना पड़ेगा कि वह महाकुशल है ! नीरूप को उसने कैसे पा लिया ! जो सोचता है कि मैं ब्रह्म-ज्ञाता हूं, यह भी एक आश्चर्य ही है—जो मनसातीत है उसका ज्ञान कैसे हो गया ? और जिस शिष्य ने ब्रह्मज्ञान पाया वह, कुशल सच्चे गुरु के अनुशासन में रहने वाला सम्यक् अनुशासित है ।

दूसरे किसी मनुष्य के द्वारा उपदेश दिये जाने मात्र से तत्व ज्ञान नहीं होता, अपितु अनेकधा चिन्तन से इसकी प्राप्ति हो सकती है, अर्थात् श्रवण की आपूर्ति—मनन तथा निधिध्यासन पर होती है—वह स्वयं को ही करना होता है । तत्व ज्ञान अतिसूक्ष्म है तथा प्रमाणों के सहारे तर्क गम्य भी नहीं है—अतः दूसरे के उपदेश से न मिलकर नित्य साधना से स्वयं उदित होता है—यह अन्य प्रोक्त न होकर अनन्य प्रोक्त है ।।८।।

निदिध्यासन समाधि के द्वारा जिस गुरु ने तत्वाधिगम करके जो उपदेश किया हो, प्यारे नचिकेता उस उपदेश के विषय में—क्या है ? कैसा है ? ऐसा कैसे हो सकता है ?

आदि तर्क नहीं करने चाहिये, सद्गुरु के उपदेश की साधना से हो लाभ होता है। जीवन की इस सच्ची जिज्ञासा पर पहुँच गए हो तुम नचिकेता! आश्चर्य है कि (इस लोलुप संसार में) तुम में इतनी सच्ची धीरता है। हे नचिकेता! तत्वज्ञान के लिये तुमारे समान प्रष्टा कोई दूसरा नहीं होगा ॥९॥

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥१३॥

इति यमनाचिकेतसीय श्रुतिः ।

यमराज कहते हैं कि जो सीमाबद्ध है वह अनित्य है यह बात हम जानते हैं और अनित्य साधनों से वह नित्य तत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह भी सत्य है। इस कारण ही यह यज्ञरूप पञ्चाग्नि का चयन मेरे द्वारा हुआ है—यह अग्नि नाचिकेताग्नि के नाम से प्रसिद्ध होगा। इस यज्ञाग्नि के द्वारा अनित्य पदार्थों से भी मैंने उस नित्यतत्व को प्राप्त कर लिया। तात्पर्य है कि अनित्य पदार्थों को निज तृप्ति मात्र के लिये सेवन न करते हुए यज्ञ में उनका उपयोग करो—यज्ञ शेष का सेवन करो—बन्धक नहीं होगा, "यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" गीता भी यही कह रही है—अपनी कमाई को उचित रूप में विभक्त करके सेवन करो यह तात्पर्य है ॥१०॥

नचिकेता ने जिन अति लोभयुक्त भावनाओं को छोड़ दिया उनका विवरण यमदेव कर रहे हैं, जिनसे सब लौकिक कामनाओं की प्राप्ति हो जाय ऐसे वरदान, संसार की कीर्ति, नाना यज्ञीय कर्मकाण्डों का वैभव, उन यज्ञों में स्तुति मन्त्रों द्वारा किया गया प्रशस्त सोमपान, इन सबको मृत्युरूप भय से ग्रस्त देखकर इनका तुम ने त्याग किया— नचिकेता? और विवेकपूर्वक तुमने उस महान् निर्भय अमृततत्व को देखा है—उस अमृततत्व की ही वास्तविक महत्ता है—वही जीव को आदि अन्त प्रतिष्ठा है ॥११॥

वह अमृत मय पुराणपुरुष अतिगूढ होकर अन्तःशरोर में विराजमान है अतः अति कठिनता से उसका ज्ञानरूप दर्शन हो पाता है—वह गहन गुफा में छिपा है, गहन परोक्ष भाव ही उसको अभीष्ट है—उसको ही सब पाना चाहते हैं, मन, प्राण, बुद्धि की एकाग्र समाधि जिसे आत्मा से संबद्ध अध्यात्म योग कहते हैं, धीर पुरुष उस समाधि अभ्यास के द्वारा ही उस अमृत आत्म चैतन्यदेव की अनुभूति करता है, फलतः हर्ष और शोक दोनों से छुटकारा पा जाता है ॥१२॥

मृत्यु लोक के प्राणी को इस प्रकरण को सुनकर सावधानी से इसे ग्रहण करना चाहिये—साधना द्वारा धर्म की वृद्धि कर धर्मरूप इस अति सूक्ष्मतत्व का लाभ करना चाहिये, जो इस आनन्दरूप तत्व को पा जाता है—वह नित्यानन्द स्थिति में पहुँच जाता है—इस नाचिकेताग्नि को आनन्द का घर समझो इसका द्वार सबके लिए खुला है ।।१३।।

कठोपनिषत् यम नचिकेता सम्बन्धी वेदभाग का पूर्ण हुआ ।

जिज्ञासावतारणम्

सृष्टिविषयक जिज्ञासा की स्वाभाविकता

यद्[१]दृश्यते तत् किमु वा कदाऽभवत् कियत्प्रमाणं च किमस्य कारणम् ।
इत्थं बुभुत्सा स्वत एव जायते सा ब्रह्मसिद्धान्तत एति निर्णयम् ।।१।।

इस दृश्यरूप संसार का वास्तविक रूप क्या है ? ये कब बना ? ये कितना बड़ा है तथा इस संसार का मूल कारण कौन सा है ? यह सब जानने की इच्छा मनुष्य की स्वतः ही होती है । इस सबका निर्णय इस ब्रह्म सिद्धान्त ग्रन्थ के द्वारा हो जाता है ।

१. दीखने वाली दुनिया में सब की जिज्ञासा स्वभावतः प्रवृत्त होती है । उस जिज्ञासा निवृत्ति के लिये सृष्टि निरूपण आवश्यक है—यह ग्रन्थ निर्माण का प्रयोजन बताया गया ।

[२]षड् दर्शन समालोचना

प्रसिद्ध ६ दर्शन शास्त्रों की समालोचना

२. सृष्टि चक्र की जिज्ञासा निवृत्ति के लिये इस समय भारत में छह दर्शनशास्त्रों का प्रचार है । उसमें भी विरोधभाव है । कुछ विद्वान् वेदमान्य ६ दर्शनों की ही गणना करते हैं, और कुछ विद्वान् तीन अवैदिकदर्शन तथा तीन वैदिकदर्शन इस प्रकार ६ दर्शन मानते हैं । इन दर्शन-शास्त्रों के अवान्तर भेद भी बहुत हो गए हैं । इस विषय में दूसरा मत तीन वैदिक और तीन अवैदिक ही ग्रन्थकार को अभीष्ट हैं । अतः पहले दर्शनों की स्थिति दिखाकर पीछे विरोधी मतों की समालोचना की जायगी ।

[३]लोकायतमतमन्यद् वैना[४]शिकमतचतुष्टयं चान्यत् ।
[५]स्याद्वादिकद्वयं यद्वैशेषिक[६]मेकमस्ति मतम् ।।२।।
[७]प्राधानिकं चतुर्धा शारीरकमष्टधा[८] चेति ।
षड्दर्शनी प्रसिद्धा तद्ध्यर्वाक् कालिकं सर्वम् ।।३।।

चार्वाक दर्शन का मत भिन्न है । चार सिद्धातों को मानने वाले बौद्धों का मत भिन्न है । स्याद्वाद रूप जैनदर्शन दो सिद्धान्तों को मानने वाला है । वैशेषिक दर्शन एक वेद को ही मान्यता देता है ।।२।।

प्राधानिक नाम के सांख्य दर्शन की प्रवृत्ति चार प्रकार की है ? वेदान्त नामक शारीरिक दर्शन में आठ प्रकार की मान्यता है । विद्वानों में ये ६ दर्शन प्रसिद्ध हैं—ये सब नवीन काल की रचना है ।।३।।

३. लोकायत नाम का चार्वाक् दर्शन प्रथम दर्शन है—(यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् यह मान्यता है) बालबुद्धि वालों की तथा अशिक्षितों की बुद्धि सर्वप्रथम इस मान्यता में ही प्रवृत्त होती है।

४. दूसरा वैनाशिक नाम का बौद्ध दर्शन है—इसकी चार मान्यता हैं—१. सर्वशून्यता (शून्यवाद) १. विज्ञानास्तिता (बुद्धिवाद) ३. बाह्य पदार्थानुमेयता (बाहर के सब पदार्थ अनुमानमात्र हैं)। ४. आन्तर अर्थात् भीतर की दुनियां तथा बाहर दीखने वाली दुनिया दोनों की नित्य सत्ता है। इन चार सिद्धान्तों को मानने वाले चार मत बौद्धों में प्रसिद्ध हैं। शून्यतावादी–माध्यमिक कहे जाते हैं, विज्ञानवादीसौत्रान्तिक, अनुमानवादी योगाचार तथा उभय सत्ता मानने वाले वैभाषिक नामों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार बौद्धमत चतुर्धा विभक्त है।

५. स्याद्वाद नाम का जैनदर्शन तीसरा दर्शन है। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर इन भेदों में विभक्त है यह प्रसिद्ध है। ये तीनों दर्शन वेद को प्रमाण नहीं मानते अतः अवैदिक कहे जाते हैं।

६. चतुर्थ दर्शन जो वेद की प्रमाणता को स्वीकार करता है—वह काणाददर्शन अथवा वैशेषिक दर्शन है।

७. पंचम दर्शन प्राधानिक पद द्वारा सांख्यदर्शन बताया गया। इसमें चार मत हैं, सांख्यसूत्र तथा सांख्यकारिकाओं में निरीश्वरवाद है, प्रकृति ही प्रधान है—अतः ईश्वर को न मानने वाला सांख्य हुआ।

योगदर्शन का सांख्य केवल प्रणिधान–साक्षिभाव मात्र में स्थिति ईश्वर की मानता है—यह दूसरा सांख्य,मत है।

प्रकृति को सर्जन प्रेरणा करने वाले प्रेरक ईश्वर की सम्पूर्ण सत्ता सिद्ध करने वाला पुराणोक्त सांख्य जो पुराणों में बहुतायत से वर्णित है, यह तीसरा सांख्य है।

शिव–शक्ति और बिन्दु ये तीन पदार्थ जगत् के मूल कारण हैं यह मानने वाला तन्त्रागमोक्त चतुर्थ सांख्य है।

ग्रन्थकर्ता ने दशवाद रहस्य नाम का ग्रन्थ लिखा है, उसमें सांख्य के चार प्रकार इस तरह लिखे हैं, १. आर्षप्राधानिकं सांख्यम्, अर्थात् ऋषियों की प्रधानता वाला। २. योगप्राधानिकम्-योग विधि प्रधान। ३. राज प्राधानिकम्। ४. पुराण प्राधानिकम्। वहां राज प्राधानिक पद से आगमोक्त सांख्य का ग्रहण है।

८. वेदान्त नाम से प्रसिद्ध शारीरिक दर्शन छठा है। इसमें आठ मत मिलते हैं। १. मायाशक्ति की सहकारिता से अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादक श्रीशंकराचार्य द्वारा परिष्कृत। २. श्रीवल्लभाचार्य द्वारा परिष्कृत, किसी भी मौलिक शक्ति का सहारा न लेते हुए शुद्ध ब्रह्माद्वैत प्रतिपादक। ३. माया शक्ति विशिष्ट ब्रह्म (विशिष्टाद्वैत) का प्रतिपादक रामानुजाचार्य तथा शिवागमाचार्यों का मान्य। ४. किसी अवस्था में द्वैत किसी में अद्वैत इस तरह द्वैताद्वैत ब्रह्म प्रतिपादक श्री भास्कराचार्य तथा श्री निम्बार्काचार्य द्वारा स्वीकृत। ५. माया-ब्रह्म द्वैत को स्वीकार करने वाला श्री मध्वाचार्य निर्मित भाष्य। ६. माया से ब्रह्म भिन्न भी है और अभिन्न भी यह भेद-अभेद अचिन्त्य हैं अर्थात् बुद्धिगम्य नहीं है इस सिद्धान्त को स्थापित करने वाला श्रीचैतन्य गोस्वामी का भाष्य। ७. श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा परिष्कृत प्रत्यभिज्ञादर्शन

८. तन्त्रागम शास्त्रोक्त शक्ति अद्वैत—जहां शक्ति ही ब्रह्मस्वरूपिणी है। दशवादरहस्य नामक ग्रन्थ में आचार्यों के निर्मित ६. मत तो इस प्रकार ही बताये हैं, निर्विशेषाद्वैत शारीरक और ऐकात्म्यवाद शारीरक ये दो अलग से कहे हैं। इन दोनों का विवरण ग्रन्थकर्ता ने संशय-तदुच्छेदवाद नामक ग्रन्थ में किया है। इस तरह अन्य अवान्तर पश्चात् निर्मित भेदों को मिलाकर बीस दर्शन सिद्ध होते हैं। शारीरकविमर्श में तो अवान्तर भेदों से ३६ दर्शन ग्रन्थकार ने गिनाये हैं, उनका विस्तार वहीं देखना चाहिये।

[1]**अद्यत्वे तु न्यायं वैशेषिकसांख्ययोगमीमांसाः।**
वेदान्तं वा ब्रुवते दर्शनषट्कं तदज्ञानात् ॥४॥

[2]**वैशेषिकं च सांख्यं दर्शनमेतद्द्वयं मन्ये।**
तत्र जगत्कारणताऽणूनां प्रकृतेश्च दर्श्यते स्वैरम् ॥५॥

[3]**सांख्यं ज्ञानं योगस्तत्कर्मेत्येकमेव तच्छास्त्रम्।**
सांख्यप्रवचनसंज्ञं भेदस्त्वाचार्यभेदतो भ्रान्तः ॥६॥

सम्यग्दर्शनतो यत् सम्यग् ज्ञानं ततश्चरित्रं च।
सम्यक् स्यात् तत एव ज्ञानोदयतो विमुच्यतेऽस्यात्मा ॥७॥

अत एव प्रतिदर्शनमन्ते ह्युपदिश्यते क्रियायोगः।
आचार्येणैकेन हि सांख्ये त्वाचार्यभेदतः कथितः ॥८॥

आजकल ६ दर्शनों की गणना न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त कह कर की जाती है, यह मान्यता अज्ञान के कारण हो रही है ॥४॥

१. आधुनिक विद्वान् जिन षड्दर्शनों को मानते हैं— वे बताये गये-साथ ही खण्डन भी किया।

वैशेषिक तथा सांख्य ये दोनों वास्तव में दर्शन हैं, जगत् की कारणता का विचार दोनों में हुआ है, वैशेषिक अणुभाव को कारण मानता है, सांख्य में प्रकृति की स्वतन्त्र कारणता मानी है ॥५॥

२. आधुनिक विद्वान् जिन छह दर्शनों को मान्यता देते हैं, उनमें दो को ही दर्शन श्रेणी में मानना उचित है। सम्पूर्ण जगत् के कारणस्वरूप मूलतत्व की खोज करना दर्शनशास्त्र का उद्देश्य होता है—वह वैशेषिक और सांख्य में ही प्राप्त होता है। वेदान्त विषय में आगे कहेंगे।

सांख्य ज्ञान को कहते हैं, योग उस ज्ञान को प्राप्त करने की क्रिया है—अतः सांख्य-योग एक ही शास्त्र है—उसे सांख्य ही कहना उचित है। दो आचार्यों के भेद के कारण भ्रान्तिवश दो दर्शन माने जाने लगे हैं ॥६॥

३. योग की अलग से दर्शन मानने की मान्यता का खण्डन कर रहे हैं। सब दर्शनों में क्रम यह है कि पहले ज्ञानोपयोगी तत्वों का प्रतिपादन किया जाता है आगे उसही आचार्य द्वारा तदनुकूल क्रियायोग दिखाया जाता है। सांख्य विषय में आचार्यों में भेद हो गया है—यहां भगवान् कपिल ने तत्वज्ञान का विवरण किया है और भगवान् पतञ्जलि ने उसही तत्वज्ञान का अनुवाद कर तत्संबन्धी क्रियायोग का विस्तार से प्रतिपादन किया है। इस तरह आचार्यों के भिन्न होने पर

भी तत्व निरूपण दोनों में एक ही प्रकार का है – अतः योग की पृथक् दर्शनता सिद्ध नहीं होती यह भाव है। आचार्य कपिल ने सृष्टि प्रक्रिया के उपयोग में आवश्यक न होने से ईश्वरसत्ता को स्वीकार नहीं किया है और आचार्य पतञ्जलि ने साक्षिभाव में स्वीकार किया है—यह अवान्तर भेद मात्र गिना जायगा—इससे योग को पृथक् दर्शन नहीं माना जा सकता। जगत् के कारणता-रूप मूलतत्व के विषय में तथा, जगत् की उत्पत्ति की प्रक्रिया के रूप में कोई भेद उन दोनों में नहीं है, यही कारण है कि आप्त जनों ने योग की 'सांख्य प्रवचन' संज्ञा मानी है। अथवा क्रिया के विस्तार के कारण योगशास्त्र को सब दर्शनों का उत्तर अंग मानना चाहिये। दर्शनों में तो योग की गणना उचित नहीं है।

प्राकृतिक नियम यह है कि शास्त्र के समुचित स्वाध्याय से सम्यक् ज्ञान का लाभ होता है, फिर उस ज्ञान के अनुसार आचरण करने से तात्विक ज्ञान का सहज उदय होता है तब आत्मा का शरीर बन्धन से सदा के लिए छुटकारा हो जाता है ।।७।।

इस ही हेतु प्रत्येक दर्शन के अन्त में तत्संबन्धी क्रियायोग का उपदेश किया जाता है। सब जगह एक ही आचार्य के दोनों कार्य होते हैं सांख्य में दो आचार्यों के भेद के कारण पार्थक्य हो गया है– वास्तव में कोई भेद नहीं है ।।८।।

[१]न्यायोऽस्ति तर्कशास्त्रं तर्कन्यायः कथाशास्त्रम्।
सन्ति पदार्थाः षोडश तत्र प्रोक्ताः कथाङ्गानि ।।९।।

न्याय दर्शन नहीं है अपितु तर्कशास्त्र है। तर्करूप न्याय वाद करने का प्रकार मात्र है, सोलह पदार्थ न्याय में माने जाते हैं– उनमें वाद के अङ्ग बताये गये हैं ।।९।।

१. जैसे योगशास्त्र सब दर्शनों का उत्तराङ्ग है, वैसे ही गौतमीय न्यायशास्त्र सब दर्शनों का पूर्वाङ्ग है। न्याय में कथारूपवादविचार के नियमों का निर्देश है। निराधारवाद विचार संभव नहीं होता इसलिए उदाहरण के रूप में बारह प्रमेय आत्मा आदि ले लिए गये हैं। उनके विषय विचार में कणाद कथित सिद्धान्त ही कथा के प्रकार से पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के द्वारा दृढ़ किये गए हैं—अतः गौतमीयशास्त्र तर्कन्याय है। तर्कन्याय का तात्पर्य है, तर्क का अर्थात् तत्वज्ञान के लिए समुदायगत पदार्थों का न्याय-नीति-नियमन, वाद का विचार एक नियत प्रकार से करना मात्र है। यह न्यायदर्शन के पूर्वाङ्ग रूप में स्वीकार किया जा सकता है–इसकी दर्शनों में गणना नहीं हो सकती, क्योंकि जगत् के मूल कारण विचार के सिद्धान्त, कणादोक्त वैशेषिक दर्शन के ही न्याय में भी मान्य हैं। भाष्यकार वात्स्यायन ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि गौतम कथित सोलह पदार्थ कथा के अङ्ग मात्र ही हैं। यह कहा जा सकता है कि नव्य न्यायवादी जो यह घोषणा करते हैं कि गौतम सोलह पदार्थ मानने वाले हैं और कणाद सात पदार्थ मानने वाले हैं– यह उनका उद्घोष सम्यक् विचारपूर्ण नहीं है। जगत् के पदार्थों की गणना में कोई भी विचार-शील विद्वान् प्रमाण, संशय, वाद, जल्प, हेत्वाभास आदि की गणना अलग से नहीं कर सकता, क्योंकि इस तरह तो अनन्त पदार्थ मानना पड़ जायगा—यह आनन्त्य हटाना कठिन हो जायगा। भगवान् गौतम ने बारह प्रमेयों का विचार मोक्ष के उपयोगी रूप में परिगणित किया है, क्योंकि परिकर सहित आत्म तत्वज्ञान को ही मोक्ष का साधक माना गया है। बारह पदार्थों में आत्मा

के अतिरिक्त ११ पदार्थ, आत्मा के परिकर रूप में ही ग्रहण किए गए हैं यह सब भाष्यकार ने स्पष्ट कर दिया है । जगत में बारह ही पदार्थ हैं यह अभिप्राय भी गौतम का नहीं है, केवल १२ पदार्थ ही मान लेने पर तो आकाश, काल आदि द्रव्यों का तथा गुरुत्व, अदृष्ट आदि गुणों का सर्वथा ग्रहण ही नहीं हो सकेगा । सूत्रकार ने अर्थ इस पद से इन्द्रियों से संबद्ध पदार्थों का ही ग्रहण करना चाहिये यह व्याख्या की है । इस ही तरह यह कहना कि गौतम, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को मानते हैं और कणाद प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो को ही मानते हैं, यह कथन भी वाणी का विनोद मात्र है, वास्तविकता इसमें कुछ भी नहीं है । भगवान् कणाद ने उपमान और शब्द को अप्रमाण नहीं माना है—वेद प्रमाण को उनने सर्वत्र मान्यता दी है । अनुमान में ही उन दोनों प्रमाणों का अन्तर्भाव मान लिया है इस तरह लक्षण मात्र में विचार भेद है । पीलुपाक, पिठर पाक आदि विप्रतिपत्ति भी सूत्राक्षरों में उल्लिखित नहीं हैं, ये विप्रतिपत्ति पश्चात् कालीन विद्वानों की ही हैं । इनको यदि मान भी लिया जाय तो इतने से विचार भेद मात्र से भी वैशेषिक दर्शन के ही अवान्तर दो भेद माने जा सकते हैं, गौतमीय न्यायशास्त्र की पृथक् दर्शन रूप में मान्यता संभव नहीं है—क्योंकि जगत् के मूल कारण निरूपण में कणाद के विचारों से भेद नहीं आता, यह विचारणीय है । अतः वाद का ही दूसरा नाम जो कथा कहा जाता है—उसके नियमों का प्रतिपादक मात्र न्याय है—यह पृथक् दर्शन नहीं है ।

दार्शनिकानां द्वादश विवादविषयान् क्रमादुदाहृत्य ।
वादकथाया रूपं शिक्षितमस्मिन् न दर्शनं तत्स्यात् ।।१०।।

[1]कर्म ब्रह्मविभागाद् ब्राह्मणवेदे द्विधास्ति काण्ड[2] यत् ।
तद्वाक्यार्थविचारन्यायो मीमांसनं नाम ।।११।।

षोडशलक्षण्या सा मीमांसा काण्डयोर्द्वयोर्विहिता ।
आचार्यभेदतोऽत्र द्वैविध्यं भ्रान्तमेकशास्त्रं तत् ।।१२।।

ब्रह्म च कर्म्म च विषयौ शास्त्रार्थत्वेन चिन्तितौ तत्र ।
व्यापकविश्वविचारो नायं तस्मान्न दर्शनं तत्तत् ।।१३।।
यज्ञादीनि मनुष्याः स्वर्गार्थं यानि कर्माणि ।
कुर्वन्ति तत्र विधिवाक्तात्पर्यस्येह मीमांसा ।।१४।।

न्याय शास्त्र में दार्शनिकों के आत्मा आदि बारह विवाद विषयों को क्रमशः उद्धृत करके, तर्क रूप कथा किस प्रकार करना चाहिए इसका प्रकार सिखाया गया है यह दर्शनों की गणना में नहीं आ सकता ।।१०।।

कर्म विचार और ब्रह्म विचार इन दो भागों में ब्राह्मण ग्रन्थ रूप वेद के दो काण्ड हैं । उनमें आये हुए वाक्यों की अर्थ संगति जिस नियम से की जाती है उस प्रक्रिया का नाम मीमांसा है ।।११।।

१. कर्मविचारपरक पूर्व मीमांसा तथा ब्रह्मविचारपरक उत्तर मीमांसा भी दर्शनों की गणना में नहीं आ सकती—उन दोनों का वाक्यार्थ विचार मात्र में उपयोग है । यह तात्पर्य है ।

२. दो काण्ड—कर्मकाण्ड (पूर्व मीमांसा), ज्ञान काण्डउत्तर मीमांसा ।

सोलह लक्षण युक्त यह मीमांसा शास्त्र दो काण्डों का बनाया गया था, आचार्यों की पृथक्ता के कारण भ्रान्ति वश दो विधा बताई जाती हैं मीमांसाशास्त्र की, वास्तव में वह एक ही शास्त्र है ।।१२।।

जब ब्रह्म का और कर्म का विचार पूर्वोत्तर मीमांसा में है तो फिर वह दर्शन क्यों न माना जाय ? उसका ही उल्लेख कर रहे हैं कि मीमांसा शास्त्र में ब्रह्म और कर्म को शास्त्रार्थ अर्थात् वाद का विषय बनाकर चिन्तन किया गया है—सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण अनुसंधानरूप व्यापक विश्वविचार इसमें नहीं है अतः पूर्वोत्तर मीमांसा दर्शन गणना में नहीं आती ।।१३।।

स्वर्ग प्राप्ति के लिए मनुष्य जो यज्ञ आदि कर्म करते हैं—उसमें वेद का वाक्य कब, कहाँ, किस विधि की आज्ञा दे रहा है-यह विधि वाक्य निर्णय मीमांसा का विषय है ।।१४।।

उपनिषदां वाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्यमस्ति नान्यत्र ।
इति वक्ति भिक्षुसूत्रं तत्र जगन्मूलचिन्तनं गौणम् ।।१५।।

[1]एवमपीदं ब्रह्माद्वैतं विश्वस्य मूलमिह शास्त्रे ।
उपदिष्टमस्ति तस्माच्छारीरक दर्शनं क्रमाद्[2] ब्रुवते ।।१६।।

वेदान्ता उपनिषदो विज्ञानं ब्रह्मणः श्रौतम् ।
स्मार्तानि दर्शनानि तु षडतः शारीरकं[3] तेषु ।।१७।।

उपनिषदों के वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्मविषय के विचार में ही है अन्य किसी विचार में नहीं है—यह मन्तव्य मात्र भिक्षु सूत्र का भी है, व्यापक विश्वमूल की चिन्तना वहाँ भी गौण रूप में ही हुई है ।।१५।।

उत्तर मीमांसा की गणना दर्शनों के क्रम में फिर भी इसलिये की गई है कि इस शास्त्र में विश्व का मूलाधार एक मात्र ब्रह्म को ही माना है—वैसा ही उपदेश है अतः शारीरक अर्थात् वेदान्त दर्शन क्रम में वह परिगणित हुआ है ।।१६।।

१. यदि मीमांसा शास्त्र की गणना दर्शनों में नहीं है तो आपने स्वयं शारीरक के आठ प्रकार दर्शनों में कैसे गिनाये हैं ? निज सिद्धान्त को दिखाते हुए इसका समाधान करते हैं कि, उत्तर मीमांसा में वाक्यार्थ विचार के साथ-साथ कर्म की सकारण उपपत्ति (योग्यता) दिखाते हुए जगत् के मूल का विचार किया गया है—अतः उत्तर मीमांसा दर्शनों में गणना करने योग्य है । पूर्व मीमांसा में केवल यज्ञ कर्मविषय का वाक्यार्थ विचारमात्र है—संसार के मूल का चिन्तन वहाँ नहीं है अतः वह दर्शनान्तर्गत नहीं मानी जाती । पूर्व मीमांसा में भी कहीं जगत् के पदार्थों में जो पारस्परिक असंगति रूप विप्रतिपत्ति दिखाई गई है—उसका आधार भी सूत्रग्रन्थ में नहीं है, भाष्यकार ने संभावना मात्र प्रकट की है, निबन्धकारों ने उसका विवरण किया है, इससे स्पष्ट है कि पूर्व मीमांसा में सूत्रकार की जगत् की मूल विवेचना में कोई प्रवृत्ति नहीं है—अतः पूर्व मीमांसा दर्शन नहीं है । व्यासजी निर्मित सूत्रों में तो वाक्यार्थ विचार की संगति भी है और जगत् के मूल कारण का पूर्ण विचार भी है अतः व्याससूत्र मीमांसा शास्त्र भी हैं और दर्शन

भी हैं। न्यायशास्त्र और पूर्वमीमांसाशास्त्र चतुर्दश विद्याओं में परिगणित हैं—अतः वो विद्या विशेष ही हैं। विद्या और दर्शन शब्दों का विषय भेद यह है कि, संयत तथा सम्यक्पदार्थ विवेचना को प्रस्तुत करने वाली शब्द प्रधान विद्या होती है। श्रवण-मनन आदि के क्रम में विद्या श्रवण योग्य मानी जाती है। उन सुने या पढे हुए शब्दों का तर्क की प्रधानता रखते हुए जो मानस मनन होता है--यह दर्शन कहलाता है। श्रवणीय विद्या, मननीय दर्शन। यहां पहले बताये हुए छह दर्शन पृथक् पृथक् ही गिने जाते हैं।

२. दर्शन क्रम विवेचना—नास्तिक तीन दर्शन और आस्तिक तीन दर्शन जो लोकायतादि शारीरक पर्यन्त पहले क्रमबद्ध गिनाये गये हैं--उस क्रम का हेतु यह है कि मानव बुद्धि सहज रीति से अतिसूक्ष्मतत्व ज्ञान में प्रवेश नहीं कर सकती--अतः स्थूल ज्ञानान्तर सूक्ष्म ज्ञान, फिर और भी गहन सूक्ष्म भाव ज्ञान यह क्रमविन्यास किया गया है। यह सूक्ष्म विवेचना क्रम भी शारीरक नाम से कहे जाने वाले वेदान्त दर्शन में पूर्णतया समाप्त हो जाता है, वेदान्त से अधिक सूक्ष्म विज्ञान संभव नहीं है। यही कारण है कि उसे वेदान्त कहा जाता है अर्थात् वेद के ज्ञान की वहां अन्त सीमा है--अतः वेद अन्त, वेदान्त है। उस क्रम को पूर्ण करने के लिए शारीरक गणना आवश्यक थी अतः अन्त में गणना की गई है।

वेदान्त ग्रन्थ, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि ब्रह्म के श्रुति संगत प्रतिपादन के कारण विज्ञान गणना में आते हैं तथापि स्मृति रूप होने के कारण इनको दर्शन भी कहा जाता है—ये छह हैं, इन में ही अन्त में शारीरक दर्शन है ।।१७।।

३. ग्रन्थकर्त्ता ने 'शारीरक विमर्श' नाम का ग्रन्थ लिखा है—उसमें बताया है कि--वैशेषिक तथा सांख्य दर्शन, शारीरक कहा जाने वाला वेदान्त और गीता, ये हथेली में रखे आँवले के समान आत्मतत्व को दिखाने वाले हैं—अतः विज्ञान परिभाषा में आते हैं, फिर इनकी गणना दर्शनों में क्यों की जा रही है--इसकी संगति बताते हैं कि विज्ञान भी स्मृति रूप होने से दर्शनों में भी गिना जाना चाहिए--यह भाव है। स्मृतियां मुनिजनों ने बनाई हैं यह कहा जाता है। कपिल आदि के समान व्यास निर्मित सूत्र भी स्मृति रूप ही हैं--अतः दर्शन हैं।

दशविज्ञान प्रस्तावना

[४]लोकायतादिदर्शनषट्कं यद् दृश्यतेऽद्यत्वे ।
अर्वाचीनयुगे तद् भारतवर्षे मनीषिभिः क्लृप्तम् ।।१८।।

[५]इह तु वयं यां ब्रूमो दशविज्ञानीं पुरातनीं सा तु ।
स्वर्गे देवैर्दृष्टा वेदग्रन्थेऽवतारिता धन्या ।।१९।।

[१]षण्णां तु दर्शनानां यस्मिन् काले पुरोद्भवो नासीत् ।
तर्हि स्वर्गे लोके दशविज्ञानप्रचारणं शृणमः ।।२०।।

तानीदानीं लोके विज्ञानानि प्रचारयितुम् ।
[२]वेदग्रन्थसमूहादुद्धृत्यात्र प्रदर्श्यन्ते ।।२१।।

देवयुग के दशविज्ञानों का आरम्भ

लोकायत आदि छह दर्शन जो आजकल उपलब्ध हो रहे हैं वे सब नवीन युग में भारत में मनीषी महाविद्वान् पुरुषों द्वारा निर्मित हुए हैं ॥१८॥

४. जगत के मूल निरूपण में जैसे आजकल छह दर्शन व्यवहार में आ रहे हैं वैसे ही प्राचीन युग में दश विज्ञान प्रचलित थे। दृष्टान्त दिखाने के लिए ही यहाँ छह दर्शनों का संकेत किया है—यह तात्पर्य है।

इस ग्रन्थ में हम जिस दश विध विज्ञान की विचारणा प्रस्तुत कर रहे हैं—वह अति पुरातनी है। स्वर्ग में देवताओं ने इसका अन्वेषण किया था, यह अति प्रशस्त विज्ञान धारा देवताओं की कृपा से प्राप्त कर, ऋषियों द्वारा वेद ग्रन्थ रूप में अवतरित हुई है ॥१९॥

५. ग्रन्थकार ने 'देवासुर ख्याति', स्वर्ग सन्देश, दश वाद रहस्य और इन्द्र विजय नाम के निज निर्मित ग्रन्थों में पुष्ट प्रमाणों द्वारा प्रतिपादन किया है कि प्राचीन युग में इस भूमि पर भी त्रिलोकी कल्पित हुई थी। उसमें हिमालय से उत्तर में शर्यणावत पर्वत से आरम्भ करके स्वर्ग लोक की स्थापना की गई थी, उस स्वर्ग में निवास करने वाले देवताओं में वेद सम्बन्धी विज्ञान विचार सर्वप्रथम प्रवृत्त हुआ था। वहां ही निवास करने वाले महर्षियों ने तपस्या द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर उनसे वह विज्ञान प्राप्त कर यहां प्रचलित किया था। यह तात्पर्य है।

उस प्राचीन युग में इन आधुनिक षड् दर्शनों की उत्पत्ति भी नहीं थी। उस समय में भी उस स्वर्ग लोक में दश विध विज्ञानों का प्रचार सुना जाता है ॥२०॥

१ जिन विज्ञानों को ग्रन्थ में निरूपित किया जायगा वे आधुनिक प्रचलित दर्शनों से अतिपुरातन हैं। यह तात्पर्य है।

देव युग के उन विज्ञानों का आधुनिक काल में प्रचार करने के हेतु अनेक वेद ग्रन्थों में से उन्हें खोज कर इस ग्रन्थ में उद्धृत किया जा रहा है ॥२१॥

२. ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में (ऋ. सं. १० मं. १२९ सू०) इन दश विज्ञान वादों का संकेत किया गया है। अन्यत्र अन्य मन्त्रों में तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रसंग प्राप्त उन विज्ञानों का विवरण तत्तत् स्थानों में मिलता है। उन सब का क्रम बद्ध संग्रह करके ग्रन्थकार ने दश ग्रन्थों में प्रकाशित किया है। वे ग्रन्थ हैं—१ सदसद्वाद २ रजोवाद ३ व्योमवाद ४ अपरवाद ५ आवरणवाद ६ अम्भोवाद ७ अमृत मृत्युवाद ८ अहोरात्र वाद ९ दैववाद १० संशयतदुच्छतेद वाद। इन सब का एकत्र संग्रह रूप दशवाद रहस्य नाम का एक लघु ग्रन्थ भी बनाया है—जिसमें उक्त दशवादों का संक्षिप्त विवरण किया गया है।

सब वादों का समन्वय रूप जो सिद्धान्तवाद ब्रह्मा ने स्थापित किया था उसकी व्याख्या इस ग्रन्थ में की जा रही है। इस ही, हेतु दशवाद का आरम्भिक प्रतिज्ञा का श्लोक यहां भी उद्धृत किया गया।

सृष्टिकारणसम्बन्धे स्वर्गदेवानां दश मतानि

प्रतना: साध्या[3] देवा विप्रतिपन्नास्तु सृष्टिमूलेऽस्मिन् ।
(१) सदसद्भ्यां विदुरेके (२) ऽमृतमृत्युभ्यां परे विदुः सृष्टिम् ।।२२।।

(३) अन्येऽहोरात्राभ्या (४) मावरणा (५) दम्भसोऽथ (६) रजसोऽन्ये ।
(७) व्योम्नो (८) ऽपरतः केचित् (९) दैवादपरेऽभिमन्वते सृष्टिम् ।।२३।।

इत्थं विप्रतिपत्त्या (१०) संशयमातन्वते[4] त्वन्ये ।
परितोषो न परस्परविरुद्धवादेषु जायते तेषाम् ।।२४।।

[1]अथ परमेष्ठी ब्रह्माप्रजापतिस्तान् विरुद्धमतवादान् ।
प्रत्यालोचयमानः प्रत्याचष्टे स्म तत्तदैकान्त्यम् ।।२५।।

आदौ निरस्य तेषामेकान्तत्वं प्रपद्य च ब्रह्म ।
सृष्टेमूंलं तस्मिन् समन्वयं मन्यतेऽमीषाम् ।।२६।।

सृष्टि के मूल कारण अन्वेषण प्रसङ्ग में स्वर्गस्थ देवताओं के दशमत

अति प्राचीन साध्य नाम के देवगण सृष्टि की मूल कारण जिज्ञासा में परस्पर सहमत न हो सके, सबके विभिन्न मत इस विषय में रहे ।।२२।।

३. वे स्वर्ग निवासी देवगण उस अति प्राचीन देव युग में साध्य नाम से प्रसिद्ध थे, अर्थात् देवताओं को उस समय साध्य कहा जाता था, सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त में 'यत्र पूर्वे साध्याः सन्तिदेवाः' इस मन्त्रांश से इसका स्पष्ट संकेत किया है ।
दशवादों के विषय में देवताओं के विभिन्न मत—१ कुछ कहते हैं सत् सृष्टि का मूल, है, कोई असत् को मूल बताते हैं, किसी के मत में सत् असत् दोनों मिलकर सृष्टि के कारण हैं । २ अमृत तथा मृत्यु को कोई मूल मानते हैं अर्थात् एक नित्य अनश्वर और एक अनित्य नश्वर इन दोनों से सृष्टि हुई है ।

३ अन्य कोई अहोरात्र रूप काल को मूल मानते हैं । ४ कोई आवरण (माया) को कारण बताते हैं । ५ कोई सृष्टि का मूल जल को बताते हैं। ६ कोई रजः कणों को मूल मानते हैं । 'रज के शुक्ल कृष्ण रूप में विभाग भी माने गये हैं । कोई आकाश को मूल बताते हैं— पर व्योम और अपर व्योम रूप में आकाश को दो विभागों में विभक्त मानकर अपरव्योम से सृष्टि हुई ऐसा मानते हैं । ८ कोई अपर को केन्द्र मानकर पररूप सृष्टि को बताते हैं । ९ कोई देवताओं को कारण रूप मानते हैं ।।२३।।

१० कोई जगत् के मूल कारण का निश्चय न जान कर संशय में ही रहे हैं । इस तरह विभिन्न मतों के कारण परस्पर विरुद्ध वादों से उन देव गणों में सृष्टि मूल के विषय में परितोष नहीं हो पा रहा था ।।२४।।

४. संशयवाद—कब हुई सृष्टि, कहां हुई, कैसे हुई, किस रूप में हुई आदि संदेह में ही रहे ये तात्पर्य है— इस संदेह को ही वाद रूप दे दिया गया ।

सृष्टि के विषय में इन सबको अनिश्चय अवस्था में विप्रतिपन्न जानकर परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्मा ने इन सब मतों की सम्यक् आलोचना करके—इन सबको एकांगी मानकर इनका प्रत्याख्यान किया ।।२५।।

५. इन साध्य देवताओं में परमेष्ठी ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुए थे। उनने इन पृथक्-पृथक् दशवादों का निरसन करके सबका समन्वय रूप एक सिद्धान्तवाद स्थापित किया। यह विषय ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (ऋ. सं. १०।१२९) में मिलता है—अतः वह सूक्त यहां उद्धृत किया गया है।

ये मत एक-एक अंश मात्र का विचार कर रहे हैं—इस विचार से उन सबका ब्रह्मा ने प्रथम निषेध किया और वास्तव में सृष्टि का आधार ब्रह्म को मानकर—उस ब्रह्म भाव में ही इन दस वादों का समन्वय कर दिया ।।२६।।

साध्यदेवानां दशमतेष्वादिब्रह्मणो विप्रतिपत्तिवादः

(१) नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद् (२) रजो नो (३) व्योमा (४) परो यत्।
(५) किमावरीवः कुह कस्य (६) शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।।
(ऋ० सं० १०।१२९।१)

न (७) मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न (८) रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। (२ म० पूर्वार्ध)
(९) अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना (१०) ऽथा को वेद यत आबभूव ।। (६ म० उतरार्ध)

साध्य देवों के दश मतों में आदि ब्रह्मा की असहमति

नासदीय सूक्त के इन दो मन्त्रों द्वारा दशवादों में प्रत्येक का स्पष्ट नामतः संकेत करते हुए ब्रह्मा निरसन कर रहे हैं, दोनों मन्त्रों का भाव है कि सृष्टि रचना से पूर्व–जब सत्ता किसी की थी ही नहीं–न सत् था, न असत् था। न रजः कण थे कि जिनका शुक्ल कृष्ण रूप से विचार किया जा सके, न आकाश था, न पर अपर भाव था, जब आवरक कोई था ही नहीं तो आवरण से सृष्टि हुई यह कैसे कहा जा सकता है। न गहन गंभीर जल था, न उस निर्विकल्प अवस्था में अमृत मृत्यु भेद थे, न रात्रि तथा दिन को कोई काल सीमा थी, देवताओं की सृष्टि तो बाद की है, वे मूल स्रष्टा कैसे हो सकते हैं। वास्तव में कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँ पूरी की पूरी उत्पन्न हुई ?

ब्रह्ममते सिद्धान्तवादाभ्युपगमः

[१]**आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ।।** (२ म० उत्तरार्ध)

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ।। (३ म०)
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतोबन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।। (४ म०)
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयति परस्तात् ।। (५ म०)

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न । (६ म०)
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्गवेद यदि वा न वेद ।। (७ म०)

१. नासदीय सूक्त के मन्त्र क्रम में डेड़ १½ मन्त्र द्वारा, उक्त दशवादों में से आठ वादों का न (नहीं), इस निषेधात्मक पद द्वारा एक एक सिद्धान्त को प्रधान बताने वाले आठों वादों का नामतः खण्डन करके, द्वितीय मन्त्र के अर्द्ध भाग में 'आनीदवातम्' इत्यादि मन्त्र द्वारा क्रम के मध्य में ही सिद्धान्तित निश्चय स्थापित कर दिया है। तदनन्तर देववाद और संशयवाद को पूर्व पक्ष के रूप में आगे सन्निविष्ट किया है। समझने में सुविधा हो दश वाद पूर्व पक्ष रूप में प्रथम समक्ष आजावें तदनन्तर सिद्धान्त रूप उत्तर पक्ष कहा जाय इस हेतु ग्रन्थकार ने थोडा परिवर्तन क्रम में कर दिया है। इस ग्रन्थ में पूर्व पक्ष (अनिर्णीत) रूप दश वादों को बताने वाले मन्त्रों का सन्निवेश पहले ही करके, सिद्धान्त प्रतिपादक मन्त्र अन्त में अवस्थित हैं, 'आनीदवातम्' इत्यादि (आनीदवातम्—का स्पष्टीकरण टीकाकार कर रहे हैं)। इस सिद्धान्त को ही इस ग्रन्थ में खोल कर बताना है। नासदीय सूक्त के इस मन्त्र में एक मात्र मूल तत्व 'आनीत्' प्राणन करने वाला चेष्टामान है—ऐसा कहा गया है। सत् कार्यवाद सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण ब्रह्म अपने भीतर पहले से ही वर्तमान जगत् को बाहर प्रकट कर देता है 'यथा पूर्वमकल्पयत् प्रसिद्ध है।

नवीन कुछ अपूर्व उत्पन्न नहीं करता। अपने भीतर के जगत् का बाहर प्रकाश करना ही प्राणन कहलाता है। यद्यपि हमारे शरीर में प्रसिद्ध प्राणन क्रिया में भी भीतर का उदर गत वायु बाहर ही निकलता है, किन्तु वैसा ही वायुरूप यह आदि प्राण है ऐसी शङ्का उत्पन्न न हो जाय इसलिये मन्त्र में 'अवातम्' इस पद के द्वारा वायु का निराकरण कर दिया अर्थात् मुख्य प्राण वायु रूप नहीं है ।।२।।

संपूण जगत् जो ब्रह्म में संभूत हूआ यह ब्रह्म का परिणाम है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि जगत् के प्रति पद प्राकट्य में भी ब्रह्म में कोई कमी नहीं आती, नहीं ब्रह्म का स्वरूप विच्युत होता है—अतः परिणाम नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि आगम दर्शन को मानने वाले जगत् को ब्रह्म का विकास कहते हैं। वैदिक दर्शन जगत् ब्रह्म का प्राणन है—ऐसा मानते हैं। अब मुख्य जिज्ञासा ये होती है कि निर्विकार ब्रह्म में यह प्रथम प्राणन उदित कैसे हुआ ? इसके लिये कहते हैं कि मंत्र में ही इस प्राणन की हेतु भूत ब्रह्म की परा शक्ति 'स्वधया तदेकम्' इस पद द्वारा स्वधा रूप में बताई गई है। वह स्वधा शक्ति ही प्रथम प्राण की हेतु है। इस ग्रन्थ में इस मूल तत्व का 'रस' नाम से और शक्ति का वल नाम से व्यवहार है, प्राणन का वर्णन विस्तार से किया गया है ।।३।।

आगे का सामान्य मंत्रार्थ है = सिद्धान्त प्रतिपादन के अनन्तर ब्रह्मा सृष्टि रचना काल की आरंभ अवस्था का संकेत कर रहे हैं कि उस समय सर्वत्र तम (अज्ञानान्धकार) व्याप्त हो रहा था जैसे सीमा शून्य गहरे जल में डूबे पदार्थ का कोई पता नहीं लगता वैसे ही तम रूप अज्ञानान्धकार में सब कुछ छुपा हुआ था। कृष्ण-काले रंग की गीता में तीन रूप से व्याख्या हुई है– निरुक्तकृष्ण, अनिरुक्तकृष्ण और अनुपाख्यकृष्ण। वहां अनुपाख्य कृष्ण

रूप काला वर्ण सृष्टि की आदि अवस्था को बतलाया है, अज्ञानान्धकार रूप तम का ही वहां संकेत है—उसका स्पष्ट संकेत यहां उत्तरार्द्ध में तुच्छ रूप अभ्व से सब ढका था, यह किया गया अज्ञान के ही अर्थ द्योतक तुच्छ और अभ्व हैं। यद्यपि अभ्वपहितं का अर्थ ढकना ही है तथा ऽपि अज्ञान से आदमी ढक ही तो जाता है। तीव्र तप के प्रभाव से जो तप अपनी महिमा से युक्त था अर्थात् तप स्वयं में तप रहा था—तप करने वाला कोई अन्य नहीं था—और वह तपमाहेमा चतुर्दिक् प्रसरित हो रही थी उससे अज्ञानाऽन्धकार नष्ट होकर एक ज्योतिर्मय अवस्था बनी इस को ही आदि पुरुष या अव्ययपुरुष पद से कहा जाता है। इस पुरुष में सर्व प्रथम आन्तरिक काम उत्पन्न हुआ जिसको कामनाओं द्वारा जाना जाता है—जिसकी काम देव संज्ञा है—क्योंकि मंत्र में काम को मन का प्रथम रेत (वीर्य) बताया गया है। अव्यय पुरुष की ५ कलाओं में आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् का वर्णन है—वह ही आदि मन है—जिसका कि प्रथम रेत काम रूप उत्पन्न हुआ। कामः, कामना, भावना, इच्छा कहकर आचार्यों ने काम तत्व का विवरण किया है। जगत् रचना की इच्छा स्वधा शक्ति के परामर्श से जागी। इस आनन्दघन चैतन्य पुरुष का अनुभव इस अनित्य शरीर में वही क्रान्तदर्शी तपस्वीकवि कर सकता है जो केन्द्रगत हृदय रूपी दहराकाश को अपने जीवन में मूल लक्ष्य बना लेता है—जिस परव्योम में वह सदा अवस्थित है। वे तपस्वी नित्य सत् को असत् द्वारा बांधा गया है यह जान लेते हैं ।।४।।

पहले जो स्वतः तपः प्रसूत महिमा मंडल की व्याप्ति का संकेत किया उसका स्पष्टीकरण है कि महिमा रश्मि तिरछे भाव में व्याप्त हो रहीं थीं नीचे ऊपर सर्वत्र। और ये तप की महिमा रूप ज्योतिर्मय रश्मियां मन से प्रथम समुत्पन्न उस काम रूप महा रेत का जो सर्वत्र फैलता चला जा रहा है—तपो महिमा सर्वत्र व्याप्त होकर उस रेत का पान करती चली जा रही है। इस महिमा और रेत का समुचित सीमा बन्धन करने के लिये इनके आगे और पीछे सदा स्वधा रूप माया शक्ति साथ रहती है ।।५।।

कौन पूरे निश्चय के साथ कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आविर्भूत हुई ? और इसमें नाना भेद कैसे बन गये ? ब्रह्मा कहते हैं कि कौन ऐसा पूर्व गुरु हुआ है कि जिस ने इसका प्रवचन किया हो। फिर भी यह जो सृष्टि में विसृष्टि रूप नाना भेद बन रहे है—इसको संभवतः जाना जा सके या न जाना जा सके दोनों बात हैं, अर्थात् (हृदि, प्रतीष्या कवयो') बनना सहज बात नहीं है ।।६।।

दोनों जाना जा सके—न जाना जा सके एक साथ कैसे ? तो कहते हैं इन्द्रिय संचालक देवता ही तो साधन हैं ज्ञान के, और वे स्वयं 'अर्वाग् देवा' पीछे उत्पन्न होने वाले हैं—अतः उस तत्व ज्ञान के साधक कैसे बन सकते हैं—इसलिये बिना साधन के वो ज्ञान लाभ केवल ईश्वर कृपा से ही उन मनीषियों को हो पाता है। जगत् की अति विचित्रताओं को देखकर ये भान होता है कि सारे जगत् का एक मात्र अध्यक्ष परम व्योम मय अव्यय पुरुष भी अपनी ही माया शक्ति की, जिसका स्वधा नाम से लेख हुआ है, निर्मित इन महा विचित्रताओं के रहस्य को पूरा जानता है या नहीं जानता। जानना क्यों चाहिये ? क्योंकि

वह ज्ञानमय है। नहीं क्यों जानना चाहिये ? क्योंकि वो स्वभावतः माया निरपेक्ष है ।।७।।

२. उक्त दो मन्त्रों के द्वारा सृष्टि विज्ञान रूप यह तत्व ज्ञान परम गम्भीर है और साथ ही दुर्लभ भी है यह संकेत व्यक्त किया गया।

[1]महर्षेर्विश्वकर्मणः सिद्धान्तवादः

महर्षि विश्वकर्मा का सिद्धान्त मत

१. अन्य ऋषियों की इस विषय में सहमति दिखाने को कुछ मन्त्र यहां उद्धृत किये जा रहे हैं।

प्राग् विश्वकर्म्मापि महामहर्षिर्द्यावापृथिव्योरनयोः प्रसृष्टौ।
प्रश्नान् जनानामवतार्य बुद्धया प्रष्टुं समादिश्य च निर्णिनाय ।।२७।।

किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।।

(ऋ० १०।८१।४)

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।।

(तै० ब्रा० २।८।६)

पूर्वकाल में महर्षि विश्वकर्मा ने स्वर्ग और पृथिवी की प्रकृष्ट रचना के विषय में विचारक जनों के जिज्ञासात्मक प्रश्नों को प्रश्न रूप में ही पूछकर अपनी बुद्धि से निर्णय किया था ।।२७।।

वह कौनसा वन था ? अथवा वह कौनसा वृक्ष था ? जिससे ये स्वर्ग और पृथिवी छांटकर अलग किये गये। हे मनीषी विद्वद्गण अपने मन से मनन करके पूछिये कि कौन इन चौदह भुवनों को धारण करता हुआ अध्यक्ष बनकर बैठा है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में उक्त प्रश्नों का समाधान किया गया। अनेक अदृष्ट अज्ञात विचित्र वस्तु भंडार स्थान को कान्तार या वन कहते हैं। ब्रह्म ही वन था, अथवा ब्रह्म ही वह वृक्ष था जिसमें से स्वर्ग और पृथिवी विभक्त हुए हैं। हे मनस्वी विद्वद् गण मैं मनन पूर्वक निश्चय करके दृढ़ता से कह रहा हूं कि सारे भुवनों को धारण करते हुए ब्रह्म ही इस सृष्टि का अध्यक्ष बन कर बैठा है।

विश्वसृष्टौ दीर्घतमसः प्रश्नाभिनयः

प्रश्ना यथा सन्ति जगत्प्रसृष्टौ तथैव चाध्यात्ममपि श्रुतास्ते ।
प्रश्नान् बहून् दीर्घतमा महर्षिश्चापृच्छतेऽध्यात्ममथाधिदैवम् ।।२८।।

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा माऽगन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ।

(ऋ० सं० १।१६४।३७)

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ।।
(ऋक्० सं० १।१६४।६)

विश्वरचना के विषय में ऋषि दीर्घतमा के प्रश्नों की अवतरणिका

जैसे संसार रचना के विषय में प्रश्न उठते हैं वैसे ही प्रश्न आत्मा के विषय में भी श्रुति में हुए हैं, महर्षि दीर्घतमा ने अध्यात्म विषय में तथा अधिदेव विषय में अनेक प्रश्न उपस्थित किये हैं, इस ग्रन्थ में ही प्रसंगत: इन मन्त्रों की व्याख्या होगी ।।२८।।

एवं विधानामिह संशयानामाध्यात्मिकानामधिदैवतानाम् ।
यथा भवेन्निस्तरणं तदर्थं सिद्धान्तविज्ञानमिदं वदाम: ।।२९।।
सदसत्प्रभृतीन् वादान् दश तान् पूर्वं प्रदर्श्य किञ्चिदिह ।
ब्रूम: प्रजापतेरथ सिद्धान्ते ब्रह्मण: सृष्टिम् ।।३०।।
वादानां[२] तु दशानां समन्वयाद् ब्रह्मण: सृष्टिम् ।
ब्रूमस्तथा यथैते व्याख्याता: सृष्टिमन्त्रा: स्यु: ।।३१।।

इति ब्रह्मविज्ञानस्य सिद्धान्तवादे प्रस्तावानुवाक: प्रथम: ।।१।।

आत्मा सम्बन्धी और देवता सम्बन्धी उक्त प्रकार के संदेहों का निस्तार पाने के लिए यह सिद्धान्त रूप विज्ञान हम कह रहे हैं ।।२९।।

इस ग्रन्थ में आरम्भ में सत्-असत् आदि दस वादों पर थोड़ा विचार करके फिर प्रजापति ने सिद्धान्त रूप में जो ब्रह्म से सृष्टि निरूपण किया है वह बतायेंगे ।।३०।।

उक्त दस वादों का एक ब्रह्म में समन्वय करके एक ब्रह्म से ही संपूर्ण सृष्टि होती है यह इस प्रकार इस ग्रन्थ में बताया जायेगा कि सृष्टि रचना के विषय में नासदीय सूक्त तथा अन्य मन्त्रों की व्याख्या भी साथ स्पष्ट हो जायगी ।।३१।।

२. आगे कहे जाने वाले सिद्धान्त को ठीक प्रकार से समझकर यदि उक्त सृष्टि विषयक मन्त्रों का अध्ययन किया जाएगा तो उन विद्वानों को मन्त्रों के वैज्ञानिक अर्थ का स्पष्ट रूप भास हो जाएगा । यह तात्पर्य है ।

ब्रह्मविज्ञान के सिद्धान्तवाद में प्रस्तावना रूप प्रथम अनुवाक पूर्ण हुआ ।

ग्रन्थारम्भः

[1]ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेऽह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।
[2]पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
[3]एतावान् ब्रह्मवेदोऽयं ब्राह्मणा विदुरञ्जसा ।
वेदेऽनेन तु सर्वं यद् वेदितव्यं विदो विदुः ।।

ओं तत् सद् ब्रह्मणे नमः ।।

१. आरंभ में गीता के श्लोक उद्धरण का हेतु यह है कि श्रीमद् भगवद् गीता को आधार मानकर ही इस ग्रन्थ में क्षर, अक्षर, अव्यय पुरुष का निरूपण आदि करना है यह सूचना देने के लिये गीता में भगवान् का प्रतिज्ञा श्लोक यहां उद्धृत किया गया है ।

यद्यपि यह विज्ञान का विषय मन्त्रमय ब्राह्मण वेदों में अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थान स्थान पर निरूपित है और उन स्थलों से ही ग्रन्थकर्ता ने इसका संग्रह किया है, तथापि सारे उपनिषदों की सार-भूत गीता में भगवान् ने स्पष्ट अक्षरों में तीन पुरुषों का स्वरूपतः विवरण किया है—इसलिये क्षर, अक्षर, अव्यय इन तीनों के निरूपण का सबसे बड़ा आधार श्रीमद् भगवद् गीता है ।

२. पूर्णमदः—आदि मंत्र शुक्लयजुर्वेदियों के शान्ति पाठ का प्रसिद्ध मंत्र है । इसका अर्थ ग्रन्थकार ने संशयतदुच्छेद वाद नाम के निज ग्रन्थ में विविध प्रकार से खोलकर बताया है, वहां का मूल—

पूर्णं ततोब्रह्म च कर्म पूर्णं तद् ब्रह्मणि कर्मणि पूर्णतास्ति ।
तद् ब्रह्मवीक्षे यदि सर्वकर्मातिरेकतो ब्रह्म तदावशिष्टम् ।।
(पूर्ण द्वि सत्योपनिषत् ४१)

पूर्णं पुरासर्ग गतं च पूर्णं पूर्णात् पुनः पूर्णमुदच्यते ततः ।
पूर्णस्य पूर्णं परिगृह्यते चेत् अन्तेऽवशिष्येत तदेवपूर्णम् ।। ९ इत्यादि

व्यापक ब्रह्म अपने आप में पूर्ण है, कर्म भी अपने आप में पूर्ण है (पूर्ण अर्थात् फल निष्पत्ति पर्यन्त कर्म है, फल ही पूर्णता है । इसलिये मानना होगा कि ब्रह्म में और कर्म में दोनों में पूर्णता है । कर्म की पूर्णता फल निष्पत्तिपर्यन्त मानलो जाय किन्तु ब्रह्म की पूर्णता कैसे मानी जाय तो बड़ा अद्भुत और सत्य विवेचन कर रहे हैं कि कर्म की पूरी पूर्णता को हटा दिया जाय तो ब्रह्म की पूर्णता ही तो रह जायगी । अर्थात् फल युक्त कर्म की व्यापकता ने कर्म को पूर्ण बना रखा है—फल को युक्त न करके कर्म किया हुआ बन्धक नहीं होता—यह कर्म की अपने आप में बन्धन न करना रूप अपूर्णता हो गई । उस अवस्था में वह कर्म ब्रह्म मय ही हो जायगा तो ब्रह्म की पूर्णता ही बाकी रही । सृष्टि के पहले भी ब्रह्म पूर्ण रहा है—सृष्टि अवस्था में सर्वान्तः स्थित ब्रह्म भी पूर्ण है—उस पूर्ण ब्रह्म से ही पूर्ण जगत्

निकाला गया है—उस पूर्ण ब्रह्म में से जगत् रूप पूर्णता को अलग कर लिया जाय तो बाकी बच गया, वह ही पूर्ण माना जायगा।

उक्त क्रम की विज्ञानमयी पूर्णता को बताने वाला यह "ब्रह्मसिद्धान्त" है। ब्राह्मण ग्रन्थों का परिशीलन करने वाले विद्वान् इसको सरलता से जान लेते थे। वास्तव में ब्रह्म-कर्ममय इस विज्ञान को जान लेने पर जानने योग्य सभी कुछ जान लिया जाता है।

३. यह सब आगे ग्रन्थ में स्पष्टतया खोलकर निर्वचन किया जायगा। वास्तव में इस 'पूर्णमदः' मन्त्र से ही जो कुछ प्रतिपादन करना है—वह भासित हो रहा है।

(१) प्रथमाधिकरणम्

व्याचक्ष्महे ब्रह्म, यदस्य मूलं विश्वस्य तद् ब्रह्म तदेकमाद्यम्।
तदद्वितीयं तदु सर्वमेतन्नातः परं किञ्चिदिहास्ति वेद्यम् ॥१॥

[४]अस्त्येकमेवाखिलविश्वबीजं पश्यामि विस्तारममुष्य विष्वक्।
अन्योन्यपर्यायविपर्ययेण सर्वैकता संप्रतिपत्तिसिद्धेः ॥२॥

यथैकमूलात् फल-पुष्प-पर्ण-प्रकाण्ड-शाखा-विटपादिसिद्धिः।
तथैव पश्यामि तदेकभावादनेकभावोदयनेन विश्वम् ॥३॥

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की तरह आरम्भ का 'व्याचक्ष्महे' ब्रह्म, यह वाक्य समझना चाहिये, अर्थात् ब्रह्म की व्याख्या आरम्भ की जा रही है। इस सम्पूर्ण विश्व का जो एक मूलाधार है वह एकमात्र सर्वादि ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है—वह ब्रह्म अद्वितीय है, अद्वितीय रहता हुआ ही वह सारे जगत् रूप में फैला हुआ है, इसके ज्ञान के लिए ही सारे शास्त्र यत्नशील हैं, इसका ज्ञान हो जाने के अनन्तर इस संसार में कुछ जानने योग्य रह ही नहीं जाता ॥१॥

दृढ़ता से कह रहे हैं कि सम्पूर्ण नाना विध विश्व का बीज (मूल-आधार) एक ही है, यह वास्तविकता है, उस एक ही बीज का, जो अदृश्य है, चारों ओर विस्तार देख रहा हूं। अदृश्यता दिखाने के लिए ही 'अमुष्य' प्रयोग कर रहे हैं। एक ही मूल पदार्थ के संसार में एक दूसरे भाव में विलीन होते हुए नाना भाव बनते चले जाते हैं, उन विभिन्न भावों की तत्तत् भाव रूपता हटा दी जाय तो मूल एक रूप ही नियत सत्ता रूप में रह जायगा-वह ही बीज वा मूल है ॥"२॥

वृक्ष के उदाहरण में जैसे एक ही बीज से फल-पुष्प, पत्ते,लतायें, शाखा तथा पूरा पेड़ बन जाता है—वैसे ही यह भी देख रहा हूं कि एक ही नित्य सत्ता में से ये अनेक अनित्य नाना कहे जाने वाले भाव उदित हो रहे हैं। उस भाव समष्टि का ही नाम विश्व है।

४. जगत् में दिखाई देने वाले पदार्थ, सारे ही परस्पर एक से दूसरी आकृति में बदले जा सकते हैं। आग-पानी की शकल में बदल जाता है, हवा भी जल रूप बन जाती है, जल भी वायु रूप तथा अग्नि रूप अन्ततः पृथिवी रूप बनता है। जैसे एक स्वर्ण के बृहत् खंड से नाना विध अनेक कटक, कुंडल आदि बनते हैं—तथा गलाकर पुनः अन्य रूपान्तर भी कर दिया जाता है। उन

सबका मूल वह स्वर्ण खंड ही है। वैसे ही सारे विश्व की एकमूलता भी सिद्ध होती है।

[1]अन्यान्ययोगादिव तत्र यद्वन्नाना विशेषाः प्रभवन्ति मूलात्।
इहान्ययोगाननपेक्ष्य तद्वत् सर्वे विशेषाः स्युरयं विशेषः ।।४।।

तत्रैवमत्रैवमयं विशेषः कस्मादिवास्तीति न तर्कणीयम्।
विद्याद्[2] यथा रूपमचिन्त्यभावान्न चैव तर्केण तु योजयेत् तान् ।।५।।

शरीर[3]भावा हि यथैकरेतोबिन्दोरभूवन् बहुधा विभिन्नाः।
कुतो विभेदः कथमेकबिन्दोर्विभिन्नभावा इति को नु विद्यात् ।।६।।

यद्रेतसश्चक्षुरभूत् ततोऽभूच्छ्रोत्रं च वाक् चेति विशेष एषाम्।
कस्मात् कुतश्चक्षुरिवान्यभावा न कर्म कुर्युस्तदचिन्त्यमेतत् ।।७।।

यावद् यथावत् पुनरस्य रूपं याः शक्तयश्चक्षुषि ताश्च सम्यक्।
वेत्तुं कथंचित् प्रभवाम यत्नात् परं तु रूपं तदचिन्त्यमेव ।।८।।

वृक्ष की उत्पत्ति से बीज के साथ अन्य पदार्थों का भी सहयोग होता है अतः अनेक विशेष प्रकार के पत्र, पुष्प आदि बहुतायत से उस बीज में से ही बनते जाते हैं, किन्तु विश्व की इस विभिन्न विचित्र रचना कार्य में ब्रह्म का कोई अन्य सहयोगी नहीं है—वह अन्य निरपेक्ष है। बिना किसी सहयोग के यह विश्व रचना हो रही है— यही एक सबसे बड़ी विशेषता है कि इस निर्विशेष के ही सारे विशेष नाम के भाव बने हुए हैं।

१. विश्व रचना के विषय में दिये वृक्ष के उदाहरण में बीज में से फल, पुष्प, पत्ते, स्कन्ध, आदि की उत्पत्ति में, मिट्टी-खाद-जल-वायु आदि भी सहकारी होते हैं, ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति में कोई दूसरा मौलिक तत्त्व सहकारी नहीं है—क्योंकि उस आदि अवस्था में किसी भी दूसरे तत्त्व की सत्ता ही नहीं थी। इस प्रकार दृष्टान्त से विरोध हुआ। यद्यपि रस रूप ब्रह्म के सहचर रूप में बल का (माया का) साहचर्य विवरण आगे ग्रन्थ में ही किया जायगा। तथापि वह बल (माया) ब्रह्म की निज शक्ति है—शक्ति-शक्तिमान् के अभेद के कारण माया ब्रह्म से सर्वथा भिन्न नहीं है— अतः अन्ययोग नहीं कहा जा सकता। दृष्टांत में जो विषमता है—वह तो है ही,—क्योंकि अलौकिक वस्तु के लिये सर्वरूपेण पूरा लौकिक दृष्टान्त संभव नहीं होता ।।४।।

दृष्टान्त रूप वृक्ष की रचना में अनेक सहकारी रहें और इतने बड़े विश्व की रचना में कोई सहकारी न हो यह कैसे हो सकता है—अथवा यह विशेषता क्यों है ? ऐसे तर्क नहीं करने चाहिये। जो भाव बुद्धिगम्य नहीं है—उसका जो रूप विवरित है उसका ही परिचय प्राप्त करना चाहिये तर्क के योग से उन अचिन्त्य भावों का ज्ञान सम्भव नहीं है।

२. जो पदार्थ जिस रूप में है, इसका निर्वचन ही किया जा सकता है। अलौकिक विषय में सर्वत्र हेतु रूप तर्क की कोई फलप्रदता नहीं होती, आधुनिक विज्ञान भी अमुक पदार्थ से अमुक की उत्पत्ति होती है यह ही बताता है—क्यों हो जाती है, यह प्रायः सर्वत्र नहीं बता पाता ।।५।.

शरीर की उत्पत्ति में मूलत: एक शुक्र बिन्दु कारण है—उस एक बिन्दु से विभिन्न रूप के एक दूसरे से सर्वथा मेल न रखते हुए शरीर के अवयव बहुत से बन जाते हैं। यह भेद होने में क्या हेतु है, तथा एक बिन्दु के विभिन्न भाव कैसे हो गए ? इसे कौन जान सकता है।

३. परम गहन अलौकिक ब्रह्म विषय को विश्राम देकर—प्रत्यक्ष लोक में होने वाली प्राणियों की उत्पत्ति में भी देखें। एक शुक्र के बिन्दु से नाक, कान, नेत्र आदि विभाग कैसे बन गए ? इसका निर्वचन नहीं हो सकता ॥६॥

शुक्र बिन्दु से नेत्र बने तब कान बने—वाणी आदि बनी और इनकी आकृति तथा शक्ति भी विशेष रूप में अलग-अलग बनी। ये सब कैसे हुआ ? और नेत्र की तरह नेत्र का काम अन्य इन्द्रियां क्यों नहीं करती ? या अन्य का काम नेत्र क्यों नहीं करते ? यह सब अचिन्तनीय है। अतः विचार क्रम में नहीं आता ॥७॥

प्रत्यक्ष दीखने वाले स्थूल अवस्थागत पदार्थ की वास्तविकता क्या है ? कैसे सूक्ष्म भाव से स्थूल भाव निष्पन्न होता है। सूक्ष्म का विस्तार कितनी सीमा में समुचित यथावत् होता हैं, इसप्रकार पदार्थ का सम्पूर्ण रूप, अर्थात् नेत्र का आकार और नेत्र में निहित शक्ति का वास्तविक ज्ञान, हम सम्यक् रूप से बड़े कठिन परिश्रम से किसी तरह कर पाने में समर्थ होते हैं, किन्तु उसका मूल रूप तो अचिन्त्य ही है ॥८॥

शब्दोपपत्तिः

ब्रह्म शब्द की व्याख्या

[४]विश्वस्य तूलस्य यदस्ति मूलं तस्यैव चैकस्य तु बृंहणेन।
पश्यामि विश्वं तत एव मूलं तद् ब्रह्मशब्देन सदा वदामि ॥९॥

खवद् विभुत्वान्न ततः परं बृहत् नान्यत्र सर्वं प्रथते च बृंहणम्।
बृहत् सदा यत् परिबृंहणं च यत् तदुच्यते ब्रह्म जगद्यतोऽभवत् ॥१०॥

[५]सर्वं भृतं यत्र बिभर्ति वा समं सर्वं यतो वा भ्रियते बहिर्नहि।
तद् ब्रह्म सर्वस्य हि तस्य चक्षते बुधा विपर्यस्य तु भर्मणो हरौ ॥११॥

[१]नाम्नां यथा वागथ रूपसंहतेश्चक्षुर्यथात्मा पुनरात्मकर्मणाम्[२]।
[३]तथा यदुक्थं यदु साम दृश्यते तद्ब्रह्म विद्यादिह विश्वकर्मणाम् ॥१२॥

इस दृश्यमान स्थूल विश्व का जो मूल कारण है—उस एक के ही बृंहण (फैलाव–विस्तार) से सारा विश्व बना है यह अनुभव करता हूं, उस बृंहण के कारण ही उस मूल तत्त्व को ब्रह्म शब्द से सदा कहता हूं। बृंहणाद् ब्रह्म—यह एक निर्वचन है ॥९॥

(स्पष्टीकरण कर रहे हैं कि) ब्रह्म आकाश के समान व्यापक है–अतः उससे बड़ा अन्य कोई नहीं हो सकता, और बृंहण-विस्तार भी सर्वत्र है यह भी प्रसिद्ध है–इस प्रकार ब्रह्म का लक्षण बना कि जो सबसे बड़ा है (व्यापक) और सर्वत्र फैलता रहता है वह ब्रह्म कहलाता है और सारा जगत उस ब्रह्म से ही हुआ है ॥१०॥

४. बृह धातु से ब्रह्म शब्द बनता है। सबसे बृहत् होने के कारण और बृंहण रूप विकास शक्ति के कारण वह मूल तत्त्व जगत्का—ब्रह्म शब्द से व्यवहृत होता है। उस ब्रह्म का बृंहण-विस्तार ही जगत् है। यह भाव है। दूसरा प्रकार भृ धातु से ब्रह्म शब्द बनाने का है, धारण पोषणार्थक भृ धातु से बिभर्ति इति ब्रह्म, इस व्युत्पत्ति अथवा भ्रियते इति ब्रह्म इस व्युत्पत्ति से ब्रह्म शब्द बनता है। बिभर्ति का अर्थ हुआ सारा जगत् जिससे आधार पा रहा है। भ्रियते का भाव है सारा जगत् उसमें ही है उससे बाहर नहीं। जो जिस का धारण—पोषण करता है—वह ही उसका ब्रह्म है—इस धातु के अनुसार भर्मन् शब्द बदल कर ब्रह्म बना है—हकार और रेफ की फेर बदल हो रही है।

५. भृ धातु से ब्रह्म का दूसरे प्रकार का निर्वचन यह है कि धारण, पोषण भृधातु का अर्थ है। भृधातु से कर्ता अर्थ में मन् प्रत्यय होने से, सारे जगत् का आधार रूप में धारण करता है, पोषण करता है, पालन करता है अथवा रक्षा करता है—वह ब्रह्म है। भ्रियते जगत् अस्मिन्—इस व्युत्पत्ति में मन् प्रत्यय अधिकरण अर्थ में होता है—तात्पर्य है सारा जगत् जिसमें है। 'भ्रियते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार करण अर्थ में मन् प्रत्यय है—इस प्रत्यय से भर्मन् शब्द बना। हकार का सूक्ष्म रूप ऊष्मा कहा जाता है—उस ऊष्मा के कारण सब वर्णों की उत्पत्ति होती है। श्रुति स्वयं इसको प्रमाणित कर रही है कि "संपूर्ण वाणी एक अकार में निहित है—यह अकारमयी वाणी ही शरीरान्तर्गत ऊष्मा से प्रेरित हो जिह्वा द्वारा मुख के जिस स्थान विशेष का स्पर्श करती है—उस ही रूप को लेती हुई नाना भाव में परिणत होती हुई नाना रूप हो जाती है। वर्ग के प्रथम अक्षर का ऊष्मा (हकार) से योग होने पर दूसरा अक्षर वर्ग का बनता है—जैसे क में ह मिला देने पर ख, च, का छ, इत्यादि। तृतीय वर्ण में ऊष्मा मिलने से चतुर्थ बनता है। वैसे ही यहां भर्मन् के भकार में बकार और ऊष्मा मिले हुए हैं। ऊष्मा (हकार) और रेफ ये दोनों विचाली वर्ण हैं—अर्थात् पद के प्रयोग में हटाये भी जा सकते हैं। इनके विचलन भाव से ही शब्दों में विकार होता हुआ बहुधा देखा जाता है, जैसे गृह शब्द का घर बन जाने में यह ही प्रक्रिया हुई है 'गृह' शब्द में विचाली उष्मा (हकार) है—वह विचलित होकर गृ के गकार से मिलकर उसे घ रूप दे गया, घ बनते ही ऋ में बैठा हुआ रेफ भी उससे अलग होकर अन्तिम अकार से जा मिला, और जब ऋकार में से रेफ निकल गया तो ऋ भी अ, रूप में आ गया—यह गृह को घर में बदल गया। बहुत से उदाहरण इस प्रकार के मिलते हैं—यह प्राकृतिक नियम है—इस प्रकृति नियम को देखकर ही भगवान् पाणिनिने तन्नियमानुसार—झश प्रत्याहार का अक्षर सामने होने पर झल् अक्षरों को जश् रूप में बदलने का नियम "झलांजशोऽन्ते" सूत्र बनाया–"झलां जश-झषि", "एकाचो बशो भष" आदि विधान भी सूत्रित किये। इसी प्रकार भर्म शब्द में भकार का ऊष्मा उसे छोड़कर आगे चला गया—और ऊष्मा (ह) से रहित भकार 'ब' में बदल गया। भर्मन् में जो विचाली रेफ है वह ब और अ, के बीच में चला गया—तो भर्म—का ब्रह्म बन गया। इस ही बात को मूल में 'भर्मणो हरौ विपर्यस्य बुधा ब्रह्म चक्षते' द्वारा कहा गया। जो जिस वस्तु को धारण करता वह उस वस्तु का ब्रह्म होता है—जैसे पार्थिव पदार्थों का ब्रह्म पृथिवी तथा तेजोमय पदार्थों का ब्रह्म सूर्य है। जिस मूल तत्व का विचार प्रकृत में चल रहा है—वह सारे जगत् का ब्रह्म है—इसलिये केवल ब्रह्म शब्द से ही कहा जाता है॥११॥

जितने भी संसार में नाम हैं–उनका ब्रह्म वाक् है, सम्पूर्ण रूपों का चक्षु है, जितने भी कर्म हैं उनका ब्रह्म आत्मा है। सम्पूर्ण विश्व रूप कर्म का विचार करते हुए यह प्रक्रिया समझनी चाहिये कि जो चीज जहाँ से उठ रही है वह 'उक्थ' और जहाँ तक वस्तु सीमा रूप साम जा रहा है वह दृश्य वस्तुगत ब्रह्म भाव है।

१. पहले पद्य में कही हुई भरण प्रक्रिया का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। जितने नाम हैं वे वाणी में ही हैं, संपूर्ण रूपों का धारण चक्षु में ही है। रूप, रस आदि पदार्थ उन २ पदार्थों में नहीं रहते, अपितु सूर्य अग्नि आदि के तैजस प्राणों से बँधकर उन पदार्थों के प्राण चक्षु से युक्त होकर रूप की उत्पत्ति करते हैं। इन्द्रियों के संयोग से स्पर्श आदि गुणों की उत्पत्ति श्रीमद्भगवद्गीता में बताई है "मात्रा स्पर्शास्तुकौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः"। अतः यह स्पष्ट है कि रूप चक्षु से ही उत्पन्न होते हैं—चक्षु ही उन्हें धारण करता है और अन्ततः चक्षु में ही लीन हो जाते हैं यह वैदिक दर्शन की मान्यता है।

२. आत्म कर्मणाम्—यह संपूर्ण जगत् कर्म रूप है। जो किया जाता है, उत्पन्न किया जाता है—वह कर्म है। अथवा क्रिया वाचक कर्म शब्द प्रसिद्ध है। दिखाई देने वाला सारा संसार क्रिया—(कर्म) का ही रूप है यह आगे ग्रन्थ में प्रतिपादन किया जायगा। आत्मा में ही सारे कर्म निहित हैं। आत्मा ही तो सबका आधार भूत है। प्रकारान्तर से भी देखा जाय तो नाम, रूप, कर्म इन तीन की समष्टि को जगत् कहते हैं। इन तीनों को धारण करने वाले आत्मा के तीन अंश हैं—वाक्-मन और प्राण। पद्य में आया चक्षु पद न केवल सब इन्द्रियों का अपितु इन्द्रियों की समष्टि सहित मन का उपलक्षक है। आत्म पद प्राण वाचक है यह जानना चाहिये, क्योंकि प्राण ही सारी क्रियोत्पत्ति के हेतु हैं। अतः स्पष्ट अर्थ हुआ कि कर्म—अथवा क्रियाओं का आत्मा—(प्राण) धारक है।

३ यदुत्थमिति—जिससे जो वस्तु उठती है अर्थात् उत्पन्न होती है—वह उसका उत्थ है। उत्थ को वैदिक परिभाषा में उक्थ कहते हैं। और जो समान रूप से वस्तुसत्ता बनाये रहे—वह साम कहलाता है—स्पष्ट हुआ कि उक्थ-साम का योग है। जो इनको धारण किये है—वह ब्रह्म है। उपादान कारण में ये तीनों लक्षण समन्वित होते हैं। उपादान से ही वस्तु की उत्पत्ति, उसी द्वारा धारण और उसकी ही समभाव से सर्वत्र वस्तुओं में व्याप्ति है। अथवा यदि 'षोऽन्त कर्मणि' इस अन्तवाचक धातु से साम शब्द बनावें तो अर्थ होगा उस साम सीमा में सब संसार लीन हो जाता है। इस प्रकार सारे जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है—यह कथन का तात्पर्य है। यह बारहवां पद्य बृहदारण्यक उपनिषत् नाम से ख्यात शतपथ ब्राह्मण के १४ वें कांड का अंशानुवाद है। (बृ. दा. ३ अ. ६ ब्रा.—३ कण्डिका)

(२) रसबलाधिकरणम्

शक्तिमान् तथा शक्तिविवेचन

[१]ब्रह्म श्रुतौ तद् रस इत्युदीरितं परास्य शक्तिर्बलमित्युदीर्यते।
[२]बलं रसाद् भिन्नमिदं न गण्यते न श्रौतमद्वैतमसौ विरुद्ध्यते ॥१३॥

वेद में ब्रह्म को रस कहा गया है, इस ब्रह्म की अभिन्न पराशक्ति को बल कहा जाता है। परब्रह्म में पर का जो अर्थ है, वही पराशक्ति में परा का अर्थ है। यह बल (माया

शक्ति) रस से भिन्न नहीं मानी जाती अतः वेद प्रतिपादित ब्रह्म के अद्वैततत्त्व का विरोध नहीं होता।

१. सुप्रसिद्ध तैत्तिरीय श्रुति 'रसो वै सः' का अनुसरण करते हुए ब्रह्म की रस संज्ञा का व्यवहार इस ग्रन्थ में होगा। जिस ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है—जिसमें कभी कोई परिणति नहीं होती, जो सर्वत्र व्यापक है—वह ब्रह्म जगत् का उपादान कैसे हो जाता है? इस सन्देह निवृत्ति के लिये वेद में तथा पुराणों में सर्वत्र ब्रह्म की अभिन्न शक्ति मानी गई है—"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" (श्वेताश्वतर उप. १ अ. ३ मं.) "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च" (श्वेताश्व. अ. ६ मं. ८)। ऋषियों ने ध्यान योग में स्थित होकर परब्रह्म में छुपी हुई ब्रह्म शक्ति का दर्शन किया —अपने सत्व-रज-तम गुणों से जो सदा गुप्त रहती है।

ब्रह्म न स्वयं कुछ करता है और न किसी का साधन बनता है, न कोई ब्रह्म के समान है और न कोई उस से बड़ा है। अनन्त रूपमयी इस ब्रह्म की सहज स्वाभाविकी पराशक्ति वेद में विवृत है—ज्ञान-बल और क्रिया ये उस शक्ति के व्यावहारिक रूप हैं—इत्यादि प्रकार से वेद में शक्ति का नाम स्पष्ट सुना जाता है। अन्यत्र ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं ईक्षा पद के द्वारा, कहीं तप पद के द्वारा, कहीं कर्म पद के द्वारा शक्ति की ख्याति है। पूर्वोक्त ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' में स्वधा पद के द्वारा शक्ति का ही व्याख्यान है। ग्रन्थकार यहां उस शक्ति का व्यवहार बल शब्द से कर रहे हैं। बल-शक्ति और क्रिया तीनों का एक ही अर्थ है। सुप्त अवस्था में अर्थात् जब कोई चेष्टा न की जारही हो उस अवस्था को बल कहते हैं, जागरित होकर कार्य करने को कृत संकल्प, कार्य तत्परता को शक्ति कहते हैं। कार्य रूप में परिणति को क्रिया कहा जाता है—यह आगे पद्य में बताया जायगा। जगत् की सृष्टि से पूर्व महाप्रलय दशा में शक्ति प्रसुप्त के समान रहती है—अतः बल शब्द से ही व्यवहार उचित माना गया। 'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च' इस वेद वचन में तीनों अवस्था स्पष्ट बताई गई हैं। 'येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। तेनेशितं कर्म विवर्तते पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्' (श्वेताश्व. ६।अ. म. २)। जिस परब्रह्म ने सारे विश्व को सदा से आवृत कर रखा है, जो एक मात्र चेतन रूप है, यह काल का भी काल है अर्थात् काल का निर्मापक और समापक यही है, सारे गुणों का नियन्ता—सर्वज्ञ यह ब्रह्म है—इसकी इच्छा से कर्म का विवर्त फैलता है—वह कर्म ही पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-आकाशरूपमें दृश्यमान होता है, इस श्वेताश्वतर-वेद वचन में शक्ति ही कर्मपद से कही गई है और उसके ही विवर्तभाव पृथिवी आदि बताये गए हैं। उस कर्म की, जिसका दूसरा नाम क्रिया है—जिसका स्थूलभाव भासित होता है—उसकी अति सूक्ष्म अवस्था का बल शब्द द्वारा निर्देश युक्त ही है। बृहदारण्यक उपनिषत् के आरम्भ में "तन् मनोऽकुरुत, आत्मन्वीस्यामिति, सोऽर्चन् श्राम्यन्नचरत्' अर्चन—श्रम-चरण शब्दों से कर्म का ही निर्देश किया गया है। शतपथब्राह्मण (६।६।३।१४) में "संशितं वीर्यं बलम्" "बाह्वोरेव बलं धत्ते" (शत. १३।३।२।५) इत्यादि वचनों में जो अभी चेष्टा में नहीं आई है ऐसी शक्ति का वाचक बल शब्द प्रयुक्त हुआ है।

"इन्द्रो बलम्" (शत. ११।१४।३।३) इस शतपथ वचन में प्राण रूप इन्द्र को बल कहा गया है, प्राण ही ब्रह्म की मुख्य शक्ति है–अतः मुख्य शक्ति में बल शब्द का प्रयोग उचित ही है। शतपथ के १४ काण्ड में (अ. ८ ब्रा. १५ क. ४) में तथा बृहदारण्यक उपनिषत् (७अ. १३ब्रा. ४-६ क) में तो "नमस्ते तुरीयाय दर्शनाय पदाय परोरजसे", गायत्री के इस उत्तर भाग के व्याख्यान में "सैषा गायत्री एतस्मिन् तुरीये दर्शने पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता, तद्वै तत् सत्ये प्रतिष्ठिता, तद्वै तत् सत्यं बले प्रतिष्ठितम्, प्राणो वै बलम् तत् प्राणे प्रतिष्ठितम्। तस्मादाहुर्बलं सत्याद् गरीय इति। एवमेषा गायत्री अध्यात्मं प्रतिष्ठिता" इस प्रकार स्पष्ट रूप में बल को ही सबका प्रतिष्ठात्मक आधार कहा गया है। सत्य की और रस की भी प्रतिष्ठा बल ही है यह १९ वें पद्य में कहेंगे।

२. मूल तत्व के रूप में रस और बल दो तत्त्वों को मान लेने पर वेद प्रतिपादित अद्वैत सिद्ध नहीं होगा, इस सन्देह का निराकरण करते हैं। पृथक् २ स्वतन्त्र सत्ता वाले दो पदार्थ मानने पर ही द्वैत संभावना होती है किन्तु बल की स्वतन्त्रतया पृथक् सत्ता है ही नहीं। रस से भिन्न बल की स्वतन्त्र सत्ता कहीं मिलती ही नहीं। अतः द्वैतभाव नहीं कहा जा सकता। जैसे एक बड़े वस्त्र की पगड़ी बनाई जाय उसमें उस बृहत् वस्त्र के अंश, उनमें अनुगत तन्तु, उन तन्तुओं में भी अनुस्यूत तूल (रुई) अंश, तूल में अनुगत कपास, कपास में भी अनुगत मृत्तिका होती है। मृत्तिका से ही तो कपास उत्पन्न होता है। ये सब होने पर भी पगड़ी में ये ६ पदार्थ हैं ऐसा व्यवहार कोई नहीं करता। एक पगड़ी शब्द का व्यवहार ही सब करते हैं। उन ६ चीजों की पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती, अपितु मृत्तिका की प्रधान सत्ता में ही कपास की सत्ता होती है। कार्य के द्वारा कारण सत्ता ही प्रधान मानी जाती हैं। कार्य सत्ता रूप तूल की सत्ता वस्त्र खंड में मानकर एक पगड़ी शब्द का ही व्यवहार होता है। इस प्रकार जैसे एक पदार्थ में अनेक की अनुस्यूतता रहने पर भी व्यवहार में प्रधान कारण रूप एकत्व की ही मान्यता होती है? वैसे ही रस की ही वास्तविक सत्ता है, रस की सत्ता से ही बल की सत्ता होती है। मूल में एकत्व ही है द्वित्व नहीं है ॥१३॥

सुप्तं बलं जागरिता तु शक्तिः क्रिया तदीयः परिणाम इत्थम्।
प्रोच्यन्त एकस्य बलस्य नूनं भिन्नैः पदैस्तित्र इमा अवस्थाः ॥१४॥

[१]धर्मो द्विधा तत्र रसो बलं च प्रोक्तौ बलोपेतरसः स धर्मी।
परस्परेणायुतसिद्धमेतद्धर्मद्वयं धर्मि तदस्ति सर्वम् ॥१५॥

रसः स धर्म्मोऽस्ति बलं च धर्मो निर्धर्मकौ तौ प्रथमौ हि धर्मौ।
अन्यस्तु धर्मोऽस्ति न यत्र धर्मे निर्धर्मकं तं प्रवदन्ति धर्मम् ॥१६॥

माया की प्रसुप्त अवस्था को बल कहते हैं। कार्यार्थकृत संकल्प अवस्था में जागरित हो जाने पर बल को शक्ति कहा जाता है। संसार की संपूर्ण क्रिया रूप चेष्टा शक्ति का ही परिणाम है। इस प्रकार एक ही बल की ये तीन अवस्थाएं—बल–शक्ति और क्रिया इन तीन भिन्न पदों से कही जाती हैं ॥१४॥

धारणात्मक धर्म, रस और बल रूप में द्विधा हो रहा है, अर्थात् रस भी धर्म रूप है और बल भी। इन धर्म रूप रस और बल से युक्त जो भी पदार्थ बनता है वह धर्मवान्

धर्मी कहलाता है। ये रस और बल रूप दोनों धर्म परस्पर अयुत सिद्ध हैं अर्थात् एक के बिना दूसरा कभी नहीं रहता। ये मूल धर्म हैं। इनसे समुत्पन्न अन्य सब धर्मी हैं।

१. रस और बल नाम से कहे जाने वाले ये दोनों धर्म रूप हैं। धर्मी रूप नहीं हैं। इनमें कोई दूसरा धर्म नहीं है जिससे धर्मी बन सकें। इन दोनों धर्मों के समवाय को धर्मी कहते हैं—जो इन धर्मों से ही बनता है। कथन तात्पर्य है कि धर्म ही धर्मों को उत्पन्न करता है यह वैदिक दर्शन की मान्यता है।

रस और बल दोनों धर्म रूप हैं, ये सर्वप्रथम–धर्म निर्धर्मक कहे जाते हैं—जिस धर्म में अन्य कोई धर्म न हो वह धर्म निर्धर्मक कहलाता है ॥१६॥

[२]धर्मस्य सत्तानुगतस्य मौलिके धर्मे निषेधोऽत्र विधीयते बुधैः।
न भातिसिद्धा बहवोऽत्र भासिता धर्मा अपोह्यन्त इति प्रतीयात् ॥१७॥
[३]ततः परेस्मिन् यदतः परं परे ये के च धर्माः कथिताः परात्परे।
ते भातिसिद्धा अवरे तु ते पुनः क्षरेऽक्षरे वा द्विविधा इति स्थितिः ॥१८॥

मौलिक धर्म में सत्तासिद्ध धर्म का रूप आप्त विद्वज्जन स्वीकार नहीं करते किन्तु इस संसार में बहुत से धर्म केवल भाति सिद्ध हैं—वे विचार क्षेत्र से हटाये नहीं जा सकते यह भी मानना चाहिये।

२. दो प्रकार के धर्म होते हैं। एक सत्ता सिद्ध धर्म, एक केवल भाति सिद्ध धर्म। जिन धर्मों का रूप धर्मी में स्पष्ट दिखाई देता हो—वे सत्ता सिद्ध कहे जाते हैं। जैसे घट में रूप–स्पर्श आदि। जिन धर्मों का केवल बुद्धि द्वारा आरोप होता है, जिनमें दूसरों के साहचर्य की अपेक्षा रहती है, धर्मी में उन धर्मों का स्वरूप भी नहीं दिखाई देता और उन धर्मों के हट जाने पर वस्तु की कोई हानि भी नहीं होती—वे धर्म भाति सिद्ध होते हैं। जैसे घट में दो तीन आदि संख्या धर्म, दूसरे घट की अपेक्षा–लम्बाई–चौड़ाई–मोटापन आदि परिणाम रूप धर्म, एक स्थान से संयोग एक से विभाग होकर उन पर पार्थक्य आदि धर्म केवल भाति सिद्ध हैं। रूप और स्पर्श के समान सत्ता वाले नहीं हैं। यहाँ मूल तत्त्व रूप रस और बल में भी कोई सत्ता सिद्ध धर्म नहीं है। व्यवहार मात्र के लिए बुद्धि द्वारा–एकत्व–द्वित्व–भिन्नत्व आदि का आरोप किया जाता है। उन भाति सिद्ध धर्मों से ही यहाँ भी व्यवहार चलाया जायगा—

सृष्टि रचना प्रक्रिया में परब्रह्म में तथा परात्परब्रह्म में जो धर्म कहे गए हैं, वे भाति सिद्ध हैं। सत्तासिद्ध दूसरे प्रकार के धर्म क्षर पुरुष में और अक्षर पुरुष में दो प्रकारों में रहते हैं—यह वास्तविक स्थिति है ॥१८॥

३. अव्यय, अक्षर और क्षर नाम के तीन पुरुष आगे क्रमशः कहे जायंगे। ये रस और बल का समष्टि रूप समवाय परात् पर कहलाता है। क्षर को मरणशील होने से अवर कहते हैं। अक्षर पर और अवर दोनों भावों में है। अव्यय पर पुरुष माना जाता है—यह सर्वोत्कृष्ट है। पुरुष संस्था में यही प्रथम पुरुष है। जिस रस बल के समवाय का यहां प्रकरण चल रहा है—यह समवाय अव्यय से भी परे है अर्थात् सूक्ष्म है अतः परात् पर कहा जाता है। इस परात् पर में और अव्यय

जो धर्म इस ग्रन्थ में अथवा अन्यत्र वेद में कहे गये हैं, वे भाति सिद्ध हैं,—फिर आगे अक्षर पुरुष तथा क्षर पुरुष में सत्ता सिद्ध और भाति सिद्ध ये दोनों प्रकार के धर्म अनुगत रहते हैं यह स्थिति है-यह पद्य का अन्वय है।

(३) संज्ञाधिकरणम्

[१]रसोऽमृतं नाम बलन्तु मृत्यु[२]र्बलं न चेत्स्याद् रस[३] एव किं स्यात्।
रसो न चेत्स्यात् क्व बलं नु तिष्ठेत् तस्मादिमौ नित्ययुतौ हि धर्मौ ॥१६॥
[४]चित्तस्य यद्वद्विषयप्रसङ्गादनेकरूपैर्द्रवणाद् रसाख्या।
बलप्रसङ्गाद् बहुरूपतास्य प्रदृश्यते तेन रसोऽयमुक्तः॥२०॥
रसं हि लब्ध्वा सुखिता यतस्तत् सुखं रसो ब्रह्म सुखं रसस्तत्।
रसोऽमृतं ब्रह्म किलामृतं यत् ततोऽमृतं ब्रह्म रसं वदन्ति ॥२१॥

रस अमृत रूप है, तो बल मृत्युशील है। मरण धर्मा होते हुए भी बल की सत्ता यदि न हो तो अमृतमय रस का प्रकाश ही कहाँ हो? इसही प्रकार यदि रस का चैतन्य प्रकाश न मिले तो बल किसके आधार पर ठहरे? अतः यह दोनों रस-और बल रूप धर्म सदा अभिन्न हैं—अतः पूर्व में भी इनको अयुतसिद्ध कहा गया था ॥१६॥

१. ग्रन्थ में रस और बल के वेद में प्रसिद्ध अमृत और मृत्यु नाम बताये गये--इनका भी व्यवहार किया जायगा--यह तात्पर्य है।

२. बलम् = बृहदारण्यक १।१।१) में उल्लेख है "मृत्युनैवेदमावृतमासीद्, अशनाया, अशनाया हि मृत्यु"। मृत्यु से सारा जगत् घिरा हुआ था, स्पष्ट किया गया भूख-क्षुधा (अशनाया) से घिरा है- निर्णयात्मक वाक्य कहा कि-भूख का नाम ही तो मृत्यु है। यहां प्रयुक्त मृत्यु पद तथा अशनाया पद से बल ही कहा जा रहा है।

३. रस = बल नाम की शक्ति के बिना रस कुछ भी करने मे समर्थ नहीं है--यह प्रसिद्ध है कि शक्ति के अभाव में कुछ भी किया नहीं जाता। इसी तरह रस के बिना—बल (प्राण—शक्ति—क्रिया) किसके आधार पर टिक सकती है। बिना किसी आधार के शक्ति तथा क्रिया कहीं देखी नहीं जाती—अतः दोनों की मूल अभिन्न सत्ता मानना युक्ति द्वारा भी अवश्य समुचित है।

रस शब्द की विवेचना कर रहे हैं—अनेक अर्थों में लोक में रस शब्द का व्यवहार हो रहा है--सबकी क्रमशः पद्यों में निरुक्ति करते हैं। जल से रस की एकरूपता के कारण रस कहा जाता है-आध्यात्मिक संस्था में जैसे चित्त की अनेक विभिन्न विषयों के प्रसंग से द्रवणशीलता (बहाव) रहती है--उसी तरह सर्वत्र द्रवण भाव रहने से रस कहा जाता है। (यह द्रवण बिजली के तारों में विद्युत् प्रवाह रूप सा समझना चाहिये तद्वत् ही प्राण संचरण होता है)।

यद्यपि रस स्वयं एक रूप ही है तथापि जल के प्रसंग से इस रस की बहुरूपता हो रही है--जैसा कि नाना भाव जगत् में प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है--उस सम्पूर्ण विश्व रूप

नाना भाव में द्रवणशील जल के प्रवाह के समान रस सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है–अतः इसे रस नाम दिया गया।

४. रस=लोक व्यवहार में रस शब्द की प्रवृत्ति काव्यक्षेत्र की शृङ्गार आदि वृत्तियों में जहाँ चमत्कारमयी विशेषता रहे, बड़ा रस आया कहकर आनन्द अर्थ में, तथा जल में होती है— उन तीनों का ही सादृश्य यहां तीन पद्यों द्वारा कहा जा रहा है। लोक व्यवहार में जो रस की आनन्द रूप में अनुभूति की जाती है—वह ब्रह्म भाव है। वेदान्त में ब्रह्म की आनन्दरूपता सुप्रसिद्ध है। (आनन्द एक ऐसा अद्‌भुत तत्त्व है कि जिसकी अनुभूति का निषेध नहीं किया जा सकता, किन्तु उस आनन्द को प्रत्यक्ष दिखाया नहीं जा सकता। स्वयं ग्रन्थकार ने संशय तदुच्छेद-वाद ग्रन्थ में बहुत सी युक्तियों द्वारा ब्रह्म की आनन्दरूपता सिद्ध की है। इस ग्रन्थ में भी अन्य प्रकरण में विवेचना होगी।

बड़ा रस मिला कह कर सुखभाव का अनुभव होता है—अतः सुख रस रूप है-- ब्रह्म-सुख-रस एक ही तत्त्व है। वेद में इस रस को अमृत बताया है, ब्रह्म अमृत है यह प्रसिद्ध ही है। यही कारण है कि ब्रह्मानन्द रूप रस को अमृत कहा जाता है। (मृत्यु और अमृत उभय रूप जगत्--ब्रह्मानन्दरूपता में सर्वत्र ब्रह्म दर्शन में मृत्युभाव की उपेक्षा होने पर अमृत ही शेष रहता है)। लोक भाव में भी रस (आनन्द) अमृत रूप ही है ॥२१॥

बलं जले हि त्रिपथानुगं भवेदधश्च तिर्य्यक् च यथोर्ध्वतश्च खे।
एवं यदत्र त्रिपथानुगं बलं पश्यन्ति तस्मात् प्रवदन्ति तं रसम् ॥२२॥

[५]आदाय चादाय रसं यतो बलं करोति नानाविधसत्त्वसर्जनम्।
ततो रसानां सचनं यदिष्यते तस्मादयं नाम रसः प्रसिद्धयति ॥२३॥

[६]आवेष्टनं यत् परितः परेण परस्य बन्धाय दृढं श्लथं वा।
तदुच्यते संवलनं रसस्य येनास्ति तत् सम्वलनं बलं तत् ॥२४॥

जल के साथ रस शब्द की साम्यता बताई जा रही है कि जैसे जल में बल (प्राण) तीनों मार्गों का अनुगमन करता है–वह जल को अधोभाग में, अथवा वायु द्वारा तिरछे भागों में अथवा सूर्य किरणों द्वारा ऊर्ध्व भाग में ले जाता है वैसे ही इस संसार में ऊपर-नीचे-तिर्यक् सर्वत्र बल रस सहित व्याप्त हो रहा है–वह नाना भाव में दिखाई दे रहा है–सर्वत्र जल की व्याप्ति के सादृश्य से रस शब्द का व्यवहार हुआ है ॥२२॥

उस अमृतमय रस में से बल अमृतांश को बार-बार लेकर नाना प्रकार की सृष्टि रचना करता है, अनेक विध प्राणियों की सृष्टि हो जाती है। इन सब प्राणियों में रसांश (बिन्दु) की ही प्रधानता है–अतः कहा जा सकता है कि सारा जगत् रस की सघनता (समुदाय) है-रस-सुख-आनन्द की ही चाहना सर्वत्र रहती है-यही कारण है कि ब्रह्म भाव में रस प्रसिद्ध हो गया।

५. रस—वस्तु के सार अर्थ में भी रस शब्द की प्रसिद्धि है। रस नाम से कहे जाने वाला मूल तत्व ही संसार के सब पदार्थों का सार भाग है। रस को लेकर ही अर्थात् रस को आधार बनाकर

ही बल शक्ति सारी रचना करती है। इस रस का ही सर्वत्र सचन अर्थात् समवाय है। अतः संसार का मूल सार होने से भी यह रस कहा जाता है। पूर्व पद्य में बल की जो तीन मार्गों की गति बताई है वह मूल में ही स्पष्ट हो जायगी।

उस निःसीम अमृतमय रस को सीमा में घेरना आवेष्टन शब्द से कहा जा रहा है--चारों ओर से घेराव में मूल तत्त्व ही मूल तत्त्व को ले रहा है--यह घिराव सीमाबद्ध करने के लिए है--यह चोतरफा का घिराव दृढ़ या ढीला दोनों प्रकार का होता है। इस रस के आवेष्टन भाव को संवलन कहते हैं--क्योंकि वह संवलन करता है--इसीलिए बल कहा जाता है।

६. बल=बल शब्द की अर्थ संगति करते हैं। बल धातु वेष्टन अर्थ में है। यह शक्तिरूप बल, रस को सब ओर से वेष्टित कर लेता है जैसे तरङ्ग जल को वेष्टन कर लेती हैं। इस वेष्टनभाव के कारण यह बल कहा जाता है।

[७]स ज्ञायते तद्वचुभयं पवित्रं पाप्माऽभु तुच्छं सदसत् स्थितं यत्।
विद्याऽप्यविद्याऽप्यमृतं च मृत्युः पूर्णं च शून्यं तदकर्म कर्म ॥२५॥

रस और बल दोनों पृथक्-पृथक् विरुद्ध लक्षण वाले हैं। रस पवित्र है, बल पाप पूर्ण है, रस व्यापक है, बल तुच्छ (सीमित) है, रस सत् और बल असत् है, रस विद्या (ज्ञान) रूप है, बल अविद्या रूप है, रस अमृत और बल मृत्यु रूप है, रस पूर्ण है, बल शून्य है, रस अकर्मा है बल कर्ममय है। रस सदा स्थिर है, बल अस्थिर है।

७. पवित्र, आभु, सत्, स्थित (स्थिर), विद्या, अमृत, पूर्ण, अकर्म इन शब्दों से वेद में रस का प्रकीर्तन है। इसके विपरीत पाप्मा, तुच्छ, असत्, यत् (अस्थिर), अविद्या, मृत्यु, शून्य और कर्म इन शब्दों से शक्ति रूप बल की ख्याति है।

(४) निर्वचनाधिकरणम्

[१]जगन्निरुक्तं ह्यनिरुक्तमित्थं द्विधा निरुक्त्या तु भवेन्निरुक्तम्।
उन्मुग्धमव्याकृतनिर्विकल्पं पूर्वं निरुक्तेरनिरुक्तमुक्तम् ॥२६॥
इदं निरुक्तं यदनन्तविश्वं शश्वद्विभात्यस्य हि नोपरामः।
यच्चाविनाशि स्थितमत्र किञ्चिद् ब्रह्मानिरुक्तं तदुदाहरामः ॥२७॥
तच्चानिरुक्तं द्विविधं हि सर्वानिरुक्तमापेक्षिकमन्यदाहुः।
सर्वानिरुक्तं प्रथमं तदेकमापेक्षिकं स्याद्बहुधा प्रयुक्तम् ॥२८॥

विभागाधिकार

अवयवशः सम्पूर्ण विभाजन को निरुक्त कहते हैं, जिसमें विभाग ज्ञान न हो सके वह अनिरुक्त कहलाता है। ब्रह्म के निरुक्त तथा अनिरुक्त दोनों भाव रहते हैं--वह बता रहे हैं। जगत् भाव में वह निरुक्त है, स्व स्वभाव में वह अनिरुक्त है। जगत् रूप निरुक्ति से ही वह निरुक्त बनता है। सृष्टि से पूर्व ब्रह्म की अविभक्त निर्विकल्प (विकल्प दूसरे का होता है–

वहां आदिकाल में कोई दूसरा है ही नहीं अतः निर्विकल्प है) उन्मुग्ध अवस्था है-जहाँ कुछ भी करणीयता भासित ही न हो वह अवस्था। इसके विपरीत उद्‌बुद्ध अवस्था। अतः जगत् अवस्था से पूर्व ब्रह्म को अनिरुक्त कहा गया है।

१. पृथक् पृथक् विभाग रूप में स्पष्टतया जाना जा सके वह निरुक्त कहा जाता है। अवयवशः विभाग या स्पष्टभाव ही निरुक्ति या व्याकरण है। विभाग या जगत एक ही बात है, इस जगत् रूप विभाग से पहले तो ब्रह्म उन्मुग्धरूप, अव्याकृत, निर्विकल्प कहा जाता है—वह अव्याकृत या अनिरुक्त ब्रह्म ही विश्व रूप में निरुक्त भाव में आता है। प्रतिक्षण बदलते रहने वाले इस विश्व में कभी भी न बदलने वाला अपरिणामी ब्रह्म जीवन-सत्ता, चेतना, आदि रूप में सर्वत्र अन्तःप्रविष्ट हो रहा है।

जन्म मरणशील अनन्त विश्व निरुक्त है। विश्व की यह उत्पत्ति-विनाश-अवस्था शाश्वत है, इसका कहीं अन्त नहीं है। इस विनाशशील विश्व में जो एक अविनाशी नित्य तत्त्व है—उसे हम अनिरुक्त ब्रह्म कहते हैं ॥२७॥

यह अनिरुक्त ब्रह्म भी दो रूपों में विज्ञात होता है, एक 'सर्वानिरुक्त' और एक आपेक्षिक निरुक्त। आदिकाल की ब्रह्म की प्रथम अवस्था 'सर्वानिरुक्त' अवस्था है—यह अनिर्वचनीय है किसी भी लक्षण से ज्ञात नहीं होती। एक मात्र यह प्रथम अवस्था ही 'सर्वा-निरुक्त ब्रह्म' है। आगे विश्व रचना में होने वाले ब्रह्म भाव बहुत प्रयुक्त हैं वे सब आपेक्षिक निरुक्ति में आते हैं, अर्थात् किसी की अपेक्षा निरुक्त हैं तो किसी की अपेक्षा अनिरुक्त ॥२८॥

[2]सर्वानिरुक्तं हि निलीनमेवान्यस्मिन्न विज्ञायत एव वै तत्।
विज्ञेयमन्यत्तु निरुक्तरूपं तथा निरुक्ते च निलीयते तत् ॥२६॥

ब्रह्मेत्यदः स्यादनिरुक्तमाद्यं रसो बलं चेत्युभयं निरुक्तम्।
बलाद्रसाच्चाप्यनिरुक्तरूपान्महत्परादीह भवेन्निरुक्तम् ॥३०॥

[3]भूयोऽनिरुक्तं द्विविधं तदुक्तं नभ्यं च सर्वं च तदु प्रतिष्ठा।
नभ्योऽणिमा सर्वमिहास्ति भूमा सर्वे निरुक्ता अनिरुक्तनिष्ठाः ॥३१॥

सबसे प्रथम 'सर्वानिरुक्त' नाम से कहे जाने वाला ब्रह्म अन्य पदार्थों में अन्तर्हित गूढ ही रहता है—वह किसी प्रकार से नहीं जाना जा सकता। आगे होने वाला सृष्टि संपादक ब्रह्म भाव लक्षणों द्वारा निर्वचनीय हो सकता है-वह निरुक्त है किन्तु स्पष्ट भास न होने से निरुक्त में ही छुपा हुआ अनिरुक्त भी है-अतः आपेक्षिक निरुक्त है ॥२६॥

२. जो कभी भी किसी लक्षण द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, सदा दूसरे में छुपकर रहता है, वह 'सर्वानिरुक्तब्रह्म' अर्थात् सर्वथा निर्वचन के अयोग्य है। आगे जो सर्वानिरुक्त से पृथक् होकर भी जगत् अवस्था में दूसरे पदार्थ में छुपा हुआ तो रहता है परन्तु लक्षणों द्वारा उसका मूल तत्व से पृथक् भाव तथा स्थूल पदार्थ से भी पृथक् भाव ज्ञात होता है—यह ब्रह्म की रस बल रूप अवस्था है। यह रस-बल उन्मुग्ध (प्रसुप्त) अवस्था में रहने से पृथक् सत्ता रूप में उपलब्ध नहीं

हो पाते—ग्रतः इन दोनों से समुत्पन्न ग्रग्रिम भावों की ग्रपेक्षा ये दोनों ग्रनिरुक्त हैं। मूल ब्रह्म सर्वथा ग्रनिरुक्त है। रस ग्रौर बल ग्रापेक्षिक दूसरे प्रकार का ग्रनिरुक्त है। रस-बल का ज्ञान स्फुट रूप में तो नहीं हो पाता किन्तु लक्षणों द्वारा ज्ञान का विषय बनता है। वास्तव में तो रस बल की स्थिति महान् में ग्रौर पर में गूढ ग्रवस्था में ही रहती है। महान् ग्रौर पर का विवरण ग्रागे किया जायगा।

ग्राद्य ब्रह्म सदा 'ग्रनिरुक्त' है—उसकी ग्रपेक्षा रस-बल निरुक्त हैं। ग्रग्रिम भावी महान् ग्रौर पर की ग्रपेक्षा रस-बल ग्रनिरुक्त हैं। इस रस बल समवाय से समुत्पन्न महान् ग्रादि सब निरुक्त हैं ग्रर्थात् उन सबका विभाग ज्ञात होता है—रस ग्रौर बल के समान ग्रति गूढता उनकी नहीं होती। ग्रध्यात्म भावगत उन सब की स्थिति का आभास होता है ।।३०।।

यह अनिरुक्त फिर दो प्रकार का बताया गया है, एक नाभिस्थान स्थित नभ्य प्रजापति ग्रौर एक सर्व प्रजापति। नभ्य प्रजापति ग्रत्यन्त अणु है, सर्व प्रजापति परम महान् व्यापक है। इन दोनों ग्रनिरुक्त प्रजापतियों के ग्रतिरिक्त सारे निरुक्त इन दोनों को ग्राधार बनाकर ही सत्ता पाते हैं ।।३१।।

३. प्रकारान्तर से दो ग्रनिरुक्त तत्वों की व्याख्या करते हैं। प्राणिमात्र के प्रत्येक शरीर में एक केन्द्र भाग है—उसको वेद की परिभाषा में 'नाभि' कहा जाता है। उस नाभि में जो शक्ति रहती है—वेद में वह 'नभ्य प्रजापति' नाम से ख्यात है। उस नभ्य प्रजापति का ज्ञान किसी विशेष ग्रवस्था रूप में नहीं हो सकता। इसलिये नभ्य प्रजापति सर्वथा ग्रनिरुक्त (ग्रविभक्त) ही है। ग्रागे बताये जाने वाली वेद की प्रक्रिया के ग्रनुसार जितनी दूरी या परिधि में शरीर का व्यास (सीमा) है —तावत् पर्यन्त सर्व प्रजापति है। ग्रर्थात् सर्व प्रजापति व्याप्त है। उसकी ग्रवयवशः कुछ ग्रंशों में व्याख्या करना सम्भव हो सकता है। सब जगह सम्पूर्ण रूप में व्याख्या सम्भव नहीं है—इसलिए इसे दूसरे प्रकार का ग्रनिरुक्त मानना चाहिये। यह दो पद्यों द्वारा बताया गया है।

नभ्यं तु रूपं न विशेषतोऽस्मिन् शक्येत विज्ञातुमलक्षणत्वात्।
तदाश्रितं यत्त्वनिरुक्तमन्यत् सर्वं ततो निर्वचनं कृतं स्यात् ।।३२।।
³ग्रव्याकृतव्याकरणे विभक्तान्येकस्य रूपाणि बहूनि यानि।
विवर्तरूपाण्युदयं लभन्ते शक्त्या निरुक्तानि मतानि तानि ।।३३।।

नभ्य प्रजापति का रूप किसी भी विशेष प्रक्रिया से पिण्ड में ज्ञात नहीं हो पाता—क्योंकि इसका कोई लक्षण (पहचान) है ही नहीं। इस नभ्य ग्रनिरुक्त के ग्राधार पर जो दूसरा सर्वनाम का अनिरुक्त है—उसका ग्रंशतः निर्वचन किया जाता है ।।३२।।

नभ्य प्रजापति जो ग्रव्याकृत (ग्रविभक्त) है—ग्रौर ग्रपनी निज ग्रविकृत ग्रवस्था में रहते हुए ही ग्रागे जिसका व्याकरण (विभाग) होता है, उससे उस एक के ही ग्रनेक रूप हो जाते हैं—वे नाना रूप उस एक नभ्य प्रजापति के विवर्त कहलाते हैं। वास्तव में तत्वान्तर में बदले नहीं लेकिन बदलाव हो ही जाय-वह विवर्त कहा जाता है—ये सारे नाना

भाव नभ्य में से ही उदित होते हैं—शक्ति रूप नभ्य प्रजापति से समुदित ये सारे नाना भाव निर्वचन योग्य हैं। स्वयं नभ्य नहीं ।।३३।।

४. जो वस्तु अव्याकृत अर्थात् अविभक्त है उसका व्याकरण (विभाग) ही निरुक्ति कहलाता है। पहले के दो पद्यों में जो 'अणिमा' और 'भूमा' नाम के दो अनिरुक्त तत्वों की व्याख्या हुई है। उनमें नभ्य अनिरुक्त अनिर्वचनीय है।

नाभि अर्थात् केन्द्र में स्थित शक्ति जो परम अणुभाव में रहती है—सर्वत्र ख्यात है। यह नभ्य प्रजापति रूपा शक्ति सर्वथा अनिरुक्त (अनिर्वचनीय) है। इसका विभाजन सम्भव नहीं है। आगे कहे जाने वाले ऋग्-यजु-सामों का अन्तिम साम मण्डल 'सर्व अनिरुक्त' इस नाम से कहा जाता है। उस अन्तिम साम मण्डल में ऋग्-यजु तथा मध्य में होने वाले अवान्तर साम इन सबका अन्तर्भाव हो जाता है—वह इतना बड़ा है जिसमें सारा विश्व समा जाता है—इसलिये अति महान् होने के कारण भूमा भाव में है अतः इसका भी सम्पूर्ण भावेन निर्वचन तो नहीं हो सकता, किन्तु अवयवशः अंश भाव में इसका निर्वचन शास्त्रों में हो चुका है—अतः दूसरे प्रकार का आपेक्षिक अनिरुक्त भाव सर्व प्रजापति का मानना चाहिये। नभ्य प्रजापति और सर्व प्रजापति के बीच में उदित होने वाले जितने भी रूप हैं वे सब केन्द्र शक्ति से उदित हो रहे हैं—अतः शक्ति के विवर्त कहे जाते हैं। अतात्विक अन्यथा भाव को विवर्त कहा जाता है—अर्थात् एक ही तत्व का विस्तार विवर्त्त है। केन्द्र में विराजमान शक्ति स्वयं सदा एक रूप में स्थित रहती हुई भी इन नाना भावों का जनन कर रही है—अतः यह विश्व मूल तत्व का विवर्त रूप उस शक्ति के द्वारा ही समुत्पादित है। यह पद्य का भाव है। यह केन्द्र शक्ति का विज्ञानांश बहुत गम्भीर है। आगे भी इसका विवरण होगा।

[1]स्वशक्ति संसर्ग कृतोऽवतारः संसर्ग वैचित्र्यकृतो विकासः।
विकासतो वाप्यवतारतो वाप्यनेकधा निर्वचनप्रयासः ।।३४।।

[2]अग्रे विकासेऽपि तथाऽवतारे भूयोपि भूयोऽप्यनिरुक्तपूर्वम्।
करिष्यते निर्वचनं यदेषां तत्रानिरुक्तं तु निरुक्तपूर्वम् ।।३५।।
यतो विकासोऽथ यतोऽवतारस्तच्चानिरुक्तं प्रकृतिर्हि सास्ते।
परिग्रहा ये परिवारभूताः सर्वे निरुक्ताः प्रकृतौ सि[3]तास्ते ।।३६।।
अज्ञेयतोऽर्वागखिलं निरुच्यते तत्रानिरुक्तस्य निरुक्तिरिष्यते।
ज्ञातुं यतोऽज्ञातमिह प्रयस्यते तत् ब्रह्म[4]विज्ञानमिदं प्रकाश्यते ।।३७।।

सृष्टि के विचार में एक अवतारवाद माना जाता है और एक विकासवाद। अवतार मानने वाले, निज शक्ति के संसर्ग से ब्रह्म जगत् रूप में अवतरित होता है यह कहते हैं। विकासवादी कहते हैं निज शक्ति संसर्ग से इस विचित्र संसार का उदय है—और शक्ति शक्तिमान का यह संसर्ग भी अपने आप में विचित्र है—लोक में दिखाई देने वाले संसर्ग जैसा नहीं, अतः विचित्र है। (विकास वा अवतार शब्द मात्र का भेद हो रहा है) इस विकासवाद को लक्ष्य मानकर अथवा अवतारवाद को लक्ष्य बनाकर अनेक बार इस अनिरुक्त के निर्वचन करने का प्रयास किया गया है ।।३४।।

१. ब्रह्म के अनिरुक्त भाव में शंका की जाती है कि—अनिरुक्त आप कैसे कह रहे हैं ? उस ब्रह्म का ज्ञान तो अवतार क्रम से वा विकास क्रम से होता है—वहां ही इसका निर्वचन भी है। उसका ही उत्तर दिया है।

चाहे विकास दृष्टि से निर्वचन करें अथवा अवतार दृष्टि से यह बारंबार कहा जायगा कि मूल तत्त्व सदा अनिरुक्त ही रहा है। आप जिसका निर्वचन कर रहे हैं—जिसको आधार मानकर निरुक्ति हो रही है—वह तो स्वयं निरुक्त ही है—उस निरुक्त में वह अनिरुक्त छुपा हुआ है, अर्थात् आप तो निरुक्त को ही देख पाते हैं—उसका ही निर्वचन होता है ॥३५॥

२. अनिरुक्त अर्थात् अनिर्वचनीय एक अविभक्त मूल तत्व से नाना विध निरुक्त उत्पन्न होते हैं यह वैदिक दर्शन की मान्यता है। ज्ञान विषय हर हालत में पहले निरुक्त हो जाता है उससे अनिरुक्त का अनुमान किया जाता है—यह निर्वचन प्रक्रिया तो विपरीत है यह इन पद्यों द्वारा बताया जा रहा है।

जिस मूल तत्त्व का विकास हुआ है वा जिसका अवतार हुआ है विश्व रूप में—वह सर्वथा अनिरुक्त ही रहता है—वह ही सबकी प्रकृति (आधार) है। आगे होने वाले सारे भाव उससे परिग्रहीत हैं अतः परिवार के समान हैं—वे सब निर्वचन योग्य निरुक्त हैं—मूल तत्त्व जिसे प्रकृति कहा है—उसमें ये सब बंधे हुए हैं ॥३६॥

३. सब निरुक्त, अनिरुक्त में बंधे हुए हैं।

मूल तत्त्व अज्ञेय है, अनिर्वचनीय है। मूल तत्त्व से आगे होने वाले सारे भाव निरूपणीय हैं। इन सारे विभक्त नाना भावों में, उस अनिरुक्त (अविभक्त), एक, नित्य, भाव को जानने की इच्छा सबकी होती है। जगत में जानने योग्य दृश्य पदार्थ के अतिरिक्त अज्ञात को जानने का प्रयास किया जाता है। उस अज्ञात् तत्त्व की अन्वेषण प्रक्रिया में यह ब्रह्म विज्ञान प्रकाश में लाया जा रहा है ॥३७॥

४. दृश्यमान स्थूल जगत् के द्वारा ही स्थूल को उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म अनिरुक्त ब्रह्म का विज्ञान होता है यह भाव है।

(५) द्वैतो[५]पपादाधिकरणम्

न चासतः संभवतीह भावः सतोऽप्यभावो न मतः कथं[६]चित्।
[७]प्रदृश्यते तूभयथापि तेनामृतं च मृत्युं च पृथग् द्विधाहुः ॥३८॥

द्वैत साधक परिच्छेद

५. ब्रह्म सत् है और कर्म असत् है, इन दोनों को मूल तत्व रूप में मानना आवश्यक है। यह इस परिच्छेद में बताया जायगा।

असत् से भाव की उत्पत्ति संभव नहीं है। अर्थात् अभाव में से भाव नहीं बन सकता, और सत् का अभाव किसी प्रकार माना नहीं जाता किन्तु दृश्यमान जगत् में जो

चीज नहीं है उसकी नवीन उत्पत्ति देखी जाती है उनका नाश भी देखा जाता है। अतः अमृत और मृत्यु ये पृथक् २ द्वित्व रूप में माने गए हैं ॥३८॥

६. श्रीमद्भगवद्गीता कथित 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इस सिद्धान्त को ही इस प्रकरण का प्रमाण मानना चाहिये।

७. संसार में तो देखा जाता है कि जो घड़ा अभी तक नहीं था उसकी नई उत्पत्ति होती है तो असत् की भाव रूपता बन जाती है, जो कपड़ा अभी तक बना नहीं था वह भी नया बन जाता है। इसही प्रकार जो पहले से बने हुये घट-पट आदि हैं उनका नाश भी देखा जाता है। अतः अमृत और मृत्यु नाम के दो तत्व स्वीकार किये जाते हैं, इनमें एक तत्व सदा एकरूप स्थिर रहता है और एक में परिवर्तन होता रहता है।

[1]स्थितिर्न यत्रास्ति कथं स गच्छेद् गतिर्न यत्रास्ति न वा स्थितं तत्।
एकात्मकं तत्परिवर्तशीलं विरुद्धधर्मद्वययोगि मर्त्यम् ॥३९॥

जहाँ कोई आधारभूत एक स्थिति न हो तो गति किसके सहारे हो पावेगी और यदि स्थिति न हो तो गति में भेद भी नहीं हो सकेगा। अतः स्थिति और गति दोनों सहचारिणी हैं—एकरूप हैं। इनकी अवस्था में परिवर्तन होता रहा है। ये स्थिति और गति अर्थात् चल अचल भाव परस्पर विरुद्ध धर्म होते हुए भी दोनों कभी एक दूसरे के बिना नहीं रहते। यह मृत्यु लोक की व्यवस्था है ॥३९॥

१. दो परस्पर विरुद्ध भावों का एक जगह इकट्ठे देखे जाने का उदाहरण बताया है—गति स्थिति एक दूसरे से जुड़ी रहती हैं। परिणाम वा परिवर्तन को गति कहते हैं, एकरूपता को स्थिति कहा जाता है। इस दृष्टान्त से ही सब जगह स्थिति भाव भी है और गति भाव भी, अर्थात् एक स्थिर कूटस्थभाव–तथा दूसरा परिणाम भाव, ये दोनों ही मानने चाहिये यह तात्पर्य है। एक स्थिर पदार्थ के बिना गति का आधार कौन होगा? किसके सहारे परिणति हो सकेगी। एक कूटस्थ रूप स्थिति यदि न हो तो गति में तीव्रता, मन्दता रूप भेद भी सम्भव नहीं हो पावेगा, सर्वत्र गति का एक ही रूप दिखाई देगा। वस्तुस्थिति में जहां स्थिति का आधिक्य हो वहां गति में मन्दता रहती है। जहां स्थिति अल्प हो वहां गति में तीव्रता आजाती है। तीव्रता में भी तारतम्य कभी बहुत तीव्र कभी कम यह भेद रहता ही है—अतः तीव्र गति में भी स्थिति रहती ही है यह स्वतः सिद्ध है। यदि सर्वदा सर्वत्र स्थिति ही रहे—तो सब कुछ जड़वत् हो जाय—कहीं भी कोई फेरबदल–परिवर्तन–परिणाम होना सम्भव ही न हो पावे। इस परिस्थिति में परस्पर विरुद्ध होने पर भी स्थिति और गति अर्थात् कूटस्थता और परिणाम सर्वत्र मानना ही होगा। (जगत् अवस्था में केवल चल भाव से लाभ नहीं एवं केवल अचल भाव से भी लाभ नहीं दोनों के योग चलाचल भाव को ही कल्याणमय माना जाता है) यह ही प्रक्रिया आगे के श्लोकों द्वारा रस और बल में संयोजित हुई है।

बिना बलेनैकरसो रसो भवेत् स नानुयुज्येत विकारतः क्वचित्।
अविक्रियादेव रसात्त्विदं जगन्न चोपपद्येत विकुर्वदाकृति ॥४०॥

अनाश्रयं क्वापि बलं न दृश्यते बलाश्रयं चेदथ तद्बलं पुनः।
बलाश्रयं स्यात्तदिहान्ततो बलं यत्राश्रितं तन्न बलं रसो हि सः ॥४१॥

बलं हि कर्मात्मकमप्रतिष्ठितं स्वभावतो विक्रियते प्रतिक्षणम् ।
ततः प्रतिष्ठातुमिदं न संभवेद् विना रसेन स्वमहिम्नि तद्बलम् ।।४२।।

[2]तस्मादिदं यत्र बलं प्रतिष्ठितं विलक्षणत्वं जनयत् प्रदृश्यते ।
अकर्म तद्रूपमवश्यमिष्यते स्थितं सदा नृत्यति यत्र तद्बलम् ।।४३।।

[3]निस्तारतम्यं न विशिष्य गम्यं पाप्मातिरेकान्न तदस्ति रम्यम् ।
परेऽवरे वाप्यपरावरे वा परात्परं गूढमिदं वदन्ति ।।४४।।

रसो बलं नास्ति बलक्षयोदये बलाश्रयस्यास्य रसस्य दृश्यते ।
तट[4]स्थता तेन विशेषरूपयोर्न चाविनाभाव इहेष्यते तयोः ।।४५।।

पूर्व बताया जा चुका है कि रस केवल आनन्द रूप है, यदि बल की सहचारिता न होवे, तो रस में एकरसता ही रह जायगी—कहीं भी विकार से योग उसका होगा ही नहीं। रस में बल द्वारा जब तक विक्रिया नहीं आवे, तब तक विकारमय इस जगत की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती, जगत में विकार (परिवर्तन) तो नित्य प्रत्यक्ष गम्य है ।।४०।।

बल और कर्म पर्याय हैं। बिना किसी आधार के बल कहीं देखा नहीं जाता। यदि यह कहा जाय कि कर्म अन्यान्य कर्मों के सहारे ही सत्ता पा रहा है ! तो इस कर्म परंपरा में जो कोई अन्तिम बल (कर्म) है वह जहां आधारित है वह बल नहीं हो सकता—वह रस ही है ।।४१।।

बल पराश्रित होकर ही संचरित होता है इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं कि बल क्रियारूप है—जिसे कर्म कहते हैं, क्रिया स्वयं नश्वर क्षणस्थायिनी है। कर्म में प्रतिक्षण विकार (परिवर्तन) होता रहता है। परिवर्तन कर्म का स्वभाव है। विश्वरूप में कर्म वा बल की जो महा महिमा प्रतिष्ठा पा रही है—वह रस के आधार पर ही है, रस के बिना वह संभव ही नहीं है ।।४२।।

उपरोक्त कारणवश यह स्वीकारना पड़ता है कि इस कर्ममय जगत् में यह कर्म जिस आधार पर प्रतिष्ठित हो रहा है और अनेक विलक्षण विचित्रताओं को जन्म देता चला जा रहा है। उस मूल आधार को कर्म रूप नहीं माना जा सकता—वह सदा अनश्वर अकर्म, रूप है—उस पवित्र अकर्म का तात्विक आधार मिल जाने पर ही विश्वरूप रंग-मंच पर बल का अपूर्व नृत्य चलता रहता है—अपूर्वता जगत् के वैचित्र्य से स्पष्ट है।

२. बल का परिणाम ही क्रिया है यह पहले बताया जा चुका है। क्रिया स्वयं क्षण मात्र स्थायिनी है—वह अन्य क्रिया को धारण नहीं कर सकती। जब तक वहां दूसरी क्रिया उत्पन्न हो जावेगी पूर्व क्रिया विलीन हो चुकेगी—इस कारण कर्म का आधार कर्म की अपेक्षा भिन्न ही स्वीकार करना होगा और वह कर्म से विलक्षण ही माना जायगा। कियाक्षणिक है तो उसे नित्य ही होना चाहिए। वह कर्म से भिन्न है अतः उसे 'अकर्म' कहा जाता है। उस अकर्म रूप रस से ही सारे कर्म उत्पन्न होते रहते हैं, फिर उस ही में विलीन हो जाते हैं।

रस रूप मूल तत्त्व में अल्पता वा अधिकता रूप तर-तम भाव नहीं होता, न किसी विशेष प्रक्रिया से उसका ज्ञान हो पाता है, बल की अधिकता के कारण उसकी रमणीयता

भी समक्ष नहीं दीख पाती। पर-अवर-परावर तथा परात्पर अवस्था जो रस की पुरुष रूप में पहले बताई हैं—उनमें पूर्व पूर्व अवस्था अग्रिम अवस्था में निगूढ रहती है, परात्पर भाव सब में निगूढ है।

३. सबका उपसंहार बताया कि, संसार के सब पदार्थ नवीन और पुराने भाव में परिवर्तित होते हैं— उस परिवर्तन में भी तर-तम भाव रहता है, कोई कम पुराना कोई अधिक पुराना, कोई बिलकुल नया, कोई अपेक्षाकृत नवीन, यह तारतम्य भी प्रत्यक्ष है, क्रियात्मक अधिक प्रयोग के कारण अधिक पुराना हो जाने से पदार्थ का रूप भी बदल जाता है। इतना सब होने पर भी वस्तु वही पूर्व परिचित है यह प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान होता है। इस ज्ञान का आधार वह सदा एक रूप में रहने वाला रस ही होता है। अतः मूल तत्व के रूप में दोनों को मान्यता देनी होगी—जिन दो में एक तत्व सदा चल भाव में है और एक सदा स्थिर भाव में। जो सदा एक रूप में स्थिर है वह पदार्थ में छुपकर रहता है। पर-अवर आदि पुरुष विवेचन पूर्व में हो चुका है। उनमें पूर्व पुरुष अग्रिम पुरुष में छुपा रहता है। परात्पर सब में प्रच्छन्न रहता है।

रस को बल रूप नहीं माना जा सकता—क्योंकि बल में नाश और उत्पत्ति दोनों हैं, और इस क्षय-उदय भाव में रस की तटस्थता रहती है अर्थात् रस में क्षय-उदय नहीं होते यह भाव है। अंगुली में क्रिया को—रोक देने पर, अंगुली नष्ट नहीं हो जाती—इसलिये क्रिया और क्रिया का आधार दोनों पृथक् पृथक् रहते हैं यह ही मान्यता है। परस्पर विरुद्ध धर्म होते हुए भी दोनों का एक दूसरे के बिना न रहने वाला सहचर भाव जगत् रचना में अवश्य अभीष्ट है ॥४५॥

(६) वि`प्रतिपत्त्यधिकरणम्

कर्मैव विश्वं तदसत्स्वरूपं न ब्रह्म भिन्नं श्रमणा वदन्ति।
ब्रह्मैव विश्वं प्लवतेऽत्र कर्मेति ब्राह्मणा ब्रह्मविदो वदन्ति ॥४६॥
शून्यं च दुःखं क्षणिकं स्वलक्षणं निस्सारकर्माद्वयवादितो मते।
ब्रह्माद्वयं पूर्णसुखं सनातनं परोवरीणंकरसं परे विदुः ॥४७॥
येषामसद् ब्रह्म भवऽन्त्यसारात्मानो ध्रुवं ते स्वयमप्यसन्तः।
ब्रह्माविनाश्यस्ति सदेति येषां मतिः स्थिरात्मान इमे हि सन्तः ॥४८॥

१. जगत् रचना के विषय में मतभेद दिखाई देता है—श्रमण (बौद्ध) कर्म को ही जगत् रूप मानते हैं। श्रम नाम क्रिया का है, श्रमवादी होने के कारण ही उनको श्रमण कहा जाता है। ब्रह्म ही प्रधान मूल तत्व है क्रिया उसमें ही उत्पन्न होती है और उसमें ही विलीन हो जाती है, यह वेदवेत्ता ब्राह्मणों का मत है। दोनों का मत इस परिच्छेद में कहा जा रहा है।

कर्म ही विश्व रूप में दिखाई देता है और वह असत् रूप है, अर्थात् नश्वर है। इससे भिन्न ब्रह्म कुछ नहीं है श्रमण नाम से कहे जाने वाले बौद्ध ऐसा कहते हैं। इससे विपरीत वेद वेत्ता ब्रह्मण कहते हैं कि विश्व का मूल ब्रह्म है, ब्रह्म का आधार पाकर ही कर्म संचरित होता है ॥४६॥

जो एक मात्र कर्म को ही मूल तत्त्व मानते हैं वे कर्म रूप अद्वैत वादी श्रमण जगत् की कोई भी कर्म के अतिरिक्त पृथक् सत्ता नहीं मानते—वे जगत् को शून्य (असत्) मानते हैं, केवल दुःखमय (दुःख उत्पन्न करने वाला), केवल क्षणावस्थायी, स्वलक्षण मानते हैं। स्वलक्षण का तात्पर्य यह कि जो क्रिया जैसी है वही मात्र उसका परिचय है—वह ही जगत् है। उसका अन्य कोई आधार नहीं है—आपाततः जो दिखाई देता है वह ही जगत् का निज रूप है। सारहीन, अनित्य कर्म को ही जगत् का आधार मानने वाले बौद्धों का यह मत है। वेदज्ञ ब्राह्मणों के मत में एक मात्र अद्वैत ब्रह्म ही मूल तत्त्व है उसमें कर्म संचर होता है, वह पूर्ण सुखमय है, नित्य सनातन है, वह ही पर है वह ही अवर है, वह सदा एक रस है अर्थात् विकार रहित है। ये परस्पर विरोधी दो मत प्रसिद्ध हैं ।।४७।।

जिनके मत में ब्रह्म असत् है अर्थात् कर्म के अतिरिक्त आधारभूत ब्रह्म सत्ता को जो नहीं मानते, वे तो अपनी आत्मा की सत्ता को ही अस्वीकृत कर रहे हैं अतः निःसार आत्मा वाले कहे जाते हैं, वे स्वयं भी असन्त हैं अर्थात् अपनी निज सत्ता का ही अपलाप करते हैं। तब तो यह ध्रुव सत्य है कि उनकी कुछ सत्ता ही नहीं है।

इसके विपरीत नित्य सनातन ब्रह्म की मूल आधार रूप में सदा सत्ता है, ऐसा मानने वाले वेद वेत्ता ब्राह्मण सारभूत स्थिर आत्मा वाले माने जाते हैं, ये वास्तव में सन्त हैं। अर्थात् आत्मा की सत्य संस्थिति को मान्यता देने वाले हैं।

२. वे अपनी आत्मा को ही असार (निःसार) कह रहे हैं, तो अपनी स्वयं की उक्ति से ही असार आत्मा वाले हैं। यह श्रमणों के प्रति एक परिहासोक्ति है कि असत्वादी होने के कारण स्वयं को ही असत् बता रहे हैं।

[३]यथाऽभ्रखण्डावृतमर्कमण्डलं पृथग् दृशेहास्पृशतां न जायते।
सूर्यास्तिधीरेवमिहापि कर्मणा वृतेऽमृते धीः सहसा न जायते ।।४६।।

तदभ्रखण्डावृतदृष्टिमण्डलं न संस्पृशत्यत्र तदर्कमण्डलं।
[४]रविर्न चेत्तर्हि तदभ्रमण्डलं कथं तमस्याकलयेत्तमोमयम् ।।५०।।

तत्कर्मदोषावृतदृष्टिमण्डलं न ब्रह्म तद्व्यापकमाशु पश्यति।
न ब्रह्म चेत् कर्म निराश्रयं कथं स्थितं भवेत् कस्य च सा क्रिया भवेत् ।।५१।।

तद् ब्रह्म तस्माद् पृथगिष्यते ध्रुवं तत्रैव तत्कर्म समस्तमास्थितम्।
उदेति तत्रैव च तिष्ठति क्षणं लयं च तत्रैव तदेति खण्डशः ।।५२।।

जगत् की दृश्यमान अवस्था में मूल तत्व रूप ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन न होने का दृष्टान्त सहित कारण बता रहे हैं कि जैसे बादल के टुकड़े से घिरा हुआ सूर्यबिम्ब अलग दिखाई न देने पर भी सूर्य की सत्ता ही नहीं रही, ऐसा विचार किसी का नहीं होता—वैसे ही बादल के समान नाना विध कर्म जाल से घिरी हुई बुद्धि सहसा भीतर विराजमान अमृत-मय तत्त्व का अनुभवात्मक पृथक् ग्रहण नहीं कर पाती। सहसा पद से यह संकेत कर दिया कि दीर्घकाल तक निरन्तर उस मूल तत्त्व का समाधि रूप अभ्यास करते रहने पर अनुभूति सम्भव हो सकती है।

३. यदि संसार में रस और कर्म दोनों का अस्तित्व है तो सर्व साधारणजन कर्म के अतिरिक्त अमृतमय रस का ज्ञान क्यों नहीं कर पाते ? इसका उत्तर दिया गया।

वास्तव में बादल का छोटा सा खण्ड महान् सूर्यमण्डल को नहीं घेर सकता— वह हमारे दृष्टि मण्डल को आवृत कर लेता है—अतः दृष्टि बादल का वेधन करके सूर्य बिम्ब का दर्शन रूप स्पर्श नहीं कर पाती, इससे सूर्य का अस्तित्व ही नहीं है यह सिद्ध नहीं होता—क्योंकि यदि सूर्य का प्रकाश सर्वथा न रहे तो तमोमय आकाश में—अन्धकार रूप तमोमय बादल का भी पृथक् आभास कैसे हो सकता है ? अन्धकार में ही अन्य अल्प अवस्था भूत अन्धकार पृथक् रूप में दृष्टिगोचर नहीं हो सकता।

४. बादल आकाश के थोड़े अंश को घेर कर सूर्य के प्रकाश का आवरण करता है—शेष आकाश में सूर्य का प्रकाश किरणों की तिर्यग् गति के कारण यथावत् रहता है, उस प्रकाश की सहायता से ही दृष्टि उस बादल खण्ड को देख पाती है। यदि सर्वथा सूर्य न हो, तो सर्वत्र जगत् में अन्धकार ही रहेगा, फिर तो उस अन्धकारमय जगत् में वह बादल खण्ड जो स्वयं तमोमय है— पृथक् अवस्था में नहीं दिखेगा। इस दृष्टान्त के अनुसार ही प्रकृत में भी समझना चाहिये कि ज्ञानरूप रस की स्वाभाविक सतत स्थिति न होवे तो कर्म का ज्ञान भी कैसे हो सकेगा ?

हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान साधक दृष्टि मण्डल नाना विध विभिन्न कर्म दोषों से आवृत रहता है, और स्वरूपतः भी अल्प है। यह ही कारण है—जिससे हम उस व्यापक अमृतमय ब्रह्म का दर्शन (अनुभूति) शीघ्र नहीं कर पाते। इसका अर्थ यह नहीं होता कि हमको नहीं दिखता अतः ब्रह्म की सत्ता ही नहीं है—यह मान लिया जाए। क्योंकि यदि वह अमृतमय आधार न बने तो निराधार कर्म की सत्ता कहाँ रह पावेगी और वह कर्म वा क्रिया किसकी होवेगी ? ।।५१।।

अनुसन्धानात्मक सत्य को खोजने पर कर्म के अतिरिक्त अमृतमय ब्रह्म की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनी होगी—यह ध्रुव है। उस मूल तत्त्व का आधार पाकर अनन्त रूपों में नाना कर्मों की स्थिति हो रही है, अर्थात् सम्पूर्ण कर्म ब्रह्म में ही संचरित हो रहे हैं। ब्रह्म में ही कर्म का उदय होता है—उसमें कुछ काल तक कर्म की स्थिति रहती है, अन्ततः वह कर्म अवयवशः उस अमृत-ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।

'ब्रह्मैव तत् कर्म तदन्यदस्मात् कर्मेति निर्धारयितुं न शक्यते।
ब्रह्मैव यद ब्रह्मणि चिन्त्यमेतन्न ब्रह्म तत् प्राङ् न यतो न पश्चात् ।।५३।।

ब्रह्मैव[१] तत्स्यादतिरिच्यते वा कर्मास्ति नूनं सदसत्स्वरूपम्।
भेदेऽपि न द्वैतमिहोपकल्प्यं मृत्योरसत्त्वात् परतो हि सत्त्वात् ।।५४।।

अति सूक्ष्म ब्रह्म ही, तूल-क्रिया-(कर्म) रूप में आ जाता है, अथवा कर्म ब्रह्म से पृथक् है यह निश्चय नहीं किया जा सकता। ब्रह्म-ब्रह्म में ही कर्मपरक हो रहा है—यह गहन चिन्तनीय विषय है। अर्थात् विश्वातीत ही विश्व बना हुआ है, यह विश्वास समुचित इस हेतु लगता है कि कर्म के उदय होने से पूर्व और क्रिया के उपरम हो जाने के अनन्तर

ब्रह्म का ही सद्भाव रहता है—अतः कर्म से पहले भी ब्रह्म है—अवसान में भी वही है। किन्तु कर्म साक्षात् दृश्यमान है—अतः उसका निषेध भी नहीं किया जा सकता ॥५३॥

५. ये ब्रह्म और कर्म सर्वथा एक दूसरे से भिन्न-भिन्न रूप में हैं—अथवा दो का भाव, समझने की विचार प्रक्रिया के लिए ही है, वास्तव में ब्रह्म कर्म अभिन्न हैं ? इसका निश्चयात्मक निर्णय नहीं किया जा सकता। कर्ता से कर्म की सत्ता अलग नहीं दिखाई देती—अतः कर्ता ब्रह्म और कर्मरूप जगत् इन दोनों में अभेद सिद्ध होता है। इसके विपरीत नित्य ब्रह्म में क्षणजीवी कर्म कभी तो उदित होता है—कभी नहीं होता—उसकी नित्य सत्ता नहीं है—अतः कर्म स्वयं में नश्वर है—इस कारण इन दोनों में भेद-भाव भी सिद्ध होता है।

ब्रह्म ही कर्मरूप है अथवा कर्म पृथक् है इस विचार में—यह तो एकतर निश्चय है कि क्रियारूप कर्म की सत्ता कभी नहीं होती-कभी होती है। सतत क्रिया होती ही रहे ऐसा कभी कहीं नहीं देखा जाता—अतः कर्म कभी सत् रूप है तो कभी असत्। इस विचार प्रक्रिया से नित्य सत् ब्रह्म में ही सत्-असत् स्वभाव वाली क्रिया की उदय और लीनता होती है। यह मानना चाहिये। ऐसा न मानकर कर्म की भिन्न सत्ता भी यदि स्वीकार करते हैं—तथापि मूल में दो तत्त्व हैं—यह कथमपि नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एक नित्य सत् ही मूल तत्व हो सकता है। कर्म मृत्यु रूप होने के कारण असत् है—नश्वर है। पर ब्रह्म नित्य सत् है। अतः अद्वितीय भाव ब्रह्म का है ही ॥५४॥

६. ब्रह्म में ही कर्म दृश्यमान होता है, आधार पाने पर ही क्रिया होती है। आधार के बिना स्वतन्त्र रूप क्रिया कहीं देखी नहीं जाती। अतः क्रिया आधार से भिन्न नहीं है—यह सिद्ध होता है। अंगुली में जब चेष्टा आरम्भ होती है—उससे पहले भी अंगुली की स्थिति है और जब चेष्टा समाप्त हो गई तब भी अंगुली की सत्ता बनी रहती है, चेष्टा की समाप्ति के साथ अंगुली की भी समाप्ति नहीं होती—अतः अंगुली की क्रिया अंगुली से भिन्न है यह स्पष्ट होता है। ब्रह्म से क्रिया भिन्न है अथवा अभिन्न इस विषय का एकतरफा निर्णय नहीं हो सकता—इस ही कारण वेदान्त, मतावलम्बियों ने, क्रिया की ब्रह्म से भिन्न या अभिन्नता का स्पष्टीकरण न करते हुए भेदाभेद को अनिर्वचनीय माना है और उस अनिर्वचनीय क्रिया का मूल माया को माना है। यहां तात्पर्य इतना ही है कि चाहे कर्म को भिन्न माने वा अभिन्न, कर्म की स्वतन्त्र भिन्न सत्ता न होने के कारण मूल तत्व में द्वैत कल्पना नहीं की जा सकती यह उपपादन किया जा चुका है पूर्व पद्य में।

अनुक्षणं[1] यत्परिवर्तमानस्वरूपमस्ति स्थितमेव नित्यम्।
विनश्यदेवास्त्यविनाशि तस्मात् त्रिधा विदां विप्रतिपत्तिरस्मिन् ॥५५॥

येषां सतोऽसद् भवतीह तेषां मुख्या स्थितिर्भक्तिरियं[2] निवृत्तिः।
अथासतः सद् भवतीति वादे मुख्या निवृत्तिः स्थितिरेव भक्तिः ॥५६॥

न चासतः सन्न सतोऽप्यसद्वा कदाचिदस्तीति परं मतं यत्।
असच्च सच्चेत्युभयं स्वतन्त्रं नाभत्परस्मात्परमित्यवोचन् ॥५७॥

तत्रासतः सद् भवतीति वादे येषां त एते श्रमणाः प्रसिद्धाः ।
पूर्वं सदासीत् परतस्तु तस्मात् कर्मेदमित्थं तु वदन्ति विप्राः ।।५८।।

वस्तु स्वरूप प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है तथापि तत्तत् परिवर्तमान वस्तु में अस्ति बुद्धि बनी रहती है, अर्थात् सत्ता भाव सदा रहता है। वस्तु के सर्वथा नष्ट हो जाने पर भी, अविनाशी सद्भाव अभाव के साथ भी संयुक्त रहता है। सत् रूप अमृत और असत् रूप कर्म के विषय में तीन प्रकार की विचारधारा प्रचलित हुई है ।।५५।।

१. प्रतिक्षण परिवर्तनशील जगत् में 'अस्ति' अर्थात्—'है' यह बुद्धि कभी विचलित नहीं होती। घड़े की सत्ता में घट है यह कहा जाता है, टूट जाने पर घट के खण्ड हैं, यह अस्तिभाव रहता है, चूर-चूर हो जाने पर मृत्तिका है में भी सद्भाव रहता है, पानी मिल जाने पर कीचड़ है, यहां भी अस्तिभाव है। इस तरह नाम और रूप के बदल जाने पर भी 'अस्ति' यह बुद्धि कभी नष्ट नहीं होती। कुछ भी नहीं दिखाई देने पर भी अस्ति बुद्धि अभाव के साथ जुड़ जाती है—उस समय भी कुछ नहीं 'है'—इस रूप में अस्ति बुद्धि रहती ही है। इस सत् और असत् की विवेचना में तीन प्रकार की विचार परम्परा चली है। एक विचार है कि नित्य सत् ही मुख्य है, कभी सत् और कभी असत् रूप कर्म केवल कल्पित है। दूसरा विचार है कि असत् रूप कर्म ही वास्तविक हैं, सत्ता तो क्रिया का प्रवाह रूप मात्र है—अर्थात् कर्म प्रवाह से सत्ता कल्पित होती है। तीसरा पक्ष है कि सत् और असत् दोनों की मूल सत्ता है। चार पद्यों द्वारा इसकी ही विवेचना की गई है।

सत् से असत् रूप कर्म का उदय होता है इस मत में सत्ता मुख्य मानी जाती है और असत् रूप अभावात्मक कर्म गौण माना जाता है। असत् रूप कर्म के प्रवाह से सत् का भास होता है, ऐसा मानने वालों के मत में प्रधानता अभाव की है सत्ता गौण हो जाती है ।।५६।।

२. निवृत्ति अभाव वा असत् को कहते हैं। भक्ति का अर्थ गौण है। पद्य में इयं पद से क्रिया का संकेत है—दृश्यमान के लिए इदम् का प्रयोग होता है।

अभाव रूप कर्म से भाव रूप सत् की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती, एवं नित्य सत् से अभावात्मक कर्म की उत्पत्ति भी संभव नहीं है। ऐसा मत मानने वालों के विचार में असत् और सत् ये दोनों स्वतन्त्र हैं। इनमें से कोई भी एक दूसरे से समुत्पन्न नहीं है। अर्थात् दोनों की ही मूलतः सत्ता है यह उनका कथन है। एक सत् को मूल मानते हैं—दूसरे असत् को और तीसरे सत्-असत् दोनों को, ये त्रेधा विचारधारा है ।।५७।।

उक्त विचार क्रम में, असत् रूप कर्म ही मुख्य है, सत् तो कर्म प्रवाह की अवस्था मात्र है—यह मानने वाले श्रमण (बौद्ध) नाम से प्रसिद्ध है। (श्रम कर्म को ही कहते हैं)। दूसरे पक्ष वाले वेद को मान्यता देने वाले विप्रगण का विचार है कि, आदि में केवल अमृतमय एक मात्र सत् है—उस मूल तत्व से ही इस कर्म का उदय सर्जनकाल में होता है ।।५८।।

सदेव[3] नाग्रेऽप्यसदेव नाग्रे किन्त्वाभु तुच्छेन वृतं पुरासीत् ।
इत्याह सिद्धान्तमिह प्रजेशस्तेनोभयं तत् सदसत तदासीत ।।५६।।

इस त्रेधा विचारधारा पर प्रजापति ने स्वयं निर्णय दिया कि सृष्टि से आदि काल में न सत् रूप था न असत् था, किन्तु 'आभु' अर्थात् विभु-व्यापक ब्रह्म तुच्छ (अविद्या) से घिरा हुआ था—अर्थात् ब्रह्म और कर्म दोनों मूल में हैं किन्तु उन्मुग्ध अवस्था में हैं। इस प्रकार दोनों का सद्भाव निर्णीत हुआ ॥५६॥

३. प्रजा के स्वामी प्रजापति ब्रह्माजी ने तो पूर्व कथित नासदीय सूक्त में 'नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्' इस वाक्य के द्वारा केवल सद्वाद तथा केवल असद् वाद दोनों का 'न' इस पद के द्वारा निराकरण कर के 'तुच्छेनाभ्वपिहितं तदासीत्' इस उत्तरार्ध के द्वारा सिद्धान्त रूप में दोनों की सत्ता को स्वीकार किया है। साध्य नाम के देवताओं में प्रादुर्भूत ब्रह्मा ने तत्कालीन पूर्वोक्त दशवादों का निराकरण करके सर्व समन्वयवाद की प्रतिष्ठा की थी—यह पहले कहा जा चुका है। समन्वय प्रक्रिया यह थी कि नित्य सत्—अमृतमय व्यापक तत्व और असत् दोनों एक ब्रह्मात्मक ही हैं—असत् को ही कर्म कहा जाता है। ये दोनों ही मूल में ही अवस्थित हैं। किन्तु असत् नाम से कहे जाने वाला कर्म तुच्छ है—अविद्या है। यह पराश्रित है इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। आधार के बिना स्वतन्त्र कर्म कहीं दृश्यमान नहीं होता, और कर्मस्व स्वरूप से नित्य नहीं है—उत्पत्ति और विनाश यह कर्म का स्वभाव है। सर्वत्र व्यापक होने से रस आभु है, आभु और विभु समानार्थक हैं। रस रूप ब्रह्म की सत्ता किसी भी देश में वा किसी भी काल में नहीं है—यह नहीं हो सकता—अतः मुख्य तत्व देश व काल की सीमा से कभीबद्ध नहीं होता—वह रस ही एकमात्र मूल तत्व है। बल-शक्ति वा कर्म तो उस आभु-रस में आधारित होता है—अतः अभ्व नाम से जाना जाता है—यह पूर्व बताया जा चुका है। आभु में पैदा होने वाला अभ्व कहलाता है। वैदिक मर्यादानुसार आभु के आ को ह्रस्व अ हो गया है। यह कर्म क्षणजीवी है, प्रतिक्षण नवीन-नवीन भाव में उत्पन्न होना और नष्ट होते जाना यह कर्म का स्वभाव है, बहुत छोटे प्रदेश में रहने वाला कर्म अत्यन्त सीमित है। नित्य-व्यापक-आभु-विभु-रस में ही कर्म उत्पन्न होता है—फिर रस में ही विलीन हो जाता है—जैसे जल में तरङ्गें उत्पन्न होती हैं फिर उसमें ही लीन हो जाती हैं। इस कारण ही तुच्छ संज्ञा है। ये सब होने पर भी कर्म में संख्याकृत अनन्तता है—अतः प्रति व्यक्ति भिन्न होने पर भी सम्पूर्ण देश और काल में कर्म भी व्याप्त रहता है। कोई भी देश काल कर्म रहित नहीं है। प्रतिव्यक्ति भाव में उत्पत्ति और विनाश शील होने पर भी समष्टिभाव में कर्म को भी पूर्ण कहा जाता है। यह 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इस वेद वचन से प्रमाणित है। इस प्रकार ब्रह्मा ने नासदीय सूक्त में मूल में ही रस और कर्म दोनों की सत्ता मानी है। तथापि कर्म की स्वतन्त्र पृथक् सत्ता न होने से द्वैतभाव को स्वीकार नहीं किया है। रस की सत्ता से ही बल की सत्ता है। इसलिये कर्म की पृथक् सत्ता नहीं है, और वेद का यह वाक्य भी 'सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् हे सौम्य ? सृष्टि से पूर्व यह एकमात्र 'अद्वितीय नित्य सत् ही था' यहां विरुद्ध नहीं पड़ता। यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये कि रस से बल विजातीय भिन्न स्वभाव है अतः विजातीय भेद तो आता ही है—क्योंकि सर्जन अवस्था से पूर्व बल सर्वथा प्रसुप्तावस्थ है। प्रसुप्त बल रस से अतिरिक्त सत्तावान् नहीं है यह आगे बताया जायगा। संसार अवस्था में भी 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह जो आत्मा सम्बन्धी अद्वैत भाव प्रसिद्ध है—इसका भी कोई विरोध यहां नहीं आता—क्योंकि

बल के जाग जाने पर भी रस से बल की भिन्न रूप में सत्ता नहीं मानी जाती, अनेक बार यह कहा जा चुका है। बल को अनिर्वचनीय रूप में स्वीकारने पर भी अद्वैत का भङ्ग नहीं होता—यह सिद्धान्त पक्ष है। तुच्छ होने के कारण ही बल को असत् कहा जाता है। अनिर्वचनीय मानने पर भी सत् से भिन्नता ही यहां असत् शब्द का अर्थ है। यह सत् और असत् का सहकार वा समवाय मूल रूप में ही स्वीकृत हुआ है—यह पद्य का अर्थ है।

(७) वैधर्म्याधिकरणम्

न चा[1] नयोर्देशकृतं पृथक्त्वं स्वरूपतस्त्वस्ति च नास्ति चेह।
बुद्धं पृथक् स्यान्न पृथक् तु सुप्तं पृथक्त्वमेवास्ति तयोस्तु धर्मे ॥६०॥
रसप्रतिष्ठस्य बलस्य देशो रसो विभुत्वात्तु रसस्य नान्यः।
ब्रह्मैव सर्वस्य ततः प्रतिष्ठा[2] न स्यात्प्रतिष्ठा क्वचिदप्रतिष्ठा ॥६१॥
रसप्रसुप्तस्य बलस्य यद्वद्रसः स्वरूपं न रसात्पृथक् तत्।
[3]रसेन भुक्तस्य बलस्य तद्वद्रसः स्वरूपं न रसात्पृथक् तत् ॥६२॥
रसे प्रबुद्धस्य बलस्य यद्वद् भवेत्स्वरूपं रसतो विभिन्नम्।
[4]बलेन युक्तस्य रसस्य तद्वद् भवेत्स्वरूपं रसतो विभिन्नम् ॥६३॥

रस और बल का व्यक्ति भेद रूप से देशजनित पार्थक्य नहीं है, स्वरूप से मौलिक पार्थक्य कभी है और कभी नहीं है। जागरित अवस्था में बल का पार्थक्य होता है, सुप्त अवस्था में नहीं होता, किन्तु धर्म में दोनों का पार्थक्य अवश्य है।

१. यद्यपि रस और बल का देशकृत भेद नहीं कहा जा सकता—क्योंकि रस की व्यापकता के कारण रस शून्य कोई स्थान हो नहीं सकता। बल सदा रस के आश्रित रहता है रस का देश ही बल का भी देश सिद्ध होता है, जल में तरङ्ग के समान। स्वस्वरूप विचार में दोनों भाव हैं, भेद भी है और अभेद भी। जागरित बल भिन्न है और प्रसुप्त बल अभिन्न है यह कहा जा सकता है। शयनावस्थ बल का स्वरूप पृथक् प्रतीत नहीं होता - जबकि जागरित बल का स्वरूप पृथक् प्रतीत होता है। अंगुली में जब तक क्रिया नहीं होती, तब तक अंगुली के स्वरूप में ही बल की भी स्थिति है। क्रिया का आरम्भ हो जाने पर तो अंगुली के आधार पर क्रिया का स्वरूप अंगुली से भिन्न प्रतीत होता ही है—यही कारण है कि अंगुली में क्रिया होरही है यह व्यवहार आधार आधेय भाव का होता है। धर्म दोनों का अलग-अलग है इसलिये दोनों का वैधर्म्य अवश्य कहा जाना चाहिये। उसका ही उपपादन किया जा रहा है। दोनों के धर्म भाति सिद्ध हैं यह पूर्व बताया जा चुका है।

रस में प्रतिष्ठित बल का देशकृत विभाग होता है, किन्तु रस की व्यापकता के कारण रस का अन्य भाव में पृथक् कोई देश नहीं बनता। ब्रह्म ही सब का एक मात्र आधार है। यह आधार कहीं आधार न होता हो ऐसा कभी नहीं होता ॥६१॥

२. सदा सर्वत्र रस ही बल का आधार बनता है। यहां आश्रय या आधार को ही प्रतिष्ठा शब्द से कहा है।

उन्मुग्धअवस्था में रस में प्रसुप्त बल का स्वरूप रसरूप ही होता है, रस से पृथक् कोई स्वरूप उसका नहीं होता। इस ही प्रकार जब कर्म वा बल रस के द्वारा मुक्त हो—कर रस में लीन हो जाता है तब भी बल रस रूप ही हो जाता है, उसका अलग कोई स्वरूप नहीं रह जाता—अतः दोनों अवस्थाओं में बल रसावस्थ होकर तद्रूप हो रहता है ।।६२।।

३. रस के द्वारा मुक्त का तात्पर्य रस में लीन हो जाना वा क्रिया का समाप्त हो जाना है।

जिस प्रकार रस में बल के जाग जाने पर, रस से बल का स्वरूप अलग दिखाई देने लगता है—वह बल की विभक्त अवस्था होती है। इस ही प्रकार बल से संयुक्त रस का स्वरूप भी निज के मौलिक भाव से भिन्न हो जाता है ।।६३।।

४. जब अंगुली में क्रियारूप चेष्टा आरम्भ हो जाती है तो पूर्वावस्था की निष्क्रिय अंगुली से उस समय कुछ विलक्षणता अवश्य प्रतीत होती है—इस उदाहरण के अनुसार ही, बल के जाग जाने पर रस की सहज अवस्था में विलक्षण भाव होता ही है। अर्थात् रस की सहज निष्क्रियता सक्रिय सी प्रतीत होती है।

[५]परस्परान्वाहितभिन्नरूपयोः परस्परेण व्यतिरिक्तयोस्तयोः।
सर्वात्मना विप्रतिपन्थिवृत्तिता स्यादन्यथा द्वैतविकल्पना वृथा ।।६४।।
[१]ब्रह्मामृतं पूर्णमखण्डमद्वयं शान्तं शिवं शाश्वतिकं तथाऽभयम्।
अनादि चानन्तमसङ्गमव्ययं तन्निर्गुणं निष्कलमेकमक्रि[२]यम् ।।६५।।
क्षुब्धं बलं तु क्षणिकं प्रदेशवद घोरं[३] मितं शून्य[४] मनेकमल्प[५]वत्।
प्रतिक्षणापूर्वमिति स्व[६]लक्षणं क्रियात्मकं भूरिकलं महा[७]गुणम् ।।६६।।

रस और बल भिन्न रूप में होते हुए, एक दूसरे में समाहित हो रहे हैं। इन दोनों का धर्म स्वरूप भिन्न है। धर्म भाव इनका एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध शत्रुवत् है। यह ही कारण है इनमें द्वैतभाव कल्पना का अन्यथा—रस से ही बल का उदय और अन्त में उसमें ही लय हो जाने की प्रक्रिया में द्वैतकल्पना तो वृथा हो जाती है। रस और बल का परस्पर विरुद्ध धर्म भाव में होना ही द्वैतकल्पना का आधार है ।।६४।।

५. यदि परस्पर विरुद्ध धर्म भाव न हो तो बल की कल्पना ही क्यों की जाय।

उक्त विरुद्ध धर्मों का स्पष्टीकरण किया जा रहा है। प्रथम ब्रह्म के धर्म बताते हैं। रस मय ब्रह्म-अमृत स्वरूप है, अन्य किसी की अपेक्षा न रखता हुआ अपने आप में परिपूर्ण है, अखण्ड (अविभक्त) है, वह अकेला है—द्वैत कुछ नहीं है, रस, क्षोभ रहित शान्तानन्द स्थिति में सदा रहता है, रस शिवरूप है अर्थात् कल्याणमय है, शाश्वत अर्थात् नित्य सनातन है, सर्वथा अभय रूप है। दूसरे से भय होता है—जब द्वित्व है ही नहीं तो अभयता स्वतः सिद्ध है, रसमय ब्रह्म अनादि है-अर्थात् उत्पत्ति-मरण रहित है, सर्वत्र व्यापक होने के कारण अनन्त है, रस असंग है, अर्थात् कर्म का आधार होते हुए भी कर्म विकार से अस्पृष्ट है, रस अव्यय है—यह कभी विकृत नहीं होता, ब्रह्म निर्गुण है, (गुण ही विकार

हेतु बनते हैं) ब्रह्म निष्कल है—ब्रह्म में कला रूप अंश विभाग नहीं है, वह सदा एक रूप है, ब्रह्म में कोई क्रिया नहीं होती—वह अकर्म रूप है ।।६५।।

१. ब्रह्म और कर्म के या दूसरे शब्दों में रस और बल के विरुद्ध धर्म दो पद्यों में प्रदर्शित हो रहे हैं। ज्ञानमात्र के विषय बनने के कारण ये सारे धर्म भाति सिद्ध हैं, सत्तासिद्ध नहीं।

२. अक्रियम् = स्थान का त्याग और परिणाम (स्वरूप में परिवर्तन) यह क्रिया का स्वरूप है, किन्तु व्यापक ब्रह्म में जहां कोई खण्डरूप विभाग ही नहीं है, वहाँ देशत्याग रूप वा परिणाम रूप कर्म का होना सम्भव ही नहीं है—इसलिये अक्रिय कहा जाता है। यद्यपि बल रसरूप ब्रह्म के आश्रित है और बल का परिणामस्वरूप कर्म भी रस के आधार पर ही उत्पन्न होता है, परन्तु ब्रह्म में उत्पन्न हुआ कर्म, ब्रह्म को विकृत नहीं कर पाता—यह ही ब्रह्म की अनिर्वचनीयता है। उससे ही समुदित कर्म उसमें विकार क्यों नहीं कर पाता यह आगे निर्विकाराधिकरण में दृष्टान्त सहित मूल में ही प्रतिपादित होगा।

रस के लक्षणों से विपरीत—बल सदा चलायमान रहता है, क्षणमात्रजीवी है, स्थान विशेष से घिरा रहता है, घोर (दुःखद) है, सीमित तथा शून्य अर्थात् सत्ता शून्य है, बल अनेक रूप में विभक्त रहता है, अति अल्प देश में स्थिति पाता है; बल अर्थात् कर्म प्रतिक्षण नवीन विलक्षण भावापन्न होता है—उसके नये २ रूप ही उसके लक्षण हैं—जो अन्यत्र नहीं घटते अतः वह केवल स्वलक्षण है, सदा क्रियाशील है—अतः कर्म नाम से ख्यात है, बल भूरिकल अर्थात् अनेक अंशों में विभक्त रहता है, ब्रह्म निर्गुण है तो बल महान् गुण विशिष्ट है आधार भी कर्म ही है। रस में तो गुण उत्पन्न ही नहीं होते—वह तो निर्गुण है ।।६६।।

३. घोर = दुःखों को उत्पन्न करने वाला, कर्म जनित ही दुःख होते हैं—इसका उपपादन आगे मूल में ही किया जायगा।

४. शून्यम् = कर्म सत्ता रहित है, अर्थात् पृथक् रूप में कर्म की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

५. अणुप्रदेशम् = थोड़े से स्थान में स्थिति पाने वाला।

६. स्वलक्षण = क्षणमात्र स्थायी रहने वाले सारे कर्म विलक्षण होते हैं। क्षणमात्र स्थित रहने के कारण एक कर्म का दृष्टान्त दूसरे कर्म में सम्भव नहीं होता—अतः भिन्न-भिन्न कर्म अपने आप ही, अपने लक्षण हैं, यह स्वलक्षण का तात्पर्य है।

७. महागुण = धारावाहिनी क्रिया ही गुण रूप हो जाती है—अतः सर्वगुण रूप कर्म ही है, गुणों का आधार भी कर्म ही है। रस में तो गुण उत्पन्न ही नहीं होते—वह तो निर्गुण है।

[8]बृहत् सदा यत् परिबृंहणं यत् तदुच्यते ब्रह्म तदक्षयं स्यात्।
अथात्र संसृज्य विसृज्यते यत् तदुच्यते कर्म स वै[9] विसर्गः ।।६७।।

ब्रह्मास्ति नित्यं जगतः प्रतिष्ठा तत्सर्वबीजं तदयं [10]विकाशः।
कर्म्मैव तस्यास्ति बलं [11]स्वरूपं तदस्ति नास्तीति सतो विनाशः ।।६८।।

विश्वस्य तूलस्य यदेकमूलं ब्रह्मातिमात्रं धृतसर्वकर्म ।
अविश्व[12]नाशे क्वचिदेकनाशेऽप्यहो विनाशं कथमस्य मन्ये ॥६९॥

[13]न नाश्यते नोत्क्रमते न हीयते न वा विकारं भजते न जीयते ।
न बद्धमुक्तं तदिहाधऊर्ध्वयोर्बहिस्तथान्तः समरूपतः स्थितम् ॥७०॥

जो सबसे बड़ा व्यापक है और जो सदा उफनता हुआ फैलता रहता है वह ब्रह्म नाम से ख्यात है, वह सदा अक्षय अर्थात् नित्य वर्तमान है। उस ब्रह्म में संसर्ग करके जो छोड़ दिया जाता है—वह कर्म कहलाता है--यह विसर्जन ही विसर्ग है--अर्थात् जगत् भाव है ॥६७॥

८. यद्यपि यह ब्रह्म लक्षण पूर्व कहा जा चुका है, तथापि ब्रह्म शब्दार्थ के गम्भीर होने के कारण बुद्धि में स्थिरतापूर्वक दृढ़ करने के अभिप्राय से बारम्बार कहा जा रहा है।

९. विसर्ग=विसर्जन भी कर्म कहलाता है। विसर्ग को ही सर्ग, अर्थात् सृष्टि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि रस में से ही कर्ममय जगत् का विसर्ग होता है।

ब्रह्म नित्य सनातन है---जगत् का आधार है--वही सब का मूल कारण है, यह संसार ब्रह्म का विकास है। उस ब्रह्म में बल कर्मरूप है। कर्म क्षणमात्र अस्तिभाव में रहता है, फिर उत्पन्न होकर नष्ट भी हो जाता है ॥६८॥

१०. विकाशः=ब्रह्म में परिणाम तो होता नहीं--अतः ब्रह्म का विकास ही जगत् को मानना समुचित है।

११. बल का दृश्यमान रूप कर्म (क्रिया) ही है और वह क्षणमात्र के लिये अस्तिभाव में होता है। वास्तविक नित्य सत्ता कर्म की नहीं होती। कर्म उत्पन्न होता है फिर उसका विनाश भी देखा जाता है।

इस दृश्यमान स्थूल जगत् का एक मात्र मूलाधार जो ब्रह्म है--वह सर्वत्र व्यापक है, उसने सब कर्मों को धारण कर रखा है--अतः वह ही विश्वरूप में भासित हो रहा है। सम्पूर्ण विश्व का नाश कभी होता नहीं, विश्व के किसी अंश विशेष का नाश हो जाने से ब्रह्म का नाश कैसे माना जा सकता है--यह आश्चर्य की ही बात है कि कुछ लोग कर्म नाश से ब्रह्म का नाश मानते हैं ॥६९॥

१२. जगत् में व्यक्ति रूप से कुछ-कुछ पदार्थ नष्ट होते हैं, समष्टि रूप में सारा विश्व कभी नष्ट नहीं होता, तो जगत् के मूल आधार का नाश कैसे स्वीकार किया जा सकता है, सम्पूर्ण विश्व के नष्ट न होने पर विश्व के मूल का नाश कैसे मान लिया जाय।

ब्रह्म न तो नष्ट किया जा सकता है, न कभी ब्रह्म का उत्क्रमण होता है, न इसमें कभी कमी आती है, वह कभी विकृत नहीं होता, ब्रह्म में जय-पराजय भाव भी नहीं है। वह कभी बन्ध में नहीं आता अर्थात् कर्मबन्ध ब्रह्म पर लागू नहीं होता, जब बन्ध ही नहीं तो

मुक्ति किसकी—वह तो सदा ही मुक्त है, इस जगत् में नीचे, ऊपर, बाहर, भीतर सर्वत्र ब्रह्म समान भाव में स्थित है ।।६६।।

१३. ये ब्रह्म लक्षण दृढता से समझ लेने के लिए पुनः आवर्तित हुए हैं ।

> सदैव तु ब्रह्म न नास्ति कर्हिचित् सति[1] स्थितं कर्म ततः सदिष्यते ।
> असत्तु[2] सत्तां कथमेति कर्म तन्न शक्यते वेत्तुमिदं कथञ्चन ।।७१।।
> [3]यत्कर्तृ तत्कर्म यदस्य भोक्तृ तद् ब्रह्म चैतद् द्वयमस्ति भिन्नम् ।
> कर्मैतदस्ति क्षणिकं ततस्तत् कथं स्वयं स्यात् स्वफलस्य भोक्तृ ।।७२।।
> [4]कर्माणि यानि स्वयमुद्भवन्ति ततो जगन्तीह समुद्भवन्ति ।
> क्रिया न चेत् स्यात् किमपीह न स्यात् कर्मैव कर्तृ प्रवदन्ति तस्मात् ।।७३।।
> [5]बलेन कम्पश्च फलं च कर्म तन्नानाश्रयं नु प्रभवेत् कथञ्चन ।
> बलेन कम्पे जनिते तदाहितो भोगो विशेषः स हि यत्र भोक्तृ तत् ।।७४।।

रसात्मक ब्रह्म ही एक मात्र नित्य सत् है—ब्रह्म का नास्ति भाव कभी नहीं होता । उस नित्य सत्ता के आधार पर स्थित कर्म सत् रूप में दृश्यमान होता है । असत् स्वभाव वाला कर्म सत्तावान् कैसे बन जाता है ? यह विषय कथमपि बुद्धिगम्य नहीं होता ।।७०।।

१. नित्य सत् में स्थिति पा जाने पर ही कर्म की सत्ता प्रतीत होती है । ब्रह्म की सत्ता से ही कर्म की सत्ता होती है ।
२. स्वयं असत् कर्म, दूसरे की सत्ता से कैसे सत्ता पा लेता है ? यह अनिर्वचनीय है ।

कर्त्ता और भोक्ता अलग-अलग होते हैं । कर्त्ता ही कर्म किया करता है, आधार से भिन्न न होने से कर्त्ता ही कर्मरूप है । कर्म के फल का भोक्ता जो होता है—वह ब्रह्म है । कर्म और ब्रह्म अर्थात् कर्त्ता और भोक्ता ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं । इन दोनों में कर्म (क्रिया) की सत्ता क्षण मात्र रहती है । वह क्षण जीवी कर्म स्वयं अपने कर्म फल का भोक्ता कैसे बन सकता है—भोग काल तक उसकी सत्ता ही नहीं रहती ।।७१।।

३. व्याकरणशास्त्र के आचार्य, क्रिया का आश्रय कर्त्ता को और फल का आश्रय कर्म को बताते हैं । कर्मभाव और कर्त्ताभाव अर्थात् भोक्तृत्व और कर्तृत्व एक में नहीं हो सकते, यह सिद्धान्त वेदान्त शास्त्र का है । प्रकृत विचार में कर्त्ताभाव की स्थिति कर्म नाम से कही जाने वाली चेष्टा में है, और भोगभाव रूप फल का आधार ब्रह्मगत है—इस प्रकार ब्रह्म और कर्म दोनों की सत्ता माननी होगी किसी एक का नास्तिभाव नहीं कहा जा सकता । (एक प्रवाह सत् है तो एक नित्य सत् है) ।

ऊपर पद्य में जो कर्त्ता को कर्म रूप बताया उसका उपपादन करते हैं । प्राकृतिक कर्म जो स्वयं उदित होते हैं—उन स्वयं उदित कर्मों के अनन्तर जगत् के सारे कर्म प्रवाहगत होकर परम्परित होते हैं—फल निष्पत्ति पर्यन्त । क्रिया या चेष्टा न हो तो इस संसार में संसार नाम का कुछ भी नहीं हो सकता, अतः कर्म को ही कर्त्ता कहा जाता है ।।७२।।

४. क्रिया में कर्त्ता भाव का उपपादन--लोक व्यवहार में क्रिया स्वयं भी दूसरी क्रिया की उत्पत्ति रूपा क्रिया को पैदा करती है--अतः क्रिया को कर्त्ता कहना अयुक्त नहीं है। अर्थात् अग्रिम क्रिया को जन्म देने वाली पूर्व क्रिया है--यह ही क्रम चलता रहता है।

ब्रह्म का भोग भाव वा जगत् रचना क्रम किस प्रकार आरम्भ होता है—उसका स्पष्ट चित्रण किया जाता है कि रसमय ब्रह्म में बल के द्वारा कम्प अर्थात् क्षोभ उदित होता है। बल-कर्म की आदि अवस्था है, कर्म बल का फल है—अर्थात् क्षोभजनित अमृतमय रस की अभिमुखता होते हो अमृत संसक्त बल-कर्म वा क्रियारूप में आ जाता है। क्रिया सतत परिवर्तनशील है। यहां विचारणीय यह है कि—बल-बलजनित क्षोभ-और फल रूप कर्म ये तीनों निराधार नहीं रह सकते—क्योंकि ये परसत्ता से ही सत्ता रखते हैं—स्वतन्त्र सत्तावान् नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि बल के द्वारा क्षुभित होते ही बल में अमृत का आधान हो जाता है, इस आन्तर प्रक्रिया में भोग विशेष की आनन्दमयी अनुभूति सत्तामयी बनती है—आनन्दमय भोग अवस्था-जहां आश्रय पारही है, वह भोक्ता है ।।७३।।

५. ब्रह्म ही बलजनित कर्म रूप फल का भोक्ता है--यह उपपादन किया जा रहा है = बल सर्वप्रथम कम्प पैदा करता है--दूसरे शब्दों में क्षोभ उत्पन्न करता है, अर्थात् एक अवस्था में स्थित अमृतमय रस को विकम्पित करता है, इसके फलस्वरूप देशत्याग रूप क्रिया होने लगती है। एक अवस्था से अन्य अवस्था में बदलने को देशत्याग कहते हैं। ये तीनों बल-कम्प और देशत्याग, बिना आधार के कहीं नहीं दीख पड़ते। अतः इनका मुख्य आधार ब्रह्म ही मानना चाहिये। उस एक रसमय-अमृत ब्रह्म में विशेषता मात्र यह आई है कि क्षोभजनित कर्म का आधार बन जाने से सृष्टि रचना की ओर अमृततत्व में अभिमुखता आ गई--यह ही ब्रह्म का भोग है--यह ही साकार भूमिका है। ये हो जाने पर भी रसमय अमृतब्रह्म में विकार का स्पर्श भी नहीं होता, यह एक परम विलक्षणता है--इसका पुनः पुनः अनुसंधान रखना चाहिये।

[६]रसोऽमृतं नाम बलं तु मृत्युर्ब्रह्मामृतं तद्यदकर्मरूपम्।
मृत्युस्तु कर्मैव यदत्र नित्यं दृष्टं च दृष्टं च न दृश्यते च।।७५।।

[७]ब्रह्मा कमस्त्यक्रियमिष्यते यतः क्रियाश्रयत्वेऽपि न नास्ति तत् क्वचित्।
न मीयते तद् विभु चाव्ययं दिशा देशेन कालेन च रूपतोऽपि वा ।।७६।।

मृत्युः किमेको बहवोथ मृत्यवः किमेवमस्मिन् क्रियतां न संशयः।
[८]एको ह्यणुश्चैष सदामृते ऽमृतः प्रजासु स व्याविशति त्वनेकधा ।।७७।।

अमृत तथा मृत्यु का स्पष्ट विश्लेषण कर रहे हैं—रस-अमृत है और बल मृत्यु है। ब्रह्म जो अकर्म रूप है—वह ही अमृत है। मृत्यु कर्म रूप है। यह मृत्यु की क्रियारूपता संसार में प्रत्यक्ष है, बदलती हुई क्रिया बार-बार नवीन रूप में दिखाई पड़ती है फिर नष्ट हो जाती है ।।७५।।

६. रस और बल के किंवा ब्रह्म और कर्म के जो अमृत तथा मृत्यु नाम हैं, उन नामों का निर्वचन प्रक्रिया से व्युत्पादन किया गया है। मरण भाव से कदापि जिसका स्पर्श भी नहीं होता वह रस-ब्रह्म-अमृत है। सदा मरणशील होने के कारण मरणधर्मा बल मृत्यु रूप है। बल वा कर्म

स्वयं तो मरकर नष्ट होता ही है, अपने संसर्ग में आये हुए अन्य को भी मारने की या आवरण करने की चेष्टा करता है, इस कारण मृत्यु कहा जाता है। दृश्यमान होना और फिर नष्ट होजाना तो स्पष्ट ही है।

मूलाधार ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और वह अक्रिय है अर्थात् अकर्म रूप ही माना जाता है। वह यद्यपि क्रिया का आधार है तथापि न तो कहीं दृश्यमान है और यह भी कैसे कहा जा सकता है कि क्रिया स्थल के अतिरिक्त उसकी स्थिति नहीं है—वह तो अन्यत्र सर्वत्र व्यापक है। ब्रह्म का सीमित भाव नहीं होता, वह विभु (व्यापक) है, अव्यय है—उसमें कभी विकार नहीं होता। विकार दिशा, देश, काल और रूप के द्वारा होता है, व्यापक में न दिशा भेद है न स्थान भेद है, न काल वहां प्रभावित है और न ब्रह्म का कोई रूप है—जो विकृत हो सके ॥७६॥

७. संसार में देखा जाता है कि सीमावद्ध (परिच्छिन्न) वस्तु में क्रिया, कम्पनपूर्वक स्थानच्युति अर्थात् अवस्था भेद पैदा करती है, जैसा कि ७४वें श्लोक में बताया गया है। व्यापकविभु ब्रह्म में विभाग रूप अवयव हैं ही नहीं—अतः वहां क्रिया, कम्पन उत्पन्न नहीं कर पाती। सर्वत्र ब्रह्म की सत्ता रहने से स्थानच्युति रूप भिन्न अवस्था का प्रश्न भी नहीं उठता, निर्विकार अव्यय भाव होने से परिवर्तन रूप परिणाम भी वहां सम्भव नहीं है—अतः कर्म वा क्रिया ब्रह्म में किसी भी प्रकार की विशेषता उत्पन्न करने में असमर्थ होकर, स्वयं ही शान्त हो जाती है।

मृत्यु स्वयं एक रूप है अथवा मृत्यु के अनेक रूप हैं, इस प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये। मृत्यु के एक और अनेक दोनों रूप हैं। अत्यन्त अणुभाव में जब यह अमृत में लीन होकर रहता है तब यह भी अमृत रूप में एक है। किन्तु प्रजा में जब मृत्यु प्रविष्ट होता है तब अनेक रूप हो जाता है ॥७७॥

८. अमृत में लीन होकर तद् रूप में ही स्थित मृत्यु एक ही है—क्योंकि लीन अवस्था में अवयवशः विभक्त अवस्था का ज्ञान ही नहीं है। दृश्यमान जगत् में तो मृत्यु के अनेक रूप स्पष्ट दीखते ही हैं।

पश्यन्ति विज्ञा अमृतं पवित्रं मृत्युन्तु पाप्मानमुदाहरन्ति।
बलानुसारादुभयोः प्रसङ्गात् सर्वं पुनात्येव च पूयते च ॥७८॥

[1]पुनाति पाप्मानमिदं पवित्रं पाप्मा च तस्मै कलुषं करोति।
एकान्ततस्तन्न सदेव नासत् जगत्प्रसन्नं न न [2]कल्मषं वा ॥७९॥

[3]आयुज्य बन्धेन विशिष्य यस्मादुपैति भावोदयनं विकारम्।
विज्ञानमस्याव्रियते यतो वा स एष पाप्मावृणुते ऽमृतं तत् ॥८०॥

[4]बन्धे पवित्रस्य भवेदनुग्रहस्तदा विभूतिः क्रमते ततः क्रमात्।
पाप्मापनोदाद् विकसत् प्रसीदति ज्ञानामृतज्योतिरियं पवित्रता ॥८१॥

विद्वान् विज्ञजन अमृत को पवित्र तथा मृत्यु को पाप रूप में देखते रहे हैं, यह ही उनका कथन भी है। यदि कर्म सर्वथा पाप रूप है तो पवित्रता कैसे आ पाती है—यह बता

रहे हैं कि बल द्वारा क्षुभित होने पर अमृत और मृत्यु का संसर्ग हो जाता है—अत: अमृत स्वयं पवित्र रहता हुआ उसे भी पवित्र करता है, अर्थात् मृत्युमय कर्म के सारे पाप रूप को वह पवित्र करता ही है ।।७८।।

यह पवित्र रूप अमृत उस पाप्मा को शुद्ध करता है, यह इसका स्वभाव है। पाप्मा रूप कालुष्य उस अमृत को कलुष करता है, यह पाप्मा का स्वभाव है। इन दोनों से समुत्पन्न जगत् सर्वथा सत् है ऐसा नहीं कहा जा सकता और सर्वथा असत् है, यह भी नहीं कहा जा सकता—अतएव जगत् में प्रसन्न भाव भी रहता है तथा कल्मष भाव भी प्रतीत होता है ।।७९।।

१. पाप्मा नाम कालुष्य का है, सत् असत् मिश्रण रूप में असत् से संयोजन को ही यहां कालुष्य कहा गया है।

२. अमृत तथा मृत्यु दोनों के संयोग से समुत्पन्न जगत् में अमृत सम्बन्धी प्रसन्नता भी प्रतीति में आती है, और कालुष्य रूप दुःख भी देखा जाता है। दोनों की प्रतीति होती है।

सृष्टि रचना संबन्धी वह अमृत-मृत्यु संपर्क बन्ध नाम के विशेष संसर्ग रूप से होता है, उस ही के कारण रचनात्मक भावोदयन रूप विकार रस में प्रतीत होने लगता है, तद्वशात् अमृतमय तत्त्व का स्वाभाविक विज्ञानभाव आवृत हो जाता है—इस प्रकार पाप्मा रूप कालुष्य अमृत का आवरण कर लेता है। (व्यापक भाव का व्यक्ति भाव में आ जाने का यह क्रम है ।।८०।।

३. आगे ग्रन्थ में संसर्गाधिकरण नाम के परिच्छेद में योग, बन्ध और विभूति नाम के विशेष प्रकार के संसर्गों का निरूपण होगा, उनमें योग संसर्ग में और बन्ध संसर्ग में नवीन भाव का सहज उदय होता है—इसलिये रस में विकार की प्रतीति होने लगती है। उस अवस्था में रसमय आत्मा का निज रूप जो शुद्ध ज्ञानमय है—वह आवृत होकर ढक जाता है। यह कालुष्य कहा जाता है। (दूसरे शब्दों में अविद्या स्वाभाविक विद्या को ढक लेती है—अज्ञान द्वारा ज्ञान आवृत हो जाता है, शरीर प्रत्यय मात्र रह जाता है, आत्म प्रत्यय गुप्त हो जाता है)।

बन्ध संसर्ग रूप जगत् की दृश्यमान अवस्था में भी—जिसके प्रसाद और कल्मष दोनों भाव पूर्व बताये गए। उस चक्र में भी कभी उस पवित्र रस का अनुग्रह होता है तब अमृत का साक्षात् विभूति संसर्ग जाग पड़ता है, अर्थात् ईश्वर संबन्धी ऐश्वर्य उदित होता है। फलस्वरूप पाप्मा रूप कालुष्य का अपनोदन (हट जाना) हो जाता है। आनन्द रूप रस वा अमृत विकसित प्रसन्न भाव में अर्थात् आवरण हट जाने पर अपने निज भाव में आ जाता है, अमृतमयी शुद्ध ज्ञानज्योति अन्त: प्रकाशित हो जाती है—इस को ही पवित्रता कहते हैं ।।८१।।

४. संसरण रूप बन्ध भाव में भी किसी खास विशेष सम्बन्ध के कारण स्वयं रस के अनुग्रह (कृपा] से रस का आविर्भाव हो जाता है, उस समय विभूति (ऐश्वर्य) संसर्ग चल पड़ता है और उस अवस्था में बल दब जाता है—रस स्वाभाविक प्रसाद अवस्था में आ जाता है, यही वास्तविक

पवित्रता है। यह विषय आगे संसर्गाधिकरण में स्पष्ट हो जाएगा। इस प्रकार यहां पाप और पवित्र शब्दों का उपपादन किया गया।

मृत्युर्लयं गच्छति चामृते यतो यतोऽमृते श्लेषमयं च गच्छति।
ततो[५]ऽमृतं लिङ्गमिहोच्यते तथा यदत्र कर्मास्ति स योनिरिष्यते ।।८२।।
शून्यं तदन्यत् परिपूर्णमन्यत् स्थानं द्विधा कर्मण एव दृष्टम्।
[६]यत्र क्रिया नास्ति न तत्र सर्गः शून्यं विकाशावरणं तदिष्टम् ।।८३।।
यत्रैष सर्गस्तदिदं तु कर्मामृतेन पूर्णेन हि पूर्णमाहुः।
[७]सत् सत् तदानन्दमयं विकाशोऽप्येवं द्विधा स्थानममुष्य मृत्योः ।।८४।।
[८]अथामृतस्थानममुष्य मृत्योर्भूमा स तस्मात् परिपूर्णमेकम्।
तदत्र शून्येपि न नास्ति पूर्णं व्योमेव सर्गेऽपि तदस्ति पूर्णम् ।।८५।।
पूर्णं पुरा सर्गगतं च पूर्णं पूर्णात्पुनः पूर्णमुदच्यते तत्।
पूर्णस्य पूर्णं परिगृह्यते चेदन्तेऽवशिष्येत तदेव पूर्णम् ।।८६।।

मृत्यु, अमृत में लीन हो जाती है, अतः अमृत को लिङ्ग कहा जाता है। कर्मरूप मृत्यु अमृत से मिश्रित होती है अतः संश्लेष वश कर्म को योनि माना जाता है ।।८२।।

५. जहां जाकर लीन हो जाय उस आधार को 'लयं गच्छति यत्र तल्लिङ्गम्' इस परिभाषा से लिङ्ग कहा जाता है—अतः अमृतलिङ्ग है। यौति इतियोनिः, इस परिभाषा से मिश्रणार्थक यु धातु से योनि शब्द बनता है, अर्थात् मिश्रणभाव से जो संश्लिष्ट होजाय उसे योनि कहते हैं। बल, रस में मिश्रित हो जाता है, अतः बल को योनि माना जाता है।

कर्म की दो प्रकार की स्थिति देखी जाती है, एक शून्यावस्थ कम और एक परिपूर्ण कर्म जहाँ क्रिया लीन हो जाती है, चेष्टाभाव नहीं रहता—वहां सृष्टि नहीं होती—वह शून्य कर्म अवस्था है। वह शून्य विकाश का आवरण मात्र करता है।

६. जहां कर्म लीन होजाय, वहां सर्जन नहीं होता—इसलिये वह कर्म का शून्य स्थान है। वहां विकाश का थोड़ा सा आवरण मात्र कर्म के द्वारा हो पाता है। जहां सृष्टि होती है वहाँ रस की पूर्णता प्राप्त कर कर्म भी पूर्ण कहा जाता है।

जहां कर्मसंश्लिष्ट अमृत सहयोग से सृष्टि होती है वहां यह कर्म अमृत से पूर्ण होने से स्वयं भी पूर्ण माना जाता है। पूर्ण ही नित्य सत् कहा जाता है। सत् को ही आनन्द रूप तथा विकाश कहते हैं। इस तरह कर्म रूप मृत्यु दो अवस्थाओं में बंट जाता है ।।८३।।

७. पूर्ण ही सत् है, सत् ही आनन्द रूप है—विकाश भी पूर्ण को ही कहा जाता है। इस प्रकार कर्म ही दो प्रकार का हो जाता है। एक पूर्ण कर्म और एक शून्यकर्म।

मृत्युमय कर्म की जब अमृत में स्थिति होती है तो कर्म भी अमृत के भूमा भाव से संश्लिष्ट होकर परिपूर्ण हो जाता है—यह कर्म को परिपूर्ण एक अवस्था है, अर्थात् जहां कर्म अमृत भाव से शून्य रहता है वहां भो कर्म पूर्ण नहीं है ऐसा नहीं माना जाता—वहां

वह रस में लीन हो जाने से पूर्णता को खो नहीं देता प्रत्युत जैसे सृष्टि हो जाने पर भी आकाश अपनी पूर्ण अवस्था में ही रहता है, वैसे ही वह भी पूर्ण ही रहता है ।।८५।।

८. अमृत में स्थित कर्म भी अमृतरूप होजाने से भूमा (व्यापक) तथा पूर्ण कहा जाता है। इसलिये शून्य कर्म भी पूर्ण ही माना जायगा। अर्थात् रस स्वयं पूर्ण है—उसमें लीन होजाने पर कर्म की पूर्णता मानी ही जाती है। यह ही कारण है कि 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इस मन्त्र में इदं पद के द्वारा कहे गये कर्म को भी पूर्ण बताया गया है। पूर्णमदः आदि मन्त्र का अनुवाद आगे के पद्य में किया जारहा है।

सृष्टि से पूर्व अमृतमय रस पूर्ण भाव में है, वह सृष्टि में भी पूर्ण ही है, उस पूर्ण में से आगे भी पूर्ण का ही उदय होता है—अतः वह उदित भी पूर्ण ही है। यदि पूर्ण के पूर्णभाव को परितः ग्रहण कर लिया जाय तो अन्त में जो बचेगा वह ही पूर्ण होगा ।।८६।।

(८) संसर्गाधिकरणम्

(सम्बन्ध विवेचन अधिकरण)

[१]नानाविधाः कर्मणि तत्र कर्मणः संसर्गभेदाः प्रभवन्ति ये यथा।
न तैस्तथा हन्त भवन्ति कर्हिचित् कर्माण्यकर्मण्यपि योजितानि हि ।।८७।।
कर्मा[२]न्वयः कर्मणि पञ्चधा स्यात् स्थानावरोधेन समञ्जसेन।
ऐकात्म्यरूपेण तथैकभाव्यरूपेण भक्त्या च विशेषसर्गे ।।८८।।

संसार में एक कर्म में अन्य कर्म के सम्बन्ध नाना प्रकार के भिन्न २ होते हैं, किन्तु वे सारे लौकिक सम्बन्ध ब्रह्म और कर्म के नहीं हो सकते। तथापि अकर्म रूप अमृतमय ब्रह्म में कर्म संश्लेष होता ही है—अतः यहां अन्य विलक्षण सम्बन्ध ही मानना चाहिये ।।८७।।

१. रस और बल में परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध है, यह इस प्रकरण में विचार किया जारहा है। इन ही ग्रन्थकर्ता के द्वारा निर्मित संशय तदुच्छेदवाद नाम के ग्रन्थ में यह प्रकरण आया है, वहां स्पष्ट बताया गया है कि—लोक में जैसे भिन्न-भिन्न पदार्थों के सम्बन्ध भिन्न-भिन्न होते हैं, उस प्रकार से वैसे ही किसी प्रकार का रस और बल का सम्बन्ध भी होता है, ऐसा नहीं सोचना चाहिये। लोक में तो संयोग आदि सम्बन्ध दो पदार्थों में रहते हैं, दोनों पदार्थ परस्पर युक्त होते हैं और दोनों को ही कर्मफल की प्राप्ति होती है। यह सम्बन्ध कहीं तो दोनों में से एक की क्रिया से होता है और कहीं दोनों की क्रिया से। प्रकृत रस के विचार में—जो सम्बन्ध होरहा है—वह किसी क्रिया से उत्पन्न नहीं होरहा, रस में क्रियाभाव की कोई स्थिति नहीं है, उधर बल क्रियारूप ही है, उनमें सम्बन्ध जोड़ने के लिये अन्य कोई क्रिया कहां से आ टपकेगी? रस और बल में, बल ही रस से सम्बन्ध जोड़ता है, रस बल से सम्बद्ध नहीं होता। रस के आधार पर ही बल की स्वरूप सत्ता बनती है, रस के बिना बल का कोई स्वरूप नहीं है। इस कारण ही बल को 'आसञ्जन' आधार पाकर रहने वाला कहते हैं। रस की किसी प्रकार के सम्बन्ध की कोई अपेक्षा नहीं होती, न उसमें सम्बन्ध का कोई फल होता है, रसमय ब्रह्म तो सदा स्वतन्त्र है। बल उत्पन्न होता है और विलीन हो जाता है। उस बल की उत्पत्ति से रस की कोई वृद्धि

नहीं होती और न बल के विलीन हो जाने पर रस की कोई हानि होती है—इसीलिये रस को निरंजन कहा जाता है। वह तटस्थ ही रहता है, सम्बन्ध यहां एकनिष्ठ ही रहता है। लोक में जितने सम्बन्ध देखे जाते हैं, वे बल में बल के सम्बन्ध होते हैं या दूसरे शब्दों में कर्म में कर्म के यह जानना चाहिये। यद्यपि क्षणिक होने के कारण एक कर्म का दूसरे कर्म से सम्बद्ध होना सम्भव नहीं है—यह पहले कहा जा चुका है। तथापि वहां कहे गए वक्तव्य का तात्पर्यार्थ यह समझना चाहिये कि कर्म स्वयं क्षणस्थायी होने के कारण दूसरे कर्म का आधार नहीं बन सकता, किन्तु वही कर्म जब रस में धारारूप में चलता रहता है, तब तो वहां दूसरे-दूसरे कर्मों का सम्बन्ध होता ही है—तभी धारावाहिता बनती है। कर्म विशिष्ट रस में जो अन्य कर्मों का सम्बन्ध होता है, वह ही रस में स्थिति पाये हुए कर्म का अन्य कर्म से सम्बन्ध है—अतः रस-स्थित कर्म अन्य कर्म का आधार धारावाही जगत् अवस्था में बन जाता है। रस तो निरंजन है, उसमें कर्म सम्बन्ध होना सम्भव ही नहीं है। इसीलिये लोक में जितने सम्बन्ध दिखाई देते हैं, वे सब कर्म से ही कर्म के सम्बन्ध हो रहे हैं यह स्पष्ट कहा जा सकता है। यह लौकिक सम्बन्धों की प्रक्रिया, रस और कर्म के परस्पर सम्बन्ध विचार में उपरोक्त युक्ति के अनुसार सम्भव नहीं हो सकती यह बात संक्षेप से प्रथम पद्य में कही गई है। कर्म में अन्य कर्मों के नाना प्रकार के सम्बन्ध जो लोक में देखे जाते हैं वे भले ही यहां रस और बल के या ब्रह्म और कर्म के सम्बन्ध में सम्भव न होवें, फिर भी कोई सम्बन्ध तो यहां भी मानना ही पड़ेगा—क्योंकि सम्पूर्णकर्म-अकर्म रूप ब्रह्म में युक्त होकर ही स्वरूप सत्ता पाते हैं। यदि रस से सम्बन्ध न हो तो बल का स्वरूप ही प्रकट न हो सके। अतः रस और बल का कैसा विलक्षण सम्बन्ध है—इसका प्रतिपादन होना ही चाहिये। वहां पहले लोक में कर्म द्वारा विभिन्न विशेष स्वरूप के पदार्थों के वैसे ही अन्य पदार्थों से किस-किस प्रकार के सम्बन्ध बनते हैं—यह आगे के पद्यों द्वारा बताया जायगा—तदनन्तर उन सब से विलक्षण यहां कैसे सम्बन्ध सम्भव हैं—इसका प्रतिपादन किया जायगा—लोक के दृष्टान्तों के द्वारा ही अलौकिक विषय में बुद्धि का प्रवेश सम्भव हो पाता है।

जगत् में व्यावहारिक अवस्था में कर्म का कर्म सम्बन्ध पांच प्रकार का माना जाता है, (१) स्थानावरोध (२) समञ्जस (३) ऐकात्म्य रूप (४) एकभाव्य (५) भक्ति। जहां जगह रोक ली जाय वह स्थानावरोध, साथ रहना समञ्जस, एक रूप हो जाना, ऐकात्म्य मिलकर साथ २ सत्ता-एक भाव्य, दूसरे का अंश रूप भाग बन जाना भक्ति—इनको उदाहरण सहित स्पष्ट किया जायगा ।।८८।।

२. कर्म विशिष्ट पदार्थ में वैसे ही पदार्थों का सम्बन्ध पांच प्रकार का दृश्यमान है, यह कर्मों का ही परस्पर सम्बन्ध है। उस कर्म प्रवाह में यद्यपि रस प्रविष्ट है तथापि वह वहां तटस्थ ही है।

[1]जलेन पूर्णेन जलं मृदा न मृत् स्थितेर्विरोधान्मणिके निवेश्यते।
स्थानाच्छलथाणोरपसर्पणात्वसौ शङ्कुर्निखातः क्षितिभित्तिदारुषु ।।८९।।

[2]समञ्जसत्वात्तु गृहे प्रकाशे दीपप्रकाशाः शतमाभवन्ति।
दीपेषु भूयः स्वधिकावगाहोऽधिकोऽस्ति भासोऽपि सदेशवृत्तेः ।।९०।।

यद्दर्पणे चाक्षुषि चाल्पदेशे तेजांसि रूपाणि पृथग्विधानि ।
दिग्भ्यः समागत्य पृथग् विधाभ्यः सहैव तिष्ठन्ति समञ्जसं तत् ॥९१॥
वि[3]चाल्यमानं हि बलेन केनचिद् विरुद्धदिग्लब्धबलात् कराश्रयात् ।
स्थिरीभवेत् तत्र विरुद्धदिग्भवं बलद्वयं तद् युगपत् सहाश्नुते ॥९२॥

स्थान घेर कर रहने वाले स्थानावरोध सम्बन्ध का उदाहरण, जल और मृत्तिका का बताया जा रहा है कि मिट्टी और जल स्थान रोकने वाले हैं—अतः पात्र में यदि पूर्ण जल भरा है तो अन्य जल का प्रवेश उसमें नहीं किया जा सकता—इसी तरह मृत्तिका में अन्य मृत्तिका का प्रवेश भी पहली मृत्तिका को स्थान से हटाकर ही किया जा सकता है, मृत्तिका में अन्य मृत्तिका का अनुप्रवेश नहीं होता। जल से भरे पात्र में अगर थोड़े से मृत्तिका के कण प्रविष्ट हो जाते हैं—वहां उन कणों का प्रवेश इसलिये हो जाता है कि जल के सूक्ष्मकण परस्पर घन निबिड़भाव में नहीं रहते अतः बचे हुए प्रदेश में जहां से जलाणु हट जाते हैं वहीं मृत्तिका के कण प्रविष्ट हो पाते हैं यह समझना चाहिये। दीवाल में कोई कील गाड़ी जाती है तो दीवाल का उतना अंश मृत्तिका रहित हो जाता है। यही प्रक्रिया काष्ठ में कील गाड़ने में होती है ॥८९॥

१. मृत्तिका और जल के स्थानावरोधक होने के कारण एक द्रव्य की स्थिति में अन्य किसी द्रव्य का प्रवेश वहां सम्भव नहीं होता, यह अन्य के प्रवेश न होने देने वाला सम्बन्ध का अभाव स्थानावरोध के कारण होता है। अलग-अलग प्रदेश में अवगाहन करने वाले दो जल द्रव्यों का या मृत्तिका के दो विभिन्न द्रव्यों का संयोग मात्र होता है, एक का दूसरे में प्रवेश नहीं होता। यह एक प्रकार है। दूसरी विधि में—जल से परिपूर्ण पात्र में जो कुछ मिट्टी के कणों का प्रवेश कर दिया जाता है—वहां जल के सूक्ष्म अणुभावापन्न कण अत्यन्त घन निबिड़ रूप में नहीं रहते, उनमें विरलभाव रहता है—अतः अवकाश भी रहता है—उस अवकाश में ही मृत्तिका के कणों का प्रवेश होता है। दीवाल में जब कील गाड़ी जाती है तो बलपूर्वक मिट्टी का अंश उस स्थान से हटाया जाता है—तब उस खाली अवकाश में कील प्रविष्ट होती है। वहां भी संयोग सम्बन्ध ही होता है।

दूसरे समञ्जस सम्बन्ध में एक ही स्थान पर अनेक पदार्थों का योग हो जाता है—उसका दृष्टान्त दीपक है, घर के विस्तृत प्राङ्गण में सैकड़ों दीपकों का प्रकाश एक साथ रहता है—यह समञ्जस सम्बन्ध से ही रहता है, स्थानावरोध के समान वहां किसी दीपक को स्थानान्तरित नहीं करना पड़ता। यदि कहा जाय कि अधिक संख्या के दीपकों से अधिक स्थान घेरा जाता है तो स्थानावरोध तो होता है। इसमें वक्तव्य यह है कि अधिक संख्या होने से अधिक प्रदेश घिर जाने पर भी प्रकाश किरणों का सबका संमिलन एक ही स्थान पर होता है ॥९०॥

२. प्रकाश करने वाली किरणों में स्थानावरोधकता नहीं होती, इसलिये एक छोटे से घर के आंगन में भी सौ दीपकों का प्रकाश सम्भव हो जाता है। यह समञ्जस सम्बन्ध कहा जाता है। एक ही स्थान पर अनेक द्रव्यों के समावेश का ये भिन्न प्रकार का संयोग है। यहां यह प्रश्न उठाया

जाता है कि पूर्वोक्त जल और मृत् कणों के उदाहरण के समान दीपकों के प्रकाश विचार में भी तेज के परमाणु वहां विरल रूप में रहते हैं -- अतः एक रश्मि से जो शून्य स्थान रहता है— वहां ही दूसरी प्रकाश रश्मि का प्रवेश होता है और यह भी कि बहुत दीपक होने पर अधिक प्रदेश भी घेरा जाता है—इसलिये वहां भी स्थानावरोध ही है—ऐसा यदि कोई कहते हैं तो उसका समाधान यह है कि, जैसे अधिक संख्या के दीपकों को रखने के लिये बड़े प्रांगण में अधिक स्थान घेरा जाता है वैसे ही छोटे आंगन में अधिक ज्योति तथा प्रकाश का घनभाव भी दिखाई देता है। यह प्रकाश की घनता एक स्थान में एकत्रित तेज के अणुओं के संयोग से ही होती है—इसलिए एक ही स्थान पर सारी रश्मियों का सामंजस्य ही मानना चाहिये। रश्मियों के विरलभाव में एक रश्मि द्वारा छोड़े गए स्थान पर अन्य रश्मि का सन्निवेश मानने पर प्रकाश की घनता सम्भव नहीं हो सकती है। यदि किसी का यह आग्रह युक्त विचार ही हो कि पूर्ण रश्मि द्वारा परित्यक्त स्थान पर अन्य रश्मि के आ जाने से प्रकाश अधिक व्यापक तो होता है, यही प्रकाश की घनता का भास है यह ही मानना चाहिये। तादृश विचार वालों की जिज्ञासा शान्ति के लिये समञ्जस सम्बन्ध का दूसरा उदाहरण दर्पण और नेत्र का आगे बता रहे हैं।

दर्पण और नेत्र के सम्बन्ध विचार में—वह सम्बन्ध अल्प प्रदेश में ही होता है, दर्पण और चक्षु दोनों ही अल्प स्थान ही घेरे हुए हैं—उन दोनों की संयोग प्रक्रिया में भिन्न-भिन्न प्रकार के तेज के अणु और रूप भाव भिन्न भिन्न दिशाओं से एकत्रित होकर साथ ही रहते हैं—तब दृश्य उपस्थित होता है—यह सम्बन्ध समजस ही मानना होगा ।।६१।।

एक पुरुष के हाथ के द्वारा किया गया बल प्रयोग, विरुद्ध दिशा से किये गए दूसरे पुरुष के हाथ के बल प्रयोग के द्वारा रुद्ध होकर इधर उधर विचलित न होता हुआ एक जगह स्थिर होकर रह जाता है, वहां वह परस्पर विरुद्ध दिशाओं में समुदित दोनों बल उस काल में एक साथ ही युक्त होकर भुक्त होते हैं—उन दोनों बलों का वह सम्बन्ध 'समंजस' ही होगा ।।६२।।

३. क्रिया में समञ्जस सम्बन्ध का उदाहरण बताया गया है—यदि एक ही मजबूत रस्सी को एक ही काल में समान बलशाली दो पुरुष परस्पर विरुद्ध दिशाओं में खींचते हैं तो वह रस्सी किसी तरफ भी नहीं खिचती, एक जगह स्थिरसी दिखाई देती है। वहां उस रज्जू में दोनों पुरुषों द्वारा लगाया जाने वाला वह दोनों बलों का भाव, समञ्जस भाव से ही रहता है यह मानना होगा— क्योंकि रस्सी के सम्पूर्ण प्रदेश में दोनों बलों का समान संचार हो रहा है। अन्यथा एक बल से अभिभूत होकर किसी प्रदेश को विचलित होजाना चाहिये। कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि — दोनों पुरुषों द्वारा निहित बल से रज्जू में विचलन होता ही है किन्तु एक ही क्षण में जब वह पूर्व दिशा की ओर जाती है और उस ही समय दूसरे के द्वारा खिची जाकर पश्चिम की ओर उतने ही प्रदेश में खिच जाती है जितने प्रदेश में वह पूर्व को गई थी—इसलिये एक दिशा में गति की प्रतीती नहीं हो पाती—गति होती है। उनके मत में भी उन दोनों क्रियाओं की स्थिति समञ्जस भाव में ही माननी होगी। पहले मत में दोनों बलों की ही जो एक दूसरे के बल के प्रतिबन्धक हो रहे हैं—समञ्जस भाव में स्थिति रहती है।

आपो[1]ऽग्निना चूर्णमथाम्बुना धृतेरैकात्म्यमायाति मृदग्निपाचिता ।
तेजो[2]म्बुनस्ते परमाणवो नवं जलाणुभावं जनयन्ति योजिता: ।।६३।।
[3]गच्छत्यगच्छन् शिबिकास्थितो नरस्तद्भुक्तिभृत: शिबिकागतिक्रमात् ।
[1]इतीदृशे पञ्चविधेऽपि वान्वये स्थानावरोधोऽभिमत: प्रधानत: ।।६४।।

दो पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होकर एक रूप हो जाना एकात्म्य सम्बन्ध कहलाता है जैसे जल का अग्नि से संयुक्त होकर शीतलता जो उसका सहज धर्म है उसके स्थान में जल में अग्नि व्याप्त हो कर उष्णता का आधान हो जाना, चून या आटे का जल के साथ संयुक्त होकर बिखरे आटे का पिण्ड भाव में परिवर्तित हो जाना एकात्म्य सम्बन्ध है, इसी तरह मृत्तिका, का जल मिलाकर अग्नि में पका देने पर ईंट बन जाना एकरूपता का द्योतक है । इस ऐकात्म्य सम्बन्ध में एक के धर्म को वियुक्त कर देना भी प्रकृति द्वारा हो जाता है—और एक का स्वतन्त्र आधान भी ।

चतुर्थ सम्बन्ध एकभाव्य कहलाता है—अर्थात् यह सम्बन्ध हटाया नहीं जा सकता—जैसे अम्भस नाम के जल के परमाणु और तेज के परमाणु परस्पर एकभाव बद्ध होकर दृश्यमान स्थूल जल के अणु भावों को उत्पन्न करते हैं—वहां जल के कणों का और तेज के कणों का एकभाव्य सम्बन्ध होता है—ये एकभाव्य सम्ब्रन्ध से युक्त रहते हुए ही अन्य जलों के उत्पादक होते हैं ।।६३।।

१. तीसरे सम्बन्ध 'ऐकात्म्य' भाव का उदाहरण दिया जाता है —अग्नि में तपाया हुआ जल उष्ण हो जाता है, वहाँ जल में स्वाभाविक उष्णता नहीं होती किन्तु जल के अवयव और अग्नि के अवयव एक ही जगह प्रविष्ट होते हैं – उनकी एकीकरण होकर अभिन्नता होजाती है—जल की शीतलता दब जाती है और अग्नि की उष्णता की प्रतीति होने लगती है । पूर्वोक्त समञ्जस सम्बन्ध में दोनों पदार्थों की पृथक्-पृथक् स्थिति रहती है, इस ऐकात्म्य सम्बन्ध में दोनों एक होजाते हैं – यह विलक्षणता होती है । इस ही प्रकार गेहूँ आदि अनाज के आटे में जल मिलाने पर बिखरे आटे का पिण्डरूप प्रतीत होने लगता है, वहाँ जल सम्पर्क से बिखरे चून के अवयवों का परस्पर संश्लेष होकर एक ही पिण्डरूप में धृति हो जाती है—वहाँ भी जल का और आटे का एकात्म्य भाव सम्बन्ध होता है । जल के अवयवों के सूख जाने पर अर्थात् आगे पदार्थ रोटी आदि के निर्माणकाल में अग्नि द्वारा जल कणों के शुष्क हो जाने पर भी जो पदार्थ की धृति होती है वह अग्नि के अवयवों के अनुप्रवेश से होती है, कुछ काल में जब अग्नि के अवयव भी हट जाते हैं तब सर्वत्र व्याप्त वायु के द्वारा सम्बद्ध होकर पदार्थ की धृति रहती है—यह प्रक्रिया आगे बताई जायगी । इस ही प्रकार ईंट निर्माण प्रक्रिया में जल के साथ मृत्तिका के अवयवों का संयोजन करने के अनन्तर अग्नि में पकाने से मृत्तिका ईंट के रूप में परिवर्तित हो जाती है, वहाँ भी मृत्तिका और जल का एवं मृत्तिका और अग्नि का ऐकात्म्य भाव सम्बन्ध होता है । ईंट में से अग्नि के निकल जाने पर वायु के प्रताप से ही ईंट की स्थिति रहती है यह आगे कहा जायगा । यहाँ सारे उदाहरणों में ऐकात्म्य भाव सम्बन्ध है ।

२. चतुर्थ सम्बन्ध लोक में 'एक भाव्य' होता है—उसको उदाहरण सहित बताते हैं । अम्भस नाम के जल के परमाणु तेज के परमाणुओं से युक्त होकर—दृश्यमान स्थूल जलकणों को उत्पन्न

करते हैं—वहाँ जल के उन सूक्ष्म कणों का और तेज के कणों का एक भाव्य सम्बन्ध होजाता है—वह हटता नहीं। ये जल के परमाणु और तेज के परमाणु ही आधुनिक विज्ञान में 'हाइड्रोजन' और 'आक्सीजन' नामों से कहे जाते हैं। इनके संयोग से ही स्थूल जल की उत्पत्ति होती है। ऋग्वेद संहिता के मन्त्र में स्पष्टरूप में यही विषय अभिव्यंजित हुआ है। मन्त्र है "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्"। जल की सूक्ष्म अवस्था में जल में जो सोम रहता है उस से ही सब औषधि-वनस्पतियों की जीवन सत्ता बनती है—अतः सबकी सत्ता सोम में ही प्रतीत होती है और सोम को पिघलाने वाला विश्व का कल्याणकारी अग्नि भी वहां रहता है · यह भी उस सोम के द्वारा ही ज्ञात होता है—क्योंकि अग्नि और सोम का तो नित्य सहचर भाव है—अतः सोम की प्रतीति होने पर अग्नि सत्ता भी निश्चित है—यह मन्त्र का तात्पर्य है। कणाद महर्षि ने भी "अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्" इस कथन द्वारा जल का घन भाव तथा तरल भाव अग्नि के संयोग से होता है—कहकर जल में अग्नि सत्ता का स्पष्ट निर्देश किया है। योग-दर्शन में भी विभिन्न जाति के सामान्य वा विशेष रूप में समन्वित द्रव्यों से नवीन परमाणुओं का संघटन स्पष्ट बताया है। अतः पाश्चात्य विद्वान् भारतीय दर्शनों पर जो यह आक्षेप करते हैं कि जल जो दो के संयोग से बनता है उसे प्राचीन भारत के विद्वान् एक तत्व रूप मानते हैं - यह उनका अज्ञान है। किन्तु उपरोक्त विवेचन से विद्वद्गण जान लेंगे कि पाश्चात्यों का यह आक्षेप वेद और दर्शनों के मर्म को बिना विचारे ही किया गया है। वास्तव में जल की चार अवस्था—अम्भः, मरीचि, मर और आप ये ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट व्याख्यात हुई हैं। उनमें अम्भस् नाम की सर्वप्रथम अवस्था ही हाइड्रोजन नाम से आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा व्यवहार में ली जारही है। ये दृश्यमान स्थूल जल तो चतुर्थ आप् नाम की अवस्था में या उससे भी आगे स्थूल अवस्था में आता है और इस अन्तिम अवस्था को तो भारतीय भी संयोग से समुत्पन्न ही मानते हैं। इस ही प्रकार वृक्ष के उदाहरण में भी बीज, जल, मृत्तिका के संयोग से समुत्पन्न अंकुर में भी एक भाव्य सम्बन्ध मानना चाहिये। इन विशेष सम्बन्धों द्वारा ही भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य-कारण भाव बनते हैं—विद्वानों को इस प्रक्रिया से विचार करना चाहिये।

ऐकात्म्य और एकभाव्य सम्बन्धों में मौलिक भेद यह है कि ऐकात्म्य में प्रक्रिया प्रकृति की इस तरह होती है कि दोनों में से एक के धर्म का वियोग हो जाता है—जैसा कि गरम जल तथा आटे के पिण्डभाव में दिखाया गया। एकभाव्य का एकीकरण इतना दृढ होता है कि बिना किसी रासायनिक प्रक्रिया के वह एकीकरण अलग नहीं किया जा सकता—और उस एकभाव्य अवस्था में ही नवीन द्रव्य की उत्पत्ति होती है, किन्तु रासायनिक प्रक्रिया से एकभाव बन्ध में बंधे हुए दोनों को अलग करने पर तत् समुत्पन्न नवीन द्रव्य भी नष्ट हो जाता है—इस विशेषता के कारण ही इस सम्बन्ध का पृथक् कथन किया गया है।

पांचों सम्बन्धों में अन्तिम भक्ति सम्बन्ध लोक में होता है—जैसे किसी वाहन में बैठे हुए मानव का वाहन से तदवयव रूप सम्बन्ध हो जाता है। यहां शिविका (पालकी) के उदाहरण से समझाया जाता है कि शिविका में बैठा हुआ मनुष्य स्वयं नहीं चलता है—शिविका गति से ही उसको साधनान्तर रूप गति हो जाती है—वह व्यक्ति शिविका में भक्ति

सम्बन्ध से युक्त रहता है । इस प्रकार उक्त पांच प्रकार के लोक में सम्बन्ध पाये जाते हैं, इनमें स्थानावरोध नाम का प्रथम कहा गया सम्बन्ध सर्वप्रधान माना जाता है ॥६४॥

३. पंचम भक्ति सम्बन्ध कहा गया है—मनुष्य में गति न होने पर भी पालकी के चलते रहने से तत् स्थित मनुष्य की गति हो जाती है—यह पालकी के साथ मनुष्य का पालकी का ही अंशभूत बना देने वाला भक्ति सम्बन्ध कहलाता है—शिविका की क्रिया का मनुष्य में भक्ति रूप संयोग है । एक की गति का दूसरे में संक्रमण हो जाना 'भक्ति' कहा जाता है ।

१. उपरोक्त पाँच प्रकार के सम्बन्धों में स्थानावरोध सम्बन्ध मुख्य माना गया है । लौकिक पदार्थों में अधिक तर स्थानावरोध सम्बन्ध ही देखा जाता है । रस और बल का उक्त सम्बन्धों में से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता यह आगे के पद्य में कहा जा रहा है । रस सर्वत्र व्यापक है—अतः रस से शून्य कोई स्थान ही नहीं है—जहां बल से अन्य कोई तत्व माना जा सके । रस और बल का पार्थक्य भाव कहीं भी मिलता ही नहीं अतः अन्य कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं होता । इस कारण ही रस और बल का एक दूसरे में समा जाने वाला तादात्म्य रूप विलक्षण संबन्ध होता है, यह वक्तव्य का आशय है । अर्थात् रस और बल सदा संबद्ध रहते हैं—अतः बल विशिष्ट रस एक रूप (युगल तत्व) माना जाता है । इस दृष्टि से ही विशिष्ट अद्वैत मत प्रचलित है । इस युगल को पृथक् नहीं किया जा सकता—यह ही अद्वैत है ।

यः कर्मणि ब्रह्मणि संभवो न स स्थानावरोधेन कदापि जायते ।
पूर्णे रसेऽपूर्णबलं यतस्ततस्तादात्म्यरूपेण युनक्ति सर्वतः ॥६५॥
शश्वद्धि ते ब्रह्म च कर्म च द्वे तयोश्च सम्बन्ध उदेति शश्वत् ।
द्वयं विशिष्टाद्वयमेतदेवं सम्बद्धरूपं ध्रियतेऽपि शश्वत् ॥६६॥
[२]न तत्र मात्रानियमस्तयोः स्यात् सम्बन्धसत्त्वेऽपि न तत्र सर्गः ।
असक्तमस्मिन्नमृतं हि मृत्यौ स्वतन्त्रमाभाति तथा स मृत्युः ॥६७॥

ब्रह्म और कर्म में जो सम्बन्ध होता है—वह स्थानावरोध रूप में कभी नहीं होता । यह सम्बन्ध पूर्ण में अपूर्ण का होता है, रसमय अमृत ब्रह्म अपने आप में पूर्ण है अर्थात् व्यापक है—उसमें पूर्ण बल का संपर्क होता है, यह बल रस में तादात्म्य रूप से सयुक्त होता है । रस से युक्त होकर बल रस रूप ही हो जाता है । जिसमे सम्बन्ध होकर तद् रूपता हो जाय—वह तादात्म्य कहा जाता है । अर्थात् व्यापक रस में सर्वत्र बल तद्रूप होकर प्रतिष्ठित हो जाता है ॥६५॥

यद्यपि बल को अपूर्ण कहा है तथापि लौकिक अन्यान्य सीमित पदार्थों के समान बल की नश्वर अपूर्णता नहीं है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि ये ब्रह्म और कर्म दोनों नित्यभाव में हैं—अतः इन दोनों का सम्बन्ध भी नित्यभाव में ही समुदित होता है । ब्रह्म और कर्म इन दो नामों से भले ही इनमें द्वित्व दिखाई देता हो किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध से एक रूप होकर बल विशिष्टरस अद्वैतभाव में ही प्रतिष्ठित रहता है, अर्थात् रस और बल की एक रूपता होकर जो विशिष्ट युगलभाव बन गया—वह युगल भाव कभी पृथक् नहीं

होता--यह ही अद्वैतता है । इस ही आधार पर विशिष्टाद्वैत मत की प्रतिष्ठा हुई है--यह बात टीका में पूर्व कही जा चुकी है ॥९६॥

रस और बल के सम्पर्क में रस मात्रा कितनी है और बल मात्रा कितनी है ? यह प्रश्न ही नहीं उठता । इस सम्बन्ध में मात्रा भाव का कोई नियम नहीं होता—क्योंकि कहा जा चुका है कि व्यापक रस में सर्वत्र बल सम्बद्ध हो जाता है—अतः दोनों स्वतन्त्र भाव में स्थित हैं—अतः तादात्म्य सम्बन्ध हो जाने पर भी उस अवस्था में सृष्टि नहीं हो पाती । और भी विशेषता यह है कि उक्त सम्बन्ध हो जाने पर भी अमृतमय रस बल से कभी संसक्त नहीं होता, रस सदा तटस्थ ही रहता है—अतः मृत्यु रूप बल मात्र ही स्वतन्त्र रूप में सर्वत्र भासित होता है ॥९७॥

२. रस और बल के सम्पर्क भाव में आ जाने पर भी इस एकरूपताभूत तादात्म्य सम्बन्ध में सृष्टि होना सम्भव नहीं होता, क्योंकि यहाँ एकमात्र बल ही रस से सम्पर्क करता है । रस संपृक्त नहीं होता —वह तटस्थ है । ये दोनों का परस्पर संयोग नहीं है, फलस्वरूप दोनों स्वतन्त्र हैं । इस अवस्था में सृष्टि नहीं होती । सृष्टि एक का गौणभाव हो और एक का प्रधान भाव रहे तब होती है । बल स्वभावतः सीमा-भाव में (परिच्छिन्न) स्वरूप है । वह रस में सम्बद्ध होकर अपने स्वभाव से रस में भी सीमाभाव (परिच्छेद) बनाता है । यह परिच्छेद भी वास्तविक अन्यथा भाव में नहीं होता अपितु समुद्र में समुत्पन्न तरंगों के समान होता है, जिन तरंगों का तरंगभाव-रूप दृश्यमान होकर भी समुद्र से वास्तविक रूप में भिन्न नहीं होता । बल की इस परिच्छेद प्रक्रिया से सर्वत्र व्यापक रस सीमित के समान प्रतीत होने लगता है । जैसे सर्वत्र व्यापक आकाश गृह-निर्माण में दीवारों द्वारा सीमित कर दिया जाता है । बल के द्वारा रस के सीमितभाव में आ जाने पर--जब उससे बलान्तर का सम्बन्ध होता है, तब सृष्टि क्रम प्रवृत्त होता है । स्पष्ट यह हुआ कि एक मूल बल के द्वारा सीमाबद्ध से दिखाई देने वाले अमृतमय रस में—जो अन्य बल का सम्बन्ध होता है, वह संसर्ग नाम से कहा जाता है । सम्यक् नियमित रूप में सर्ग के आरम्भ को संसर्ग कहते हैं ।

मितोमितेनाथ निरूढमात्रयाऽमृतेन मृत्युः क्रमते यदा क्वचित् ।
तदात्र सम्बन्धविशेष इष्यते संसर्गसंज्ञस्तत एव सृज्यते ॥९८॥
[3]संसर्ग उक्तो द्विविधो रसेऽस्मिन् बलस्य वृत्तित्वमथ स्वरूपम् ।
शक्त्याश्रयत्वं किल वृत्तिता स्यात् तादात्म्यमैकात्म्य मिति स्वरूपम् ॥९९॥
यत्र ग्रहातिग्रहभावसिद्धिस्तद्वृत्तिसंसर्गि बलं निरुक्तम् ।
यत्रापृथक्त्वं हि परस्परेण स्वरूपसंसर्गि बलं तदाहुः ॥१००॥

स्वभाव से सीमित बल का निःसीम रस के साथ अन्तर्भाव रूप निरूढ मात्रा से संसर्ग हो जाने पर मृत्यु रूप बल अमृत का सहचारी बनकर, अमृत सहित जब अन्य बल के साथ संपृक्त होता है, तब वहां सम्बन्ध विशेष आवश्यक होता है । सृष्टि में वह उपयुक्त होता है—अतः उस सम्बन्ध की सम्यक् सर्ग परिभाषा से संसर्ग संज्ञा होती है—उससे ही सृष्टि क्रम चलता है । यह संसर्ग उक्त लौकिक सम्बन्धों में से कोई एक होता है ॥९८॥

बल का रस में संसर्ग दो प्रकार का कहा गया है, एक वृत्तिता सम्बन्ध और दूसरा स्वरूप सम्बन्ध । शक्ति के सहारे जो सम्बन्ध होता है—वह वृत्तिता सम्बन्ध है और बल का रस में तादात्म्य भाव से एकरूप हो जाना—अर्थात् युगल भाव—स्वरूप सम्बन्ध है । स्पष्टीकरण टीका में किया जा रहा है ।।९९।।

३. उपरोक्त संसर्ग के भी दो प्रकार कहे जाते हैं—स्वरूपसंसर्ग और वृत्तिता अर्थात् सर्ग कालिक संसर्ग । अपने-अपने स्वरूप में संस्थित रस और बल का सम्बन्ध स्वरूप संसर्ग कहलाता है । तदनन्तर वहाँ बल में अन्य बल के सम्बन्ध से चिति शुरू हो जाती है । चिति चिनाई को कहते हैं । जैसे ईंट पर दूसरी ईंट की चिनाई होती है—वैसे ही बल में भी बलान्तर के आगमन को चिति कहा जाता है । इस प्रकार बलों की चिति हो जाने पर भी रसरूप अमृत की जब प्रधानता रहती है तब अव्यय पुरुष, अक्षर और क्षर पुरुष इन तीन पुरुष संस्थाओं का प्रादुर्भाव होता है—यह अग्रिम प्रकरण में कहा जायगा । जब बल की प्रधानता हो जाती है तब माया, प्रकृति वा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, इसकी व्याख्या भी आगे होगी । इस प्रकार रस विशिष्ट तीन पुरुष और बल प्रधान तीनों प्रकृतियों का पुनः जो परस्पर सम्बन्ध होता है—वह वृत्तिता संसर्ग कहलाता है । यह विषय गहराई से सोचना चाहिये । सारे विषय का मूल में ही आगे स्पष्टीकरण हो जायगा । इस पुरुष-प्रकृति संसर्ग में ग्रह-अतिग्रह भाव होता है—यह वेद की परिभाषा है । अग्रिम पद्य में उसका निर्देश किया जा रहा है ।

जहां ग्रह तथा अतिग्रहभाव सम्पन्न होता है वह वृत्तिता सम्बन्धी बल कहा गया है । और जहाँ रस और बल अविभक्त (युगलभाव) होकर परस्पर रहते हैं—उस अवस्था में बल स्वरूप सम्बन्धी माना गया है ।।१००।।

[1]कर्मत्वकर्मस्थमकर्म कर्मसद् भिन्नं द्वयं तत् तदभिन्नमद्वयम् ।
अकर्म भिद्येत न कर्म भिद्यते ऽध्यासोऽमृते स्यादिति षड्विकल्पवान् ।।१०१।।

[2]स्वरूपसंसर्ग इहोदितस्तयोर्बलस्वरूपेण रसोऽवभासते ।
रसस्वरूपेण बलं प्रवाहि तन्न चान्यतोऽन्यद्भवति क्वचित्पृथक् ।।१०२।।
[3]तदन्तरे तत्परितो बहिर्धाऽहितं हि मृत्यावमृतं समन्तात् ।
वस्तेऽमृतं मृत्युरमुष्य मृत्योरात्मामृतं न म्रियते ततस्तत् ।।१०३।।

स्वरूप सम्बन्ध के पूर्व प्रचलित ६ प्रकार के विचार—१. अकर्म में कर्म रहता है । २. कर्म में अकर्म रहता है । ३. दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है । ४. दोनों अभिन्न हैं । ५. ब्रह्म कर्म से पृथक् नित्य सत्ता रूप में भिन्न है, कर्म ब्रह्म से भिन्न कहीं नहीं है । ६. ब्रह्म में कर्म का आरोप मात्र है ।।१०१।।

१. स्वरूप सम्बन्ध में भी ६ प्रकार का व्यवहार होता है यह कह रहे हैं । अकर्म रूप ब्रह्म में कर्म की स्थिति है, यह एक व्यवहार है । अकर्म रूप ब्रह्म ही कर्म में स्थित है, यह द्वितीय विचार है । ये दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न सत्ता रखते हैं, यह तृतीय व्यवहार है । ब्रह्म और कर्म एक दूसरे से अभिन्न हैं, यह चतुर्थ विचार है । ब्रह्म सदा स्वतन्त्र है—वह कर्म से भिन्न रूप में ही रहता है, कर्म ब्रह्म से पृथक् स्वतन्त्र सत्तावान् नहीं है, यह पंचम विचार है । वास्तविक मूल

सत्ता रूप में अमृतमय ब्रह्म ही सत्य है, मृत्युमय कर्म का उसमें अध्यासित (आरोपित) भ्रम मात्र है—यह छठा व्यवहार है। लोक व्यवहार में भी उपादान कारण (समवायी कारण) जो सदा कार्यरूप पदार्थ से समवेत रहता है—उस नित्य कारण के साथ कार्य का सम्बन्ध ६ प्रकार का ही व्यवहृत है। वस्त्र के उदाहरण में एक विचार है कि सूत्रतन्तुओं में वस्त्र सदा सम्बद्ध रहता है—वस्त्र की पृथक् कोई नई स्थिति नहीं है—अर्थात् पत्थर में से मूर्ति के समान तन्तुओं में से प्राकट्य मात्र होता है। द्वितीय व्यवहार में वस्त्र में तन्तुओं की स्थिति मानी जाती है। तृतीय विचार में मानते हैं कि सूत्र तन्तुओं में वस्त्र एक भिन्न पदार्थ के रूप में उत्पन्न होता है। चतुर्थ विचार है कि वस्त्र और सूत्र तन्तु एक रूप ही हैं। पंचम विचार है कि वस्त्र की अपेक्षा तन्तुओं की पृथक् सत्ता है—क्योंकि जब वस्त्र नहीं बनता है उससे पूर्व भी तन्तु रहते हैं और वस्त्र के नष्ट हो जाने पर भी तन्तु ही रह जाते हैं किन्तु वस्त्र तन्तुओं से अलग कहीं नहीं मिलता—अतः वस्त्र की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। षष्ठ विचार है कि वास्तविक रूप में तन्तु अवस्था ही सत्य है, वस्त्र के रूप का तो तन्तुओं में आरोप मात्र किया जाता है, अर्थात् वस्त्र अवस्था भ्रम-मात्र है। इस प्रकार स्वरूप सम्बन्ध में ६ विकल्प हैं। ये सब विकल्प बुद्धि भेद मात्र से बने हैं, वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है।

रस और बल का स्वरूप सम्बन्ध कहा गया है, संसृति अवस्था में दृश्यमान बल के रूप में ही रस का अवभास होता है और सच्चिदानन्द घन रस के आधार पर ही बल प्रवाही बनता है अर्थात् एक बल के ऊपर अन्यान्य बलों की चिति होकर प्रवाह रूप जगत् बनता है, रस और बल एक दूसरे से पृथक् कभी नहीं होते ॥१०२॥

२. संसार अवस्था में क्रिया की ही सर्वत्र प्रतीति होती है—उस क्रिया का आधार भूत रस भी क्रिया रूप में ही भासित होता है—और प्रलय अवस्था में वह प्रवाही बल रसरूप में ही प्रलीन हो जाता है।

मृत्यु रूप बल की आन्तर अवस्था में, उसके चारों ओर तथा उसके बाहर भी सर्वत्र सब और मृत्यु में अमृत का आधान हो रहा है, अर्थात् मृत्यु में अमृत का निवास है, अमृत मृत्यु का आत्मा बना हुआ है—यह ही कारण है कि अमृत गर्भित मृत्यु का मरण नहीं होता ॥१०३॥

३. "अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्। मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति"। यह मूल वेद मन्त्र है—इसका अर्थ बताते हुए अनुवाद किया जा रहा है। इस मन्त्र में अमृत—तथा विवस्वत पद के द्वारा ब्रह्म का ही निर्देश है और मृत्यु पद से बल का। अमृत मृत्यु में आत्मा रूप में प्रविष्ट है, यह ही कारण है कि अमृत गर्भित मृत्यु का मरण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि रस के आधार पर ही बल की सत्ता बनती है, अन्यथा बल की स्थिति सम्भव ही नहीं होती।

स्थितेर्विरोधो न यतोऽमृतेन मृत्योर्मतस्तेन समानमेतत्।
शून्येऽपि सर्गेऽपि सदास्ति पूर्णं न चामृतं कर्मणि नास्ति पूर्णम् ॥१०४॥

[४]योगश्च बन्धश्च विभूतिरित्थं स्वरूपसंसर्ग इह त्रिधा स्यात् ।
त आत्मसर्गास्त्रिविधाः प्रसिद्धाः संसर्गनाशं तु वदन्ति मोक्षम् ।।१०५।।
ब्रह्मप्रधानः स विभूतिसर्गः कर्मप्रधानः पुनरेष बन्धः ।
द्वयोस्तु साम्यं भवतीह योगो विश्वं त्रिसंसर्गवशात् प्रवृत्तम् ।।१०६।।
[५]यत्र द्वयोरन्वितयोरपूर्वं द्वियोगजं सृष्टमुदेति किन्तु ।
अन्योन्यमन्योन्यहतं मृतं सत् पृथक् स्वतन्त्रं न भवेत् स बन्धः ।।१०७।।

अमृत के साथ मृत्यु की एकत्र स्थिति में कोई विरोध नहीं माना गया है—अतः दोनों में समानता है। चाहे सृष्टि रहित शून्य काल हो और चाहे सर्ग काल हो दोनों अवस्थाओं में वह सदा पूर्ण रहता है, अतः कर्म में संबद्ध होकर भी उसकी पूर्णता में अन्तर नहीं आता ।।१०४।।

सर्गाभिमुख स्वरूप संसर्ग तीन प्रकार का हो जाता है—ये तीन प्रकार हैं योग, बन्ध और विभूति। यह आत्मा रूप अमृतमयी सृष्टि त्रिविध प्रसिद्ध है, यह बल के संसर्ग से ही होती है। इसके साथ बल संसर्ग का सर्वथा नाश हो जाने वाली अवस्था मोक्ष कही जाती है ।।१०५।।

४. दूसरे प्रकार से स्वरूप संसर्ग की त्रिविधता कही जा रही है। इन योग आदि त्रिविध सम्बन्धों से आगे कहे जाने वाले तीन पुरुषों का प्रादुर्भाव होता है। सर्वथा संसर्ग के नष्ट हो जाने पर जीव का मोक्ष हो गया—यह कहा जाता है।

ब्रह्म-रस वा अमृत की जहां प्रधानता होती है—वह विभूति सर्ग कहा जाता है, एवं कर्म की प्रधानता होने पर बन्ध माना जाता है। विभूति और बन्ध की समता को योग कहते हैं। इन तीनों के संश्लिष्ट होने पर विश्वक्रम चालू होता है ।।१०६।।

विभूति आदि सम्बन्धों में बन्ध का स्वरूप बताते हैं—जहां दो के संयोग से तीसरा कुछ अपूर्व उत्पन्न होता है, (अपूर्व का तात्पर्य जो पहले नहीं था, नया आया है) वहां जिन दो का संयोग हुआ था–वे दोनों आपस में हत होकर मर जाते हैं वे फिर कभी पृथक् स्वतन्त्र नहीं होते, जा कुछ अपूर्व बनता है–वह हो रहता है–यह बन्ध कहा जाता है ।।१०७।।

५. तीनों सम्बन्धों में बन्ध का स्वरूप लक्षण कहा जा रहा है। दो के संयोग से तीसरा कुछ उत्पन्न होता है, दो जो संयुक्त हुए थे वे मर जाते हैं, अर्थात् नई उत्पन्न वस्तु में वे दोनों भिन्न रूप में दिखाई नहीं देते वहां उनका बन्ध हो जाता है।

[१]यथाप्सु वायुः प्लवते स खण्डशो यदोदकैराव्रियते स बुद्बुदः ।
न चावृतिस्त्रुटयति चेत्तयोभयं संसृज्य बद्धं भवदेति फेनताम् ।।१०८।।
[२]दुग्धं प्रतप्तं यदि शीतवायुनाभिभूयते वायुरयन्नु बध्यते ।
दुग्धस्य वायोरपि बन्धनान्मिथः शरः समुद्भूय पृथग् विजायते ।।१०९।।
अग्नि क्रमादुत्क्रमते रसान्नयन् वायुः क्रमादन्तरुपैति संसदत् ।
वायोः स्वयोग्ये हि रसेऽनुबन्धनादयं रसस्तत्र शरः प्रजायते ।।११०।।

बन्ध का लौकिक उदाहरण–जैसे जल में वायु का प्रवाह होता रहता है वह वायु जल के भीतर प्रविष्ट हो जाने पर जल कणों के द्वारा घिर जाता है तो बुद् बुद् रूप बन जाता है, वह बुद् बुद् रूप जल कणों का आवरण यदि नहीं टूटता है, तो जल और वायु संयुक्त होकर बन्ध भाव में आ जाते हैं–तब जल व वायु का स्वरूप नष्ट होकर फेन रूप ले लेता है। फेन में न जल प्रतीत होता है न वायु ।।१०८।।

१. उक्त तीनों सम्बन्ध लौकिक उदाहरणों द्वारा ही समझाये जा रहे हैं। लोक व्यवहार में पहले प्रतीति हो जाने पर ही अलौकिक भाव में बुद्धि का प्रवेश संभव हो पाता है, यह पूर्व कहा जा चुका है। यह ध्यान रहे कि रस में स्थिति पाये हुए बलों के ही परस्पर ये सारे सम्बन्ध होते हैं। रस तो वास्तव में कहीं भी बंधन में नहीं आता, और स्वभावतः असंग होने से किसी से युक्त भी नहीं होता। रस का तो सर्वत्र केवल विभूति संबन्ध ही होता है, यह आगे कहा जायगा। उन तीनों में बन्ध का उदाहरण दे रहे हैं—जल में वायु सदा प्लवन करता है, अर्थात् जल संयुक्त होकर बहता है या तैरता है। जब वायु जल के भीतर प्रविष्ट होकर जल कणों को ऊपर उछाल देता है और उन कणों में वायु स्वयं रह जाता है, अर्थात् जलकणों के आवरण में वायु रुक जाता है, तब बुद्-बुद् प्रतीत होने लगते हैं। यदि वह आवरण टूट जाता है तब तो जल और वायु विभक्त हो जाते हैं और बुद्-बुद् जल में लीन हो जाते हैं, लेकिन जब किसी विशेष बल के द्वारा आवरण दीर्घकाल तक नहीं टूटता, तब वायु और जल के बन्ध संयुक्त हो जाने पर फेन का उद्भव हो जाता है। तब वायु और जल दोनों ही पृथक् प्रतीति में नहीं आते।

अग्नि द्वारा तपाये दुग्ध में जब शीतल वायु प्रविष्ट हो जाता है–वह अग्नि के ताप को दबा देता है और स्वयं वहां बद्ध होता है। वहां दुग्ध और शीतल वायु के परस्पर बन्ध सम्बन्ध से 'शर–थर–मलाई' नयी उत्पन्न होकर दुग्ध से पृथक् अपनी स्थिति बना लेती है ।।१०९।।

२. बन्ध का अन्य उदाहरण दिया गया है। खूब गरम किये हुए दूध में शीतल वायु प्रविष्ट होता है तब वायु के वेग से उछला हुआ दूध पूर्वोक्त फेन की प्रक्रिया के समान वायु को आवृत कर लेता है। अग्नि अपने स्वभावानुसार दूध रूप रस को लेकर ऊपर उछलता है। वायु दूध के भीतर प्रविष्ट होना चाहता है तब वायु और दूध का बन्ध भाव होकर, वह दूध 'शर-थर-मलाई' नाम से प्रसिद्धि पा जाता है। अग्नि उछल कर बाहर निकल जाता है।

रस रूप सोम को लेकर ऊपर उछलना अग्नि का सहज भाव है—अतः दूध के रस भाग को लेकर अग्नि संक्रमण कर ऊपर उछलता है और वायु संक्रमण कर दूध के भीतर धीरे-धीरे संस्थित हो जाता है। वायु की स्थिति का कारण अपने अनुकूल रस की प्राप्ति होती है, दूध का सचिक्कण रस भाव ही तदनुकूल होता है अतः अपने योग्य रस में वायु के बन्धन भाव में आ जाने से परस्पर संबद्ध वह दूध रूप रस वहां शर रूप में परिवर्तित हो जाता है ।।११०।।

[3]यत्र द्वयोरन्वितयोः स्वतन्त्रप्रवृत्तयोः कर्मणि साहचर्यात् ।
द्वियोगजं सृष्टमपूर्वमुद्यान्न चान्यतोऽन्यन्म्रियते स योगः ।।१११।।

[4]प्राचीं प्रतीचीं च पृथक् पतत्रे पतत्रिणः संपततस्ततः स्यात् ।
गत्योर्द्वयोर्योगवशादुदीची गतिर्विभिन्ना समकोणसिद्धा ।।११२।।

[5]यत्पाणिना पाणिरमुष्य घृष्यते बलाद् दृढोऽश्मा प्रतिहन्यतेऽश्मना ।
विरुद्धशक्तिद्वययोगतस्ततस्तदाऽनलश्चक्रगतिर्विजायते ।।११३।।

किसी कर्म निष्पत्ति में जहां दो बल सहचर भाव में रहते हुए परस्पर अन्वित (युक्त) होते हैं परन्तु दोनों की प्रवृत्ति स्वतन्त्र रहती है, उन दोनों के योग से अन्य अपूर्व की उत्पत्ति तो हो जाती है किन्तु वे दोनों भी निज अवस्था में बने रहते हैं, एक से दूसरे का हनन नहीं होता, यह योग संबन्ध होता है । अर्थात् नयी वस्तु उत्पन्न करके भी निज सत्ता बनाये रखना ।।१११।।

३. दूसरे योग नामक संबन्ध का लक्षण बता रहे हैं । दो के संयोग से तीसरी चीज उत्पन्न होती है, किन्तु जिनके योग से नवीन उत्पत्ति हुई है वे दोनों भी स्थित ही रहते हैं, बन्ध संबन्ध के समान मरते नहीं, वह योग संबन्ध होता है ।

योग संबन्ध का लौकिक उदाहरण—एक पक्षी जो उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर उड़ता है, उसके दोनों पंख पूर्व और पश्चिम में क्रियारत होते हैं— उन दोनों की गति से ही उत्तराभिमुखी गति क्रमशः आगे बढ़ती है—उस उत्तर की गति की उत्पादक पूर्व पश्चिमस्थ पंखों की क्रिया है । उसमें वे दोनों गति भी रहती हैं और समकोण बनाती हुई नवीन गति भी उत्तर की ओर उत्पन्न होती रहता है । यहां उन दोनों गतियों का योग सम्बन्ध होता है ।।११२।।

४. योग का उदाहरण बताया है कि उत्तर दिशा की ओर तेजी से उड़ने वाले पक्षी के दोनों पंख पूर्व और पश्चिम दिशा में चेष्टावान् होते हैं—उस चेष्टा के योग से उत्तर दिशा में गति उत्पन्न होती है और पूर्व पश्चिम में होने वाली क्रिया भी नष्ट नहीं होती । यह पूर्व पश्चिम में होने वाली क्रिया योग संबद्ध होती है । अर्थात् दोनों की वह क्रिया भी रहती है और नवीन गति भी उत्पन्न हो जाती है ।

योग का अन्य दृष्टान्त-दोनों हाथों को परस्पर रगड़ने पर अग्नि सम्बन्धी उष्णता उत्पन्न हो जाती है वहां दोनों हाथों की गति भी रहती है, उष्णता नवीन पैदा होती है । इस ही प्रकार पूरी ताकत के साथ दो पत्थरों के खण्डों को परस्पर टकराने से चक्राकार चिनगारियों के रूप में अग्नि उत्पन्न हो जाता है । विरुद्ध दो शक्तियों की टकराहट योग संबद्ध होती है—वह रहती है और नवीन अग्नि भी उत्पन्न होता है ।।११३।।

५. योग का द्वितीय उदाहरण – स्पष्ट ही है । हाथों की रगड़ से गर्मी प्रतीत होती है । पत्थरों के योग से अग्नि का प्रादुर्भाव लोकसिद्ध है ही । प्राचीन काल में ग्राम वासियों की अग्नि प्रकट करने की यह प्रक्रिया चलती थी ।

[1]यत्र द्वयोरन्वितयोस्तु सर्गादेकं मृतं स्यादमृतं द्वितीयम् ।
स्वतन्त्रमेकं परतन्त्रमन्यच्चान्वेति नान्वेति विभूतिरेषा ।।११४।।

[2]यदिच्छतो यत्नवतः स्थिरः करः प्रोत्तिष्ठतीह प्रचरत्यनेकधा ।
प्राणस्य प्रज्ञानुचरस्य सा करे विभूतिरन्तर्निहिताऽप्यलिप्तवत् ।।११५।।

[3]न चेष्टका शुष्कमृदा भवेत्ततो जलात्करोतीह मृदं सुपेशलाम् ।
तयेष्टकासंपदि शोष्यते जलं सूत्रात्मवायुर्विभवत्यथेष्टकाम् ।।११६।।

अमृत और मृत्यु संसर्ग से होने वाली इस सृष्टि में अमृतमय रस का सम्बन्ध विभूति संसर्ग से सर्वत्र होता है । विभूति का लक्षण है कि जहाँ इन दोनों के सम्बन्ध से समुत्पन्न सर्ग में एक मर जावे और दूसरा अमृत तत्व सदा वर्तमान रहे । वहां अमृत का सम्बन्ध बन्ध वा योग न होकर विभूति रूप होता है । मृत्यु का अर्थ है परतन्त्रता (परवशता), अमृत का अर्थ है स्वतन्त्रता । मृत्यु सृष्टि में अन्वित (जुड़ा) रहता है, अमृत कभी कहीं भी अन्वित नहीं होता । यह विभूति सम्बन्ध का रूप है ।।११४।।

१. तीसरे विभूति संबन्ध का स्वरूप बता रहे हैं । दो के योग में जहां एक मर जाता है, और दूसरा अमृत जीवनावस्था में वर्तमान रहता है, वहां अमृत का विभूति संबन्ध होता है । मरण और जीवन का अर्थ बताते हैं कि एक स्वतन्त्र रहता है और दूसरा परतन्त्र हो जाता है । परतन्त्रता का नाम ही मरण है । अथवा यह कहा जा सकता है कि इन दोनों में एक पदार्थ से अन्वित होता है । दूसरा अमृत कहीं अन्वित नहीं होता, अर्थात् सम्बन्ध के फल का अनुभव नहीं करता वह सदा तटस्थ भाव में ही रहता है । यह तटस्थ भावात्मक सम्बन्ध विभूति कहलाता है ।

विभूति का लौकिक उदाहरण – मनुष्य जब हाथ ऊपर उठाता है तथा इधर-उधर अनेक प्रकार से हाथ को घुमाता है, उस समय प्रज्ञारूप मन में प्रथम हस्त संचरण की इच्छा होती है तदनन्तर प्राण द्वारा चेष्टा होती है । यहां हाथ के साथ मन और प्राण का विभूति सम्बन्ध होता है । अन्तर्निहित यह सम्बन्ध अलिप्त के समान होता है अर्थात् प्राण और मन वहां तटस्थ भाव में ही रहते हैं ।।११५।।

२. विभूति संबन्ध के चार उदाहरण चार श्लोकों द्वारा बताये जा रहे हैं । सब से पहले आत्मा में–मन में हस्त संचालन की इच्छा उत्पन्न हुई, तदनन्तर प्रयत्न हुआ । इच्छा करना मन का अर्थात् प्रज्ञा का धर्म है, यत्न करना प्राण का धर्म है । तदनन्तर अर्थात् इच्छा और प्राण के आन्तर प्रयत्न के अनन्तर हाथ में क्रिया उत्पन्न होती है । वहाँ प्रज्ञा नाम से कहे जाने वाले मन का और प्राण का हस्त के साथ विभूति सम्बन्ध होता है । प्रज्ञा और प्राण वहां स्वतन्त्र हैं । किन्तु हाथ परतन्त्र है । भीरत परस्पर संबद्ध प्रज्ञा और प्राण सर्वथा अलिप्त के समान तटस्थ भाव में ही रहते हैं । हस्त संचालन से उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता । यह तात्पर्य है । क्रिया का तो हाथ के साथ एकात्मता रूप सम्बन्ध होता है—यह पहले कह चुके हैं ।

ईंट सूखी मृत्तिका से नहीं बनती-अतः जल मिलाकर उसके रूक्षभाव को हटाकर मृदु बनाया जाता है. ईंट का आकार बन जाने के अनन्तर जल सुखा दिया जाता है, यह कार्य

अग्नि, सूर्यातप तथा वायु के द्वारा होता है। उस अवस्था में सूत्रात्मा रूप वायु ईंट में प्रविष्ट होकर ईंट की सत्ता को स्थिर किये रहता है। ईंट में सूत्रात्मा वायु का विभूति सम्बन्ध होता है ।।११६।।

३. विभूति का द्वितीय उदाहरण—बिखरने वाली शुष्क मृत्तिका से ईंट का निर्माण नहीं हो सकता—इसलिये जल से मृत्तिका को आर्द्र कर के ईंट बनाई जाती है। धूप या अग्नि के द्वारा जल सुखा दिया जाता है। जल के सूख जाने पर भी मृत्तिका के कणों का परस्पर जुड़ाव क्यों नहीं टूटता ? इसका विचार यह है कि सर्वत्र व्यापक रहने वाला सूत्रात्मा नाम से कहे जाने वाला वायु ईंट को धारण करता है। ये सूत्रात्मा वायु देवताविशेष है। इसका ईंट के साथ विभूति संबन्ध होता है। यह वायु स्वतन्त्र है, लेकिन ईंट परतन्त्र है। ईंट की स्वरूप रक्षा सूत्रात्मा वायु के अधीन है। सूत्रात्मा वायु में इस संबन्ध से कोई विकार उत्पन्न नहीं होता—वह अलिप्त के समान धारण किये रहता है।

[४]न लौहखण्डद्वितयं परस्परं संसृज्यते तेन तदग्निना द्रवम् ।
सुपेशलं चेदपि सृज्यते ततः सूत्रात्मवायुर्विभवत्यमुष्मिन् ।।११७।।
[५]गजाश्व-वेश्माद्रिवनादयो यदा दृष्टौ स्मृतौ वा प्रतिभान्ति तत्र हि ।
विज्ञानमेकं विभवत्यनुक्रमादमीषु भूयो महिमस्वनेकधा ।।११८।।

दो लोहे के टुकड़े अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता में रहते हुए परस्पर जोड़े नहीं जा सकते अतः अग्नि के द्वारा तपाये जाने पर कोमलता उत्पन्न होने पर वे जुड़ जाते हैं, तदनन्तर अग्नि ताप के शमन हो जाने पर तदन्तः प्रविष्ट सूत्रात्मा वायु ही उन दोनों खण्डों को आगे एक रूप में ही धारण किये रहता है। वहां सूत्रात्मा का सम्बन्ध विभूति होता है ।।११७।।

४. पहले के समान ही विभूति का अन्य उदाहरण—अग्नि के द्वारा द्रव भाव (पिघलना) में आकर दो लोह खण्डों को संयुक्त कर दिया जाता है। वहां उन दोनों का संयोजक अग्नि होता है। उस अग्नि के निकल जाने पर पूर्व कथित सूत्रात्मा वायु ही उन दोनों के संयोग को सुरक्षित रखता है। वहाँ भी सूत्रात्मा वायु का विभूति सम्बन्ध ही है।

लोक व्यवहार में हमारी दृष्टि में या स्मृति में दृष्टि में प्रत्यक्ष और स्मृति में परोक्ष जो हाथी, घोड़े, मकान, पर्वत वन आदि प्रतिभासित होते हैं—वहां सर्वत्र यद्यपि उन सब पदार्थों की विभिन्न महिमा होती है। अर्थात् सबही स्वरूपतः पृथक् अनेक महिमा युक्त होते हैं, किन्तु उन सबमें हमारा एक मात्र ज्ञान ही क्रमशः अनुप्रविष्ट होता है। वहां उन सबके साथ ज्ञान का विभूति सम्बन्ध होता है ।।११८।।

५. हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में वा परोक्ष स्मरण में बाह्य पदार्थ—हाथी, घोड़े, घर, पर्वत आदि की प्रतीति में ज्ञान के साथ बाहर के पदार्थों का संबन्ध होता है। वहां ज्ञान का विभूति रूप ही संबन्ध होता है। ज्ञान में किसी प्रकार का लेप नहीं होता। यहां शंका यह की जाती है कि बाहर के प्रतीति में आने वाले पदार्थ हाथी, घोड़ आदि में भी किसी के प्रति कोई परतन्त्रता नहीं होती, और न हमारे ज्ञान से संबद्ध होने का कोई फल उन में होता है, ऐसी अवस्था में

वहां विभूति का लक्षण कैसे घटित हो सकता है ? इस विषय में वक्तव्य है कि यह सत्य है, बाहरी पदार्थों में कोई परतन्त्रता नहीं आती और हमारे ज्ञान से समुत्पन्न कोई फल भी उन में नहीं होता, मीमांसक वा नैयायिक वर्ग जो यह कहते हैं कि हाथी को मैं जान रहा हूँ— इस ज्ञान रूपा क्रिया का कर्मकारक हाथी होता है अतः ज्ञातता वा विषयता रूप फल, कर्मकारक के लक्षण का समन्वय करने के लिये मानना चाहिये, बाहरी विषय भी उस फल के आश्रय बनते हैं। इस प्रकार जो वे फलाश्रय कल्पना करते हैं, वो तो उनकी एक कथन छटा मात्र है। वास्तविक तत्व विचार में, ज्ञातता वा विषयता नाम की कोई वस्तु बाहरी पदार्थों में उत्पन्न होती है, इसे किसी भी प्रक्रिया से कोई भी दिखा नहीं सकता, और जिस घोड़े को देखकर हमने अपने ज्ञान में लिया है--उस में और जिसे हमने नहीं देखा है उसमें कोई विशेषता किसी के अनुभव में नहीं आती है। इस कारण ही वैयाकरण विद्वान् ज्ञान के ज्ञा धातु का केवल कर्त्ता में ही स्थिति भाव मानते हैं। यह सब सत्य मान लेने पर भी, ज्ञान विषय की आन्तरिक विचार परम्परा में यह माना गया है कि संसार के बाह्य विषयों के दर्शन से हमारे ज्ञान में बाहरी हाथी, घोड़ों के प्रतिबिम्ब स्वरूप हाथी आदि उत्पन्न होते हैं। वे हमारे ज्ञानान्तरगर्भित गज-अश्व आदि ज्ञान से सदा के लिये संबद्ध हो जाते हैं, ज्ञान में ही रहते हैं, वे ही कभी स्मरणकाल में वा स्वप्नावस्था में अथवा मन के कल्पना जगत् में समय-समय पर अनुभूति में आते हैं, और बाहर के विषयों के नष्ट हो जाने पर भी वे नष्ट नहीं होते, अतः नष्ट हो जाने वाले वा दूसरे शब्दों में मर जाने वालों का भी भान होना अनुभव सिद्ध है। व्याकरण के मंजूषा आदि ग्रन्थों में—बाह्य पदार्थों के दर्शनानन्तर हमारे आन्तरिक ज्ञान जगत् में पांच प्रकार की प्रतिक्रियाजन्य पांच दशा बनती हैं, इस विषय का गहन विचार किया गया है। वे ज्ञान के अन्तरगर्भित गज-अश्व आदि ज्ञान के महिमा रूप ही कहे जाते हैं, उन आन्तरिकों के साथ ही यहाँ ज्ञान का विभूति सम्बन्ध बताया गया है। उन ज्ञानान्तर गर्भित विषयों की ज्ञान परवशता और ज्ञान से संयुक्तता तो स्पष्ट ही है। ज्ञान तो उन से बद्ध कभी नहीं होता—इसलिये ज्ञान को सदा स्वतन्त्र ही कहा जाता है। उस ज्ञान की स्वतन्त्रता और नित्यता के कारण ही उस में अनन्त प्रकार के विषय आते रहते हैं और निकलते रहते हैं—इस तरह विभूति के लक्षण का समन्वय वहां करना उचित ही है। यही बात श्लोक में कही गई कि—इन बाह्य विषयों की अपनी-अपनी महिमा के अनन्त होने पर भी स्वमहिमाशाली एकमात्र ज्ञान का ही वहां वैभव होता है—अर्थात् विभूति संबन्ध से ज्ञान ही सर्वत्र रहता है। सांख्य-वेदान्त आदि में भी ज्ञान का एक विशेष रूप समझने के लिये, द्रव्यरूपा बुद्धि मानी गई है। उस ज्ञान के प्रतिबिम्ब भूत आत्मा का भी ज्ञान पद से व्यवहार होता है, उस आत्मा का भी सर्वत्र विषयों से विभूति संबन्ध ही होता है।

ज्ञानान्तर गर्भित ये गज आदि बाहर के गज आदि के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं या अन्य शब्दों में भावनात्मक उत्पन्न किये जाते हैं और ज्ञान में निविष्ट किये जाते हैं—अतः दोनों में अभेद बुद्धि होती है। इस प्रक्रिया से विचार करने पर बाह्य पदार्थों से भी ज्ञान का विभूति संबन्ध ही कहा जायगा। कर्म कारकता भी उनकी विभूति से ही होती है। इस प्रकार विभूति के उदाहरण बताये गए दो के संबन्ध में एक मर जाता है, अर्थात् दूसरे में लीन हो जाता है—इस का उदाहरण भी ग्रन्थकर्ता ने अपने संशय—तदुच्छेद वाद नाम के ग्रन्थ में तथा भगवद्गीता के

विज्ञान भाष्य में बताया है—जैसाकि पारदर्शक श्वेत स्फटिक के अति सन्निकट जपा कुसुम के रखने पर—जपा पुष्प और स्फटिक के रूपों का संबन्ध होने पर केवल जपा का रूप ही प्रतीत होता है—स्फटिक का श्वेत रूप जपा रूप में लीन हो जाता है, जपा पुष्प के रूप में किसी प्रकार का भी विकार नहीं होता—वह स्फटिक से अलग किये जाने पर भी पूर्व रूप ही रहता है, इस प्रकार जपा पुष्प के रूप का वहां विभूति संबन्ध होता है। ठीक इस ही प्रकार दिन में दिखाई देने वाले चन्द्रमा की चाँदनी नहीं दीख पड़ती क्योंकि सूर्य के प्रकाश में वह लीन हो जाती है, वहाँ भी सूर्य प्रकाश का विभूति संबन्ध होता है इत्यादि।

[1]तृणेषु बन्धादिह दुग्धमत्रानलो विभूत्या द्रवताऽम्बुयोगात्।
दुग्धे तृणं वृत्तिमदाहितं चेदेकत्र संसर्गचतुष्कमित्थम् ॥११६॥

[2]स्वरूप-संसर्गिबलादिहात्मा विधीयतेऽनेकविधः स भोक्ता।
वृत्तित्वसंसर्गिबलात्तु भोक्तुस्तस्यात्मनो भोग्यमुपस्थितं स्यात् ॥१२०॥

चार संसर्गों का एक उदाहरण है—गाय का दूध—उस ही में बाहर से गिरा हुआ एक तिनका। तृण रूप घास के खाने से दूध गाय के शरीर में बनता है—वहां तृण दुग्ध भाव में बन्ध जाते हैं—यह बन्ध संसर्ग हुआ। गाय के शरीर की जाठराग्नि ने उन तृणों को (घास) दूध रूप में परिवर्तित किया है वहां अग्नि विभूति सम्बन्ध से संयुक्त हुआ है। गाय के द्वारा पीये गये जल से उन तृणों में द्रवता आई है, यह जल का योग सम्बन्ध है। बाहर से गिरे हुए तृण को वहाँ वृत्तिता रूप सत्ता बन रही है—अतः वृत्तिता संसर्ग है। इस प्रकार चार संसर्ग एक ही में देखे जा सकते हैं ॥११६॥

१. एक ही जगह तीनों प्रकार के स्वरूप संसर्ग तथा वृत्तिता संसर्ग को दिखाया गया है। दुग्ध को अग्नि सम्बन्ध से तपा लिया—उसमें एक तिनका गिर गया। अब यहां अलग भावों पर विचार करिये—गाय द्वारा भक्षण किये गये ढेर सारे अनेक प्रकार के तृण समूह से तथा पीये गए जल से दुग्ध उत्पन्न होता है। वहाँ दुग्ध में गाय के द्वारा खाये गये अनेक प्रकार के तृण समूह का बन्ध रूप सम्बन्ध है, अर्थात् उन तृणों ने अपना स्वरूप नष्ट करके दुग्ध उत्पन्न किया। गाय के द्वारा पान किये गये जल से दुग्ध के अणुकणों का योग रूप सम्बन्ध है—क्योंकि जल कहीं लीन न होता हुआ—वहां स्थित हो रहा है—वह ही दुग्ध के अणुओं में द्रवता उत्पन्न कर रहा है। गौ की जाठराग्नि ने तृण समूह को दुग्ध भाव में परिणत किया है, वह अग्नि भी दुग्ध में रहता है, किन्तु विभूति सम्बन्ध से रहता है। वह केवल दुग्ध के स्वरूप की रक्षा करता है, अपने आप में स्वतन्त्र है। पूर्व कथित सूत्रात्मा वायु के समान। बाहर की अग्नि से तपाने पर दूध में प्रविष्ट अग्नि कणों का भी दुग्ध से विभूति सम्बन्ध ही है। बाहर से गिरे हुए एक तिनके का वहाँ वृत्तिता सम्बन्ध है, इस प्रकार सूक्ष्म आलोचन करना चाहिये।

स्वरूप संसर्ग की तीन विधा जो कही जा चुकी हैं, उनके प्रभाव से ही आत्मा अनेक विधाओं में भोक्ता बनता है। उस नाना रूप भोक्ता आत्मा के लिये जो नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ उपस्थित होते हैं वे सब वृत्तिता संसर्ग से होते हैं ॥१२०॥

२. भोग करने वाले आत्मा के अनेक रूप आगे कहे जायंगे, वे सब स्वरूप संसर्ग से ही प्रादुर्भूत हैं। संसर्ग की विलक्षणता से ही उन आत्माओं में विलक्षण भाव आता है यह भी आगे कहा जायगा। उन भोक्ताओं के लिये जो भोग्य उपस्थित होते हैं—वे सब वृत्तिता संसर्ग से ही होते हैं—यह विवरण भी आगे मूल में ही आवेगा।

[1]यत्राश्रितस्याश्रयतोऽन्वयेन संसृज्य नापूर्वमुदेति किञ्चित्।
यत्राश्रितं स्वाश्रयनैरपेक्ष्यात् प्रवर्तते कर्मसु वृत्तिता सा।।१२१।।

यथा हि पथ्यस्य जनस्य गच्छतः पन्था निमित्तं ध्रुवमाश्रयत्वतः।
न चैवमप्येष गतिस्वरूपगो वृत्तित्वमेवं तदुदाहरन्ति।।१२२।।

यथाय[2] माकाशगतः समीरणो व्याप्नोति चाकाशमशेषदिक्ष्वपि।
न वायुनाऽऽकाशमिदं विलिप्यते तथाखिलं स्याद्रसवृत्ति तद्बलम्।।१२३।।

वृत्तिता सम्बन्ध का लक्षण—जहां आधारित पदार्थ अपने आधार से अन्वित होने पर भी आधार में कोई नवीनता उत्पन्न नहीं करता हो, आधार के निरपेक्ष—अर्थात् तटस्थ भाव में रहने पर भी आधारित वस्तु की कर्म प्रवृत्ति जहाँ चालू रहे वहाँ आधार से आधारित का वृत्तिता सम्बन्ध होता है।।१२१।।

१. स्वरूप संसर्ग और वृत्तिता संसर्ग ये दो प्रकार के संसर्ग पहले कहे गये हैं। उनमें स्वरूप संसर्ग तीन प्रकार का स्पष्ट किया गया। अब वृत्तिता का लक्षण और उदाहरण बता रहे हैं।

वृत्तिता का उदाहरण—जैसे मार्ग में जाने वाले पथिक का, मार्ग निश्चित रूप से निमित्त रूप से आधार बनता है, लेकिन पथिक की गति से मार्ग में कोई गति नहीं होती मार्ग अपने रूप में ही रहता है—वहाँ मार्ग के साथ पथिक का वृत्तिता संसर्ग होता है।।१२२।।

अन्य उदाहरण—जैसे आकाश में बहता हुआ पवन आकाश में सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो जाता है किन्तु उस वायु से ये आकाश कहीं लिप्त नहीं होता वैसे ही रस रूप अमृतमय ब्रह्म में बल सर्वत्र फैल कर भी रस में लेप नहीं कर पाता। वहाँ रस से बल का वृत्तिता संसर्ग ही होता है।।१२३।।

२. रस से बल का वृत्तिता संसर्ग ही होता है यह कहा जाता है। पहले कहे गए पांच सम्बन्धों में समञ्जस सम्बन्ध रस और बल का उचित प्रतीत होता है। तीनों स्वरूप सम्बन्धों में विभूति सम्बन्ध से रस की स्थिति जाननी चाहिये। वृत्तिता संसर्गों में उदार वृत्तिता सम्बन्ध जानना उचित है—जिसका प्रतिपादन आगे होगा। ये ही रस और बल के संसर्ग संभव होते हैं। अन्य सारे सम्बन्ध तो बल विशिष्ट रस के दूसरे बलों से अथवा अन्य बल विशिष्ट रसों से जो जहां उचित हों वे मानने चाहिये। वास्तव में तो पुरुष का शक्ति के साथ वृत्तिता सम्बन्ध ही होता है यह बात ९९वें श्लोक में कही जा चुकी है। आगे १३५वें श्लोक में भी कही जायगी। पुरुष सर्वत्र सृष्टि में बल विशिष्ट ही रहता है। इस कारण बल विशिष्ट पुरुष में अन्य बलों का सम्बन्ध वृत्तिता रूप ही होता है। आधार आधेय भाव को लक्ष्य में रखकर तो विशुद्ध रस और बल के सम्बन्ध में वृत्तिता का व्यवहार औपचारिक ही है।

[3]आसक्त्युदारौ समवाय इत्थं वृत्तित्वसर्गोऽपि भवेत् त्रिधैव ।
तेन स्वरूपत्रययुक्तवृत्तित्रयं षडेतेऽमृतमृत्युसर्गाः ।।१२४।।

अन्योन्यमेते परिवर्त्तिताः स्युस्तेषाममीषां परिवर्तनं यत् ।
आकस्मिकं तन्न फलान्न कामात् स्वभाव एवात्र परं निदानम् ।।१२५।।

[4]बलस्य यस्यां रसवृत्तितायां सिद्धयत्यसाधारणतैव तस्मिन् ।
निष्पन्दता वा रसलिप्तता वा न जायते सा तदुदारवृत्तिः ।।१२६।।

यथायमाकाशगतः समीरो निर्लिप्त एव प्रचरत्यमुष्मिन् ।
भवत्यसाधारणतामुपेतः स्वभेदतस्तद्वदिहापि विद्यात् ।।१२७।।

यथा जलं पुष्करपत्रनिष्ठं निर्लिप्तमेव प्रचरत्यमुष्मिन् ।
भवत्यसाधारणतामुपेत क्वचिद्भृतं तद्वदिहापि विद्यात् ।।१२८।।

बन्ध, योग और विभति इन स्वरूप संसर्गों की तरह वृत्तित्व संसर्ग भी तीन प्रकार का होता है, आसक्ति, उदार और समवाय । इस प्रकार स्वरूप के तीन रूप और वृत्तिता के तीन रूप ये छै संख्या में अमृत तथा मृत्यु संसर्ग होते हैं ।।१२४।।

ये परस्पर एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं—इनका ये जो परिवर्तन होता है ये किसी अन्य क्रिया के फल से नहीं होता नहीं किसी को इच्छा (प्रेरणा) से होता है, ये परिवर्तन स्वाभाविक होता है । यह ही वास्तविकता है ।।१२५।।

रस का संसर्ग प्राप्त हो जाने पर बल में असाधारणता आ जाती है, किन्तु अन्य में अपने स्वरूप को खो देने वाली निष्पन्दता (शून्यभाव) या उस रस में प्रलिप्तता उत्पन्न नहीं होती—इसको ही उदारवृत्ति सम्बन्ध कहते हैं ।।१२६।।

४. उस रस का संसर्ग प्राप्त कर लेना ही असाधारणता है और यह इस उदार वृत्ति संसर्ग की ही महिमा है कि रस की सर्वत्र समानता सिद्ध नहीं होती, अर्थात् रस की सर्वत्र सत्ता रहने पर भी बल में आ जाने वाली असाधारणता से परस्पर सब ही भिन्न भाव में आ जाते हैं । जैसे आकाश में चलने वाले वायु का आकाश के अमुक प्रदेश से सम्बन्ध मानना केवल व्यवहार मात्र है । कोई अन्य विकार वहां नहीं होता यह पहले श्लोक में कहा जा चुका है । निष्पन्दता का अर्थ है अपना स्वरूप त्याग कर रस में लीन हो जाना, या कि रस में लिप्तता भी नहीं होती—यह ही उदारवृत्तिता है ।

जैसे आकाश में गतिमान वायु आकाश में निर्लेप भाव में ही बहता रहता है तथापि अपने निज भाव से उस पवन में असाधारणता आ जाती है । वैसे ही रस और बल के विषय में भी समझना चाहिये ।।१२७।।

जैसे कमल के पत्र पर स्थित जल बिन्दु उस पत्र से सर्वथा निर्लिप्त ही प्रतीति में आता है, तथापि पद्म पत्र पर जल बिन्दु होने की अन्य जलों से भिन्न भाव की असाधारणता उसमें आ जाती है उस ही प्रकार रस—बल विषय में जानना चाहिये ।।१२८।।

[1]बलस्य यस्यां रसवृत्तितायां सिद्धयेदवष्टम्भ इहाविदूरे।
निष्पन्दमस्मिन्नवलम्बितं स्यान्न संचरेत्सा समवायवृत्तिः ।।१२६।।

यथा पटस्तन्तुषु मृद्घटो वा मृत्स्वेव तिष्ठत्यवलम्बमानम् ।
निष्पन्दरुद्धं न ततः पृथक् स्यान्न चाश्रयं हन्ति तथेह विद्यात् ।।१३०।।

यथा गुणा द्रव्यगता अमुष्मिन् प्रतिष्ठिताः सन्त्यवलम्बिनस्ते ।
निष्पन्दरुद्धा न ततः पृथक्स्युर्नवाश्रयं हन्युरिहापि तद्वत् ।।१३१।।

वृत्तिता संसर्ग की दूसरी विधा समवाय वृत्ति का लक्षण—रस संसर्ग में बल का जहां एक जगह नित्य योग बन जाय तथा वह गति रहित होकर निष्पन्द हो जाय सर्वथा आधार पर अवलम्बित हो जाय अर्थात् आधार आधेय का एकीकरण हो जाय, पृथक् स्वतन्त्र गति न रहे, उसे समवायवृत्ति संसर्ग कहा जाता है ।।१२६।।

१. अविदूर अवष्टम्भ का अर्थ है एक ही जगह सत्ता। निष्पन्द का अर्थ बल की गति शून्यता, न्याय-शास्त्र में भी अवयव अवयवी का और गुण और गुणवान् का समवाय सम्बन्ध ही माना जाता है। वहाँ बल अपना चलन स्वभाव छोड़ देता है।

जैसे वस्त्र, सूत्र तन्तुओं के आधार पर तथा मृत्तिका का घट, मिट्टी के आधार पर अवलम्बित रहता है। सूत्र तन्तु तथा मिट्टी वहां निष्पन्द (गतिशून्य) होकर रुद्ध हो जाते हैं और उन आधारभूत तन्तुओं का तथा मिट्टी का वहां नाश भी नहीं होता। उस ही तरह रस–बल के संसर्ग में भी समझना चाहिये ।।१३०।।

जैसे किसी पदार्थ के गुण पदार्थ में ही प्रतिष्ठित होते हैं, पदार्थ को आधार बना कर ही टिके रहते हैं। वहां वे गुण गतिशून्य होकर न तो पदार्थ से पृथक् होते हैं और न ही पदार्थ का स्वरूप नाश करते हैं, वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये ।।१३१।।

[2]बलस्य यस्यां रसवृत्तितायां बलेन लेपः पुरुषेऽत्र सिद्धयेत् ।
लेपाच्च तस्यावरणाद् विकारः स्यादात्मनः सा खलु सङ्गवृत्तिः ।।१३२।।

यथाऽऽहितं सैन्धवखिल्यमप्सु व्याप्नोति ता श्चावृणुते विलिम्पत् ।
रूपाद्रसाद्वा विकरोति तोयं ह्यासक्तिवृत्त्यात्म बलं च तद्वत् ।।१३३।।

यथा विशुद्धस्य पटस्य रञ्जनात्सर्वो हि तन्तुः सविकार ईक्ष्यते ।
तदङ्गलेपावरणात् तथात्मनो विकार आसक्तिबलेन जायते ।।१३४।।

आसक्ति नाम के वृत्तिता संसर्ग का लक्षण—जहां रस और बल के संसर्ग में पुरुष में बल का लेप हो जाय अर्थात् बल रस से लिपट जाय, इस लेप से पुरुष की स्वतन्त्रता पर आवरण पड़ जाता है, इस आवरण से ही आत्मा में विकार आ जाता है। इसको ही आसक्ति कहते हैं ।।१३२।।

२. सङ्गवृत्ति का अर्थ आसक्ति है। यह आसक्ति संसर्ग ही विशेषकर सृष्टि का प्रयोजक सिद्ध होता है। पुरुष शब्द का व्यवहार बल विशिष्ट रस में होता है, अर्थात् माया द्वारा सीमाबद्ध रस—यह विषय पुरुष प्रकरण में शीघ्र ही आगे बताया जायगा। माया से परिच्छिन्न (सीमित) रस

में ही लेप वा विकार संभव हो सकते हैं, शुद्ध रस में कभी नहीं। बल सन्निविष्ट रस में भी अर्थात् आत्मा में भी वास्तव में लेप तथा विकार नहीं होते वे अपने में निष्ठा पाये हुए बल में ही विश्राम पा लेते हैं—रस रूप आत्मा तो वहाँ भी निर्लेप ही रहता है—यह विषय निर्विकाराधिकरण में विवेचित होगा।

आसक्ति का दृष्टान्त—जैसे जल में एक सैन्धवनमक का टुकड़ा डाल देने पर वह नमक सारे पानी में व्याप्त हो जाता है अर्थात् पानी में सर्वथा लिपट जाता है, तब पानी के रूप और रस दोनों विकृत हो जाते हैं—यह आसक्ति संसर्गवश ही होता है, वैसे ही आत्मा पर माया का लेप समझना चाहिये। इस आसक्तिवश ही स्वतन्त्र आत्मा में परतन्त्रतानुभूति होने लगती है ॥१३३॥

अन्य दृष्टान्त—जैसे एक श्वेत वस्त्र को किसी रंग में रंग दिया जाय तब उस वस्त्र के आधारभूत सारे तन्तुओं में रंग का विकार फैल जाता है और वे सारे तन्तु ही इकट्ठे होकर वस्त्र के अङ्ग बन जाते हैं, इसलिये सारे वस्त्र में ही वह लेप चढकर वस्त्र को विकृत कर देता है—शुद्ध श्वेत को रंगीन कर देना ही विकार है। इस ही प्रकार बल संसर्ग से आत्मा में विकृति प्रतीति समझनी चाहिये। यह आसक्ति रूप बल से होती है ॥१३४॥

सा[३] चैककर्मात्मनि तत्र शक्तिरुदारवृत्त्यैव हि संनिधत्ते।
उदारशक्त्या तु परः स्वभावादाविश्य विश्वं स बिभर्ति नित्यम् ॥१३५॥
[४]कार्यप्रसूतिः समवायवृत्या द्वैकर्मकत्वे समवायवृत्तिः।
ततोऽक्षरस्यैव तु कारणत्वं परस्य नैतत् समवायिभेदात् ॥१३६॥
[५]आसक्ति-वृत्यैव भवेद् विकारो न त्वक्षरे नापि परे विकारः।
त्रैकर्मिके सत्युपपत्तितोऽयमसङ्ग आत्मा स परोऽक्षरश्च ॥१३७॥

सर्वप्रथम बलविशिष्टरस में शक्ति उदारवृत्ति से सम्बन्ध करती है, इस उदार शक्ति के कारण पर पुरुष—अव्यय पुरुष (तत् सृष्ट्वा तदेव प्राविशत्), इस स्वाभाविक नियम के अनुसार सारे विश्व में चेतना रूपेण अदृश्य भाव में प्रविष्ट होकर विश्व को धारण किये रहता है ॥१३५॥

३. एक शुद्ध कर्म जब शुद्ध रस में संबद्ध होता है—तब अव्यय पुरुष नाम का पर पुरुष कहलाता है यह आगे कहा जायगा। उस अव्यय पुरुष में शक्ति सम्बन्ध उदारवृत्ति से होता है। अव्यय पुरुष और पर पुरुष सारे विश्व को उदारवृत्ति से ही धारण करता है यही श्लोक का तात्पर्य है।

कार्य रूप स्थूल जगत् की उत्पत्ति समवाय वृत्ति से होती है, बल रूप वा शक्ति रूप दो कर्मों के संयोग में समवाय वृत्ति संसर्ग होता है। अव्यय पुरुष संसक्त बल और अक्षर पुरुष संसक्त बल, अक्षर अर्थात् देवता शब्द से कहा जाने वाला जगत्—जब समवेत होता है तो क्षर रूप स्थूल जगत् की उत्पत्ति होती है—अव्यय और अक्षर अव्यक्त हैं—स्थूल भूत क्षर व्यक्त है—इस स्थूल क्षररूप कार्य जगत् के प्रति अक्षर—देवत जगत् की ही कारणता होती है। अव्यय पुरुष में समवाय नहीं होता—अर्थात् अव्यय पुरुष कभी समवायी-

कारण नहीं बनता। अक्षर सर्वत्र समवायी कारण बनता है। (आंख नाक आदि स्थूल आकारों में सूक्ष्मरूपेण विराजमान नित्य सम्बद्ध दैवत शक्ति ही क्रियारत होती है) ।।१३६।।

४. कर्म द्रय विशिष्ट अक्षर पुरुष का ही समवाय वृत्ति संसर्ग होता है। उसके अनन्तर ही स्थूल क्षर रूप जगत् की उत्पत्ति होती है—यह विषय पुरुष प्रकरण में मूल में ही बताया जायगा। पर पुरुष कहे जाने वाले अव्यय पुरुष में समवाय वृत्ति नहीं होती यही यहां कहा गया है।

आसक्ति वृत्ति के कारण ही विकार होता है, यह विकार न तो अक्षर पुरुष में होता है और न ही अव्यय पुरुष में—यह केवल त्रैकर्मिक क्षर पुरुष में ही होता है। अव्यय और अक्षरस्वरूप आत्मा सदा आसक्ति रहित ही रहता है। विकार तथा लेप केवल क्षर पुरुष में होते हैं ।।१३७।।

५. आसक्ति वृत्ति न अव्यय की है और न अक्षर की—वह तो केवल तीन कर्मों के चयन से विशिष्ट क्षर पुरुष की ही होती है यह याद रखना चाहिये।

[1]उदार एवं समवाय एवं व्यासक्तिरेवं त्रिवितिवृत्तितेयम्।
त्रिधापि कर्मात्मनि कर्महेतोः प्रवर्तते शुद्धरसे तु नास्ति ।।१३८।।
[2]स्वरूपसंसर्गि बल प्रवृत्त्यात्मनः स्वरूपेऽस्य तथा स्वभावे।
शक्तौ च वृत्तौ स्वयमेव भेदः प्रवर्तते तेन च वस्तुभेदः ।।१३९।।
[3]कुतः स आत्मा कुत एव शक्तिः कुतश्च संसर्गविशेषसिद्धिः।
कुतश्च सृष्टिक्रम इत्थमेतन्न वेद्मि तद्वेद्मि यथा तदस्ति ।।१४०।।
[4]संसृज्यते वा प्रतिसृज्यते वाऽनुसृज्यते वाप्यमृते स मृत्युः।
सर्गः स मोक्षस्त्वमृताद्विमोको मृत्योः स खण्डस्य न चाखिलस्य ।।१४१।।
[5]मितस्य कस्यापि रसस्य मायाव्यपायतः संभवतीह मुक्तिः।
न तेन सर्वस्य मितस्य मायामुक्तिः प्रकल्प्या प्रतिभावभेदात् ।।१४२।।

उपरोक्त उदार, समवाय एवं आसक्ति रूप तीनों वृत्तिता संसर्ग कर्म सम्बद्ध आत्मा में कर्म रूप मायाबल के कारण प्रवृत्त होते हैं। शुद्ध रस में ये कोई संसर्ग नहीं होते ।।१३८।।

१. तीनों प्रकार के वृत्तिता ससर्ग, आगे कहे जाने वाले अव्यय, अक्षर एवं क्षर पुरुष जो शक्ति समन्वित होते हैं—उनमें ही होते हैं। शुद्ध अमृतमय रस में ये संसर्ग कभी नहीं होते, यह पुनः स्पष्ट कर दिया गया।

अपने निजरूपेण रसरूप आत्मा और बलरूपा शक्ति का एक रूप ही है। उन दोनों में भेद व्यवहार, रस के विभूति, योग एवं बन्ध संसर्ग से और बल के उदार, समवाय और आसक्ति संसर्ग से होता है। इन ६ संसर्गों के कारण ही भोक्ता आत्मा के विभिन्न भेद एवं बलरूपा शक्ति के अनेक भेद हो जाते हैं—आगे उससे हो समस्त पदार्थों में भेद व्यवहार होता है ।।१३९।।

२. रस और बल के एक रूप होने पर भी सम्बन्ध भेद के कारण ही दृश्यमान जगत् के सारे भेद-भाव प्रचलित होते हैं।

विशुद्ध रस का आत्मा स्वरूप कैसे बना ? शक्ति रूप कहां से आया ? इन में ये संसर्ग कैसे बने ? इन सब से यह सृष्टिक्रम कैसे चल पड़ा ? ये सब हम नहीं जानते। चालू सृष्टि में वस्तुस्थिति क्या है यह मात्र जानते हैं ।।१४०।।

३. संसार में ये भेदभाव कैसे उत्पन्न हो जाता है, इसका स्पष्ट निर्वचन नहीं किया जा सकता। रस और बल का यह विषय अनिर्वचनीय कहा जाता है। यह बुद्धिगम्य नहीं है।

अमृत में मृत्यु संश्लिष्ट होता है, मृत्यु विशिष्ट रस से अन्यान्य बलों का प्रतिसर्ग तथा प्रवाह रूप अनुसर्ग चल पड़ता है, यह ही सृष्टि का क्रम है। अमृतभाव से मृत्युभाव का सर्वथा वियोग हो जाना, अर्थात् अमृत में उक्त संसर्गों में से किसी भी संसर्ग से मृत्यु-संसर्ग का न होना मोक्ष कहलाता है। यह मोक्ष खण्डशः कभी किसी का होता है। अखिल ब्रह्माण्ड को सम्पूर्ण मुक्ति नहीं हुआ करती। अर्थात् सत्कर्म जनित आत्मज्ञानोदय से किसी एक का मृत्यु से सर्वथा वियोग सम्भव होने पर भी सारे संसार का मृत्युसंसर्ग नष्ट होजाना कदापि सम्भव नहीं होता। मृत्यु संसर्ग हट जाने पर अमृत की स्वाभाविक स्वतन्त्र रूपता ही मोक्ष है ।।१४१।।

४. संसर्ग और वियोग सर्वत्र बल के ही होते हैं। रस तो सर्वत्र तटस्थ ही रहता है यही बात फिर स्मरण कराई गई है।

मायारूप बल के द्वारा विशिष्ट सीमाबद्ध किसी रसरूप आत्मा को अर्थात् नवद्वार युक्त पुर में शयन करने वाले किसी पुरुष रूप जीवात्मा की माया संसर्ग के सर्वथा वियोग हो जाने से इस संसरण से मुक्ति सम्भव हो सकती है। किन्तु इससे सारे ही माया सीमाबद्ध संसार की मुक्ति कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्येक प्राणी के ज्ञान और तज्जन्या कर्म प्रवृत्ति में भारी भेद रहता है। इस कारण अल्प वा अधिक किसी न किसी प्रकार का संकोच रूप सीमाभाव अर्थात् माया परिच्छेद सर्वत्र रहता ही है। सर्वथा सम्पूर्ण कर्म विपाक किसी एक का ही सम्भव होता है ।।१४२।।

५. बल के द्वारा कल्पित परिच्छेद (सीमाभाव) को त्याग देने पर रस का अपने निःसीम व्यापक भाव में आ जाना अर्थात् अपने निज रूप में संस्थित हो जाना ही मुक्ति कही जाती है। यहां यह प्रश्न उठाया जाता है कि बलकृत सीमाभाव का हट जाना ही जब मुक्ति का कारण होता है तो एक व्यक्ति की मुक्ति में सीमाभाव तो टूट ही गया तो फिर सब की मुक्ति क्यों नहीं हो जाती ? इसका समाधान यह है कि मायाकृत सीमाभाव से रस की स्वाभाविक एकरूपता में अनेकरूपता का भान ही प्रथमतः हो जाता है—इससे ही सारे संसार में भेद प्रतीती होती है। वह भेद तो सदा सर्वत्र रहता ही है—अतः एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति नहीं होती, अन्य संसार चक्र यथावत् प्रवृत्त होता रहता है।

(६) मायाधिकरणम्

(मायानिर्वचन प्रकरण)

[६]अथो रसे तत्र बलस्य सर्गादुदेति योयं विविधो विशेषः ।
कुतः स आयाति वियाति स क्वेत्यजानता सा कथितात्र माया ।।१४३।।
सामान्यमाया महती च मायाऽन्या योगमायेति भवन्ति मायाः ।
तिस्रः प्रसिद्धा अथ योगमायां तां विष्णुमायामिति केचिदाहुः ।।१४४।।
स्व[७]रूपसंसर्गवशाद्रसे स्थितं बलं विशेषद्वयमत्र भावयेत् ।
मात्रां च संस्थां च ततः स मात्रया संसृज्यते तद्वदसौ च सस्थया ।।१४५।।

रस में वहाँ बल के संसर्ग से जो विविध प्रकार का विशेष भाव उदित हो जाता है वह कहां से आता है और अन्त में कहां चला जाता है यह नहीं जाना जा सकता, जो दिखाई पड़े और जाना न जा सके वह ही संसार में माया शब्द से कहा जाता है, कार्य रूप में अचानक दिखाई देती हो और उसका कारण कुछ समझ में न आने पर यह न जाने क्या माया है यही कहा जाता है ।।१४३।।

६. सम्बन्ध विशेष ही माया पद से व्यवहृत होता है इसलिये सम्बन्ध विवेचना के साथ ही माया का विवरण भी आरम्भ किया जाता है । जिसके कार्य कारण का ज्ञान न हो सके वह इन्द्रजाल आदि लोक में माया पद से व्यवहृत होता है । वेद में भी इस ही अर्थ में माया शब्द अनेक जगह व्यवहार में आया है । प्रकृत में भी यह माया बल कहां से आता है ? और कहां विलीन हो जाता है ? माया बल का धर्म, रस से सर्वथा विरुद्ध है यह "एकमेवाऽद्वितीयं" रस से कैसे उत्पन्न हो जाता है इत्यादि विचार की उपपत्ति नहीं की जा सकती, इसी कारण बल ही माया पद से कहा जाता है और इसका सम्बन्ध भी कैसे हो जाता है इसका उपपादन भी नहीं किया जा सकता—इसलिये बल और बल का सम्बन्ध दोनों ही माया पद से कहे जाते हैं । अग्रिम पद्य से माया के भेद कहे गये हैं ।

सामान्य माया, महामाया और योगमाया ये तीन माया प्रसिद्ध हैं, इनमें से कुछ लोगों ने योगमाया को विष्णु माया नाम से कहा है ।।१४४।।

स्वरूप संसर्ग अर्थात् विभूति संसर्गवश रस में सम्बद्ध बल दो विशेषता उत्पन्न करता है । वे दो रूप हैं मात्रा और संस्था, सीमित भाव को मात्रा कहते हैं, और सीमा में घिरे हुये रस भाव को संस्था । मात्रा से और संस्था भाव से अग्रिम सृष्टि चल पड़ती है ।।१४५।।

७. माया शब्द का व्याकरण से सिद्ध अर्थ बताया गया है यह मा धातु परिमाण में—परिच्छेद में अर्थात् सीमा अर्थ में आता है । बल अपने आप में सीमित होता है वह अपने सम्बन्ध से निःसीम रस में भी सीमा का भास करा देता है । यह भास जल में तरङ्ग के समान भासित होता है यह पहले कहा जा चुका है । रस में जो सीमा का भास होता है, वह मात्रा पद से कहा जाता है । वैसी सीमित मात्रा के द्वारा रस का जो सीमित रूप दिखाया जाता है वह रूप

संस्था कहलाता है । इस प्रकार इस मात्रा भाव को और इस संस्था भाव को बल व बल का सम्बन्ध उद्भावित करता है । इसलिये सीमा का साधन होने के कारण वो दोनों माया पद से व्यवहृत होते हैं । माया शब्द में या शब्द प्रत्यय बन कर आया है वह साधनार्थक जानना चाहिये । इस प्रकार सीमा भाव के साधन रूप बल में तथा बल संसर्ग में माया शब्द सबसे पहले प्रवृत्त हुआ, यह सीमा भाव वास्तव में रस में नहीं होता न होते हुये भी सीमा की प्रतीति मात्र होती है । दूसरे के धर्म की दूसरे में कैसे प्रतीति होने लगती है इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता । सीमाकरण में तथा सीमासाधन में जो माया शब्द का सामान्य व्यवहार होता है—इस कारण ही वस्तु सत्ता रहित इन्द्रजाल आदि प्रतीत होते हैं । जिसकी उपपत्ति (कार्य-कारण ज्ञान) न जानी जा सके, वहां सर्वत्र ही माया शब्द की प्रवृत्ति होती है—यह तात्पर्य है । सीमा रूप मिति ही मात्रा शब्द से कही जाती है और मात्रा से बद्ध पदार्थ संस्था शब्द से लोक व्यवहार में आता है । ये मात्रा और संस्था बल के द्वारा रस में उद्भावित होती हैं । रस भी मात्रा और संस्था से जुड़े हुए के समान भासित होने लगता है ।

[1]छन्दः स्वरूपं द्विविदं तदुक्तं या तत्र मात्रास्त्यथ यात्र संस्था ।
दिग्देशकालैः प्रमितिस्तु मात्रा छन्दो मितं तत्कृतवृत्तमाहुः ।।१४६।।

जात्या[2]कृतिव्यक्तिकृतिस्तु वर्णच्छन्दः कृतं तेन तु वर्णवृत्तम् ।
मात्राकृतं वर्णकृतं स्वरूपं यस्योच्यतेऽसौ पुरुषः प्रदृष्टः ।।१४७।।

औ[3]पाधिकस्तस्य मतः स मात्रासंसर्ग एतेन रसस्य खण्डः ।
न वस्तुगत्या परिकल्पनीयो घटस्थिताकाशवदर्थबाधात् ।।१४८।।

मात्रा और संस्था का वैदिक व्यवहार छन्द शब्द से होता है—यह छन्द ही वहां दो प्रकार का माना गया है, एक मात्रा स्वरूप, दूसरा संस्था रूप । दिशा, देश तथा काल के द्वारा जो सीमाकरण होता है—वह मात्रा छन्द कहा जाता है । उस छन्द के द्वारा जिस पदार्थ अथवा वर्णों का मितीकरण होता है उसको वृत्त वा संस्था कहते हैं ।।१४६।।

१. वेद की परिभाषा में ये मात्रा और संस्था, छन्द शब्द से कहे गए है । यजुर्वेद के 'माच्छन्दः, प्रमाच्छन्द' इत्यादि मन्त्र में इसका स्पष्ट संकेत किया गया है । ग्रन्थकार ने छन्द समीक्षा नामक ग्रन्थ में विस्तार से इस विषय का निरूपण किया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में तो "गायत्र्या ब्राह्मण निरवर्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यम्" अर्थात् गायत्री छन्द से ब्राह्मण का निर्माण किया गया, त्रिष्टुप् छन्द से क्षत्रिय का—इत्यादि विवेचन के द्वारा सारे वर्णों की उत्पत्ति छन्दों से ही मानी गई है—यह विवरण ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकत्र आया है और सब ही ब्राह्मण ग्रन्थों में जो गायत्री के द्वारा सोम हरण का कथानक आया है—वह सब भी छन्द की वास्तविक समीक्षा करने पर ही अच्छी तरह से जाना जा सकता है—इसका निरूपण ग्रन्थकर्त्ता ने स्थान-स्थान पर किया है । उसका ही संकेत यहां भी किया जा रहा है । साहित्य के छन्दशास्त्र में भी अक्षर रूप वर्णों का नियमन तथा मात्राओं का नियमन छन्द कहलाता है । वह भी सीमाकरण ही होता है । उस छन्द से बंधी हुई वाणी को वृत्त पद से कहा जाता है—इस वृत्त को ही संस्था कहते हैं ।

सृष्टि विज्ञान के विचार में भी वैसे ही माया द्वारा सीमाकरण में जाति, आकृति तथा व्यक्तियों की जो उत्पत्ति होती है—वह सीमाकरण वर्ण (ब्राह्मणादि) छन्द तथा मात्रा छन्द द्वारा ही होता है। उसके द्वारा ही वर्ण व्यवस्था रूप वृत्त अर्थात् संस्था बनती है। मात्रा छन्द से ही प्रत्येक वर्ण का स्वरूप बनता है। यह वर्ण स्वरूप जिसका होता है, उसको शास्त्रों में पुरुष कहा गया है ॥१४७॥

२. साहित्य के छन्दों द्वारा वर्ण नियमन के समान ही विज्ञान के प्रकरण में माया द्वारा निःसीम रस के सीमाभाव से जाति-आकार तथा व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है। वह सीमाभाव ही वर्ण छन्द तथा मात्रा छन्द से होता है। उस सीमाकरण से जो पुरुष का स्वरूप माया द्वारा सम्पादित होता है—उसे माया सीमित पुरुष समझना चाहिये। निःसीम के सीमाकरण से ही पुरुष का प्रादुर्भाव होता है।

रस रूप अमृतमय ब्रह्म का वास्तव में सीमाभाव नहीं होता, यह सीमित भाव केवल विशेष परिचय के लिये औपाधिक ही माना जाता है। अतः यह मात्रासंसर्ग वहां परिचायक मात्र है। रस का विभेद रूप खण्डभाव वास्तविक नहीं होता, रस में खण्ड होने की कल्पना कभी नहीं करनी चाहिये। मात्रासंसर्ग द्वारा खण्डभाव का भास मात्र वैसे ही होता है जैसे व्यापक आकाश का घट स्थित आकाश में होता है, वहां घट की परिधि के टूट जाने पर जैसे वह व्यापक आकाशभाव में ही आ जाता है—वैसे ही मायाबल की उपाधि हट जाने पर खण्डभाव का भास भी समाप्त हो जाता है। वास्तविक खण्ड मानने पर तो, अर्थ का बाध हो जाता है, अर्थात् रस के स्वाभाविक नित्य भाव में अनित्यता आ जाती है। अतः यह औपाधिक मात्र ही माना जाता है ॥१४८॥

३. वास्तव में रस रूप ब्रह्म का परिच्छेद (सीमाकरण) कभी नहीं होता। ब्रह्म का परिच्छेद मान लेने पर तो, रस में अनित्यता का प्रसङ्ग आ पड़ता है—वह ब्रह्म का अर्थबाध हो जायगा। रस रूप मूल तत्व की नाश रूप मृत्यु हो जाने पर तो पुनः जगत् की उत्पत्ति ही असम्भव हो जाती है, अर्थात् सर्वार्थ विनाश ही होने का प्रसङ्ग आ जाता है। अतः रस की खण्ड रूपता की कल्पना घटस्थित आकाश की खण्डता के समान ही कल्पित होती है। मायाबल जनित मात्रा संसर्ग से खण्ड भाव का भास मात्र होता है।

> [1]अणूनि रूपाणि बृहन्ति नानाविधानि मृत्योः स्वयमुद्भवन्ति।
> तत्सर्गरूपावरणेन पूर्णाखण्डामृतं खण्डवदेव भाति ॥१४९॥
>
> त[1]स्यामितस्यापि मितिः कृतेयं माया समायाति वियाति चेयम्।
> मितिस्तु माया मित एव मायीश्वरोस्य मायामयमेव राष्ट्रम् ॥१५०॥
>
> रसे[2] बलस्याथ भवन्ति संस्थाः संसर्गभेदास्त्रिविधाः प्रसिद्धाः।
> बन्धश्च योगश्च विभूतिरेता रसे भवन्ति त्रिविधा हि संस्थाः ॥१५१॥
>
> बन्धक्रमेण प्रभवेदियं वाक् प्राणस्तु योगक्रमजो निरुक्तः।
> मनो विभूतिक्रमतः प्रवृत्तं संसर्गभेदात् त्रय आत्मसर्गाः ॥१५२॥

अमृत-मृत्यु के संसर्ग में मृत्यु के अति सूक्ष्म तथा बहुत बड़े अनेक प्रकार के रूप स्वत: उत्पन्न होते रहते हैं और उन अन्यान्य बलों के सर्गानुक्रम से आवृत हो जाने के कारण पूर्ण एवं अखण्डरूप अमृतमय रस खण्डों में विभक्त सा प्रतीत होने लगता है ।।१४९।।

४. यद्यपि मृत्यु नाम से कहे जाने वाला बल अत्यन्त अणु प्रदेश को घेरा करता है तथापि सन्तान रूप अनेक बलों के समन्वय से तथा प्रवाह रूप से वह बल कहीं अल्परूप में और कहीं बृहद् रूप में मशक-गजादि वत् प्रकट होता रहता है। इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन आगे किया जायगा। उस बल के अणुभाव तथा महत्ता के कारण ही रस की भी अणुता-महत्ता प्रतीत होने लगती है। यह आशय है।

उस नि:सीम रस को सीमित करने वाली यह माया आती-जाती रहती है। सीमा में लाना माया का काम है। जिसको सीमाभाव में लिया जाता है—वह मायी इस माया का ईश्वर अर्थात् स्वामी होता है। सारा राष्ट्र मायामय हो रहा करता है। अर्थात् इस मायापति ईश्वर का ही स्वरूप सम्पूर्णराष्ट्र बना हुआ है ।।१५०।।

१. माया आती है और चली जाती है, इस कथन से खण्ड भाव में माया की अनित्यता कही गई है, किन्तु एक बल पर अन्य बल फिर उस पर भी अन्यान्य बल इस प्रवाह क्रम में माया का रूप नित्य ही होता है। इस माया से परिच्छिन्न ही ईश्वर सर्वत्र विराजमान रहता है, यह ही भावार्थ है।

रस में बल के बन्ध, योग और विभूति संसर्गों से, रस में भी तीन संस्था बन जाती हैं ।।१५१।।

२. उनका क्रम यह है—विभूति संसर्ग से रस की मन रूप संस्था, योग संसर्ग से प्राण रूपता और बन्ध संसर्ग से वाक् रूपता। ये तीनों आत्मा की संस्था कही जाती हैं। इन तीन रूपों में आत्मा के जन्य भाव की कल्पना से, व्यावहारिक आत्मा के यह तीन रूप लोक व्यवहार में आया करते हैं। वेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में आत्मा के विवेचन प्रसङ्ग में "यह आत्मा मनोमय है, प्राणमय है और वाणीमय है इत्यादि क्रम से तथा व्युत्क्रम से भी शतश: वर्णित हुआ है। सांसारिक व्यवहार में—ज्ञान, क्रिया और पदार्थ नाम की तीन वस्तु उपलब्ध होती हैं, उनमें सम्पूर्ण ज्ञान का आयतन मन है, क्रिया का प्राण तथा सारे पदार्थों का आयतन वाक् होती है। हम सब शरीरधारी जन अपने शरीर में जिन मन, प्राण और वाक् रूप पदार्थों से परिचित रहते हैं, उन सबकी मूलकारण भूत अव्यय पुरुष की कला रूप मन, प्राण और वाक् होती है, यह विषय आगे विभिन्न प्रकरणों में व्याख्यात होगा। वाक् शब्द मूलत: अवाक् शब्द से बनता है, अकार का लोप हो जाता है। मन और प्राण की अपेक्षा यह वाणी अवाक् अर्थात् निम्न कोटि की होती है यह तात्पर्य है। अव्यय पुरुष की इस वाक् रूप कला के आधार से ही क्षर पुरुष का विकास होता है—इसलिए प्राणी मात्र की जननी यह वाक् ही मानी गई है। सांख्य शास्त्र के विद्वानों ने भी पंच महाभूतों की उत्पत्ति प्रसङ्ग में सबसे पहले शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति ही बताई है, अत: शब्द रूपिणी वाणी की भी सब भूतों की मूल रूपता में व्याख्या की जा सकती है। संसर्ग प्रकरण में कही गई प्रक्रिया के अनुसार इन सब में विभूति सम्बन्ध से मन की स्थिति

रहने से रस की प्रधानता रहती है। योग सम्बन्ध से प्राण की स्थिति होने से प्राण में रस और बल की समान रूपेण प्रधानता रहती है। बन्ध सम्बन्ध से स्थूल भाव में वाक् की प्रधानता होती है। इस वाक् की प्रधानता में रस का आवरण हो जाता है, बल को ही प्रधानता प्राप्त हो जाती है, यह संक्षेप में विवरण किया गया है।

बन्ध संसर्ग से वाक् का सृष्टि क्रम चलता है, योग संसर्ग से प्राण का सर्ग क्रम बताया गया है, मन सर्वत्र विभूति क्रम से प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सम्बन्धों के भेद से ये तीनों आत्मा के सर्ग कहे जाते हैं। इस प्रकार तीन रूप में आत्म सृष्टि का निर्वचन हुआ है ॥१५२॥

[3]संसृज्य तस्मिन् प्रतिसृज्य भूयो यत्रैष नानात्वमुपैति मृत्युः।
तत्राभ्वमायाति वियाति तस्मात् तदभ्वमस्मिन्महती हि माया ॥१५३॥
य[4]दद्भुतं यत्वसदेव दारुणं यतः पृथग्भावमिवात्मनोऽर्थ्यते।
आशङ्कते चात्मनि विक्रियां यतो लोके तदभ्वं तदु यक्ष उच्यते ॥१५४॥
अत्यद्भुतं चासदिदं भयावहं ततः पृथक्त्वं पुनरिष्टमात्मनः।
विभाव्यते ब्रह्मणि विक्रिया ततस्तद्ब्रह्मणोऽभ्वत्रितयं प्रकल्पते ॥१५५॥

रस रूप आत्मा में साक्षात् तथा परम्परा से बार-बार सम्बद्ध होकर मृत्यु नाम का बल नानाभाव में परिवर्तित होता है। आत्मा की संस्था को आभव कहते हैं। आभु का अर्थ विभू (व्यापक) होता है। आभु में उत्पन्न होने वाले को अभ्व कहते हैं। आभव संस्था में अभ्व अर्थात् बल का आवागमन होता रहता है—उसमें सतत परिवर्तन होता है। इस अभ्व को महामाया भी कहा जाता है ॥१५३॥

३. बन्ध, योग और विभूति क्रम से वाक् प्राण और मन रूप तीन आत्म संस्था जो ऊपर कही गई हैं। इन आत्म संस्थाओं को वैदिक परिभाषा में आभव कहते हैं। आभु शब्द विभु का पर्याय-वाची है। बल ही परम्पराक्रम से चयन-चिति-चिनाई के रूप से बार-बार संसर्ग पाकर बल प्रधान संस्थाओं की सृष्टि करता है। उनको क्रमशः रूप, नाम और कर्म कहा जाता है। यह विवरण १५६ वें पद्य से आरम्भ कर व्याख्यात होगा। ये रूप आदि ही अभ्व तथा यक्ष नाम से वेद में परिभाषित होते हैं। ये ही महामाया का स्वरूप है। आभौ भवम्, अभ्वम्—यह अभ्व शब्द की व्युत्पत्ति है। वैदिक प्रक्रिया से आभु के आ को ह्रस्व अ हो जाता है। इन तीनों रूप, नाम कर्मों के लिये ही आयाति वियाति कहा गया है, अर्थात् ये बार-बार परिवर्त्तित होते रहते हैं। इसका संसार में स्पष्ट अनुभव होता है।

अभ्व तथा यक्ष का अर्थ—जो अद्भुत है, अनित्य है तथा दारुण है, क्योंकि यह आत्मा से अपने को पृथक् रूप में देखना चाहता है। संसार में इससे ही आत्मा में विकार की आशंका होती है। इसको अभ्व तथा यक्ष कहा जाता है ॥१५४॥

४. अभ्व और यक्ष शब्द की अर्थ रूप उपपत्ति बताई जा रही है। अद्भुत और दारुण अर्थ है—अभ्व और यक्ष का। अपूर्व अर्थात् बिलकुल नवीन के समान भासित होता है और यह कहां से

आ जाता है इसका ज्ञान नहीं हो पाता—इसलिये यह अद्‌भुत कहा जाता है, अर्थात् रूप, नाम और कर्म ये तीनों अद्‌भुत पद वाच्य होते हैं और आत्मा में विकार पैदा करते हैं—अतः दारुण कहे जाते हैं। यह ही कारण है कि अध्यात्म मार्ग के पथिक जो मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करते हैं, वे अभ्व और यक्ष से दूर रहना चाहते हैं।

यह बल ही, अभ्व यक्षात्म रूप से अत्यन्त अद्‌भुत है, ये यद्यपि अनित्य है तथापि बड़ा भयावह है। ये सत्य है कि यह आत्मचैतन्य के सहारे ही रहता है तो भी आत्मा का इससे पृथक् भाव ही इष्टतम माना जाता है—क्योंकि नित्य अमृतमय ब्रह्म में इससे विक्रिया उत्पन्न हो जाती है (भासित होने लगती है)। अद्‌भुत बात यह और है कि ब्रह्म से ही इस अभ्व-त्रितय (रूप।नाम-कर्म) की प्रकल्पना होती है। बल के द्वारा यह ही ब्रह्म में विक्रिया मानी जाती है ॥१५५॥

[1]रूपं च तत्कर्म च नाम चेति प्रजायते ब्रह्मणि कमबन्धात्।
त्रयं तदभ्वं तदु यक्षमुक्तं पुनः पुनस्तन्म्रियतेऽमृतस्थम् ॥१५६॥
न [2]सर्वथादो म्रियतेऽमृते स्थितं ततोऽमृतो मृत्युरथामृतं पुनः।
यदावृतं नित्यमनेन मृत्युना रसः स तस्माद्‌बहुरूपकर्मवान् ॥१५७॥

नाना कर्मों के बन्ध से ही रूप, नाम और कर्म उत्पन्न होते हैं। आधार सबका ब्रह्म होता है। ये रूपादि तीनों अभ्व वा यक्ष नाम से कहे गए हैं। अमृतमय ब्रह्म के निश्चित आधार को पाकर ये बार-बार उत्पन्न होकर मरते रहते हैं ॥१५६॥

१. ये नाम, रूप और कर्म, कर्मों के परस्पर बंध जाने से उत्पन्न हुए हैं, किन्तु इन तीनों का भी आश्रयभूत ब्रह्म ही है। क्योंकि केवल कर्म निराधार कहीं रह नहीं सकता। वेदान्त ग्रन्थों में माया का विचार करते हुए कहा है 'आश्रयत्व विषयत्व भागिनी निर्विशेष चितिरेव केवला' अर्थात् केवल ज्ञान रूपा चेतना निर्विशेष भाव में रहती हुई भी, सारे संसार का आधार बनती हुई विषयता को प्राप्त कर रही है। यहां कर्म पद से घट-पट आदि विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति रूप कर्ममात्र से तात्पर्य न होकर उन वस्तुओं की निज क्रिया रूप कर्म से है जैसे जल आदि का आहरण घट का कर्म, अङ्ग को ढकना पट का कर्म आदि। यह उन वस्तुओं की विशेष क्रिया भी जो स्थान-स्थान पर दृश्यमान होती है—वह भी उस प्रधान बल नाम से कहे जाने वाले कर्म से ही उत्पन्न होती है।

यह रूप, नाम, कर्मात्मक मृत्यु रूप अभ्व भी सर्वथा मृत कभी नहीं होता, क्योंकि यह अमृत के आधार पर स्थित रहता है—अतः मृत्यु भी अमृत भाव से ही रहता है। यह कहा जा सकता है कि मृत्यु द्वारा घेरा हुआ यह अमृतमय ब्रह्म ही बहुरूप और बहुकर्मक हो रहा है ॥१५७॥

२. ये नाम रूप आदि यद्यपि प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने से मरण स्वभाव वाले हैं, तथापि अमृत का आधार पाकर स्थिति पारहे हैं— इस कारण इनका सर्वथा नाश या अभाव रूप मरण कभी नहीं होता। इनका परिवर्तन मात्र अनुभव में आता है— सर्वथा विनाश नहीं। किसी न किसी रूप की, किसी न किसी नाम की तथा किसी न किसी कर्म की उपलब्धि सर्वदा होती है।

जैसे किसी पुराने वस्त्र के छिन्न-भिन्न हो जाने पर —उस वस्त्र को जिस नाम से तथा जिस रूप में देखा जाता था वह नहीं रहा, किन्तु तन्तु यह नाम और छोटा सा रूप तो उसका है ही। पूरे कपड़े के रूप में पहले की तरह वह अङ्ग को आवृत नहीं कर पाता, किन्तु एक अंगुली का आवरण तो वह करता ही है। वस्त्र के ये तन्तु भी यदि जला दिये जांय तो उसका भस्म नाम हो जायगा—और उड-उड कर मलिन करना यह कर्म भी रहेगा ही। इस एक उदाहरण द्वारा सर्वत्र ही वह विचार किया जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि अमृत का आधार पाये हुए ये नाम, रूप, कर्म, स्वभावत: मृत्यु रूप होते हुए भी अमृत ही हो रहे हैं, यह बात अनुभव सिद्ध है। यह अवश्य स्मरण रहे कि इन नाम, रूप आदि के द्वारा मूल तत्व रूप अमृतमय रस आवृत अवश्य हो जाता है। उदाहरणत: – मृत्तिका में से ही कपास आदि के क्रम से रुई, तन्तु, वस्त्र आदि उत्पन्न होते हैं, किन्तु वस्त्र तथा तन्तुओं को देखकर लोक व्यवहार में कोई भी मिट्टी की कल्पना नहीं करता। किन्तु तात्विक विचारशील जन तो यह मानते ही हैं कि मृत्तिका में से ही यह सब उद्भूत हुआ है। इस विचार परम्परा से सोचते हुए यदि तत्वान्वेषण में प्रवृत्त हुआ जाय तो ज्ञात होगा कि मृत्तिका भी जल का परिणाम है—जल भी अग्नि का परिणाम है और अग्नि भी वायु का, इस क्रम से अन्त में सब रस पर ही अवलम्बित होंगे। अत: मानना होगा कि सर्वत्र रस ही, नाम, रूप और कर्मों के द्वारा नानारूपेण भासित हो रहा है। सम्पूर्ण परिवर्तनों का अन्तिम मूलाधार एक ही होता है। सूक्ष्म विचार करने पर इस ही निर्णयात्मक स्थिति पर पहुँचना होगा।

स्वरूपसंसर्गि बलं तु भावो वृत्तित्व-संसर्गि बलं च कर्म।
[3]भाव: स यन्नाम यदस्य रूपं मात्रा च संस्थेत्युभयं हि रूपम् ।।१५८।।

घटत्वमाद्यं न तत: पृथक् स्याद् घटस्य कर्मेत्यखिलेषु विद्यात्।
[4]घटस्य यन्नाम घटस्य मात्रा संस्थेति रूपं च घटस्य भाव: ।।१५९।।

[1]ज्योतिर्निबद्धं बलमस्ति रूपं प्राणेन संबद्धबलं तु कर्म।
स्यान्नाम सम्बद्धबलं तु वाचा मायाबलानि त्रिविधानि तानि ।।१६०।।

स्वरूपसंसर्गयुक्त बल को भाव कहते हैं। वृत्तितासंसर्गयुक्त बल को कर्म कहते हैं। नाम और रूप दोनों भावरूप होते हैं। मात्रा और संस्था दोनों रूप से गृहीत होती हैं, अर्थात् सीमा और सीमित दोनों रूपान्तर्गभित होते हैं ।।१५८।।

३. नाम, रूप और कर्म इन तीनों में से नाम और रूप वस्तु के भाव हैं, ये दोनों वस्तु के स्वरूप में अनुप्रविष्ट हैं—ये प्रतीति लोक में सबको होती है। कर्म प्रत्येक पदार्थ की अपनी निजी क्रिया है—जो प्रातिस्विक क्रिया होती है वह वस्तु में आकर रहती है, यह भी परिचय होता है। अत: नाम-रूप वस्तु में स्वरूप संसर्ग से रहते हैं—इस ही लिये स्वरूप सत्तान्तर्गभित होने से भाव कहे जाते हैं। कर्म वस्तु में वृत्तिता संसर्ग से रहता है—यह स्पष्ट है। नाम और रूप में रूप पद से केवल सफेद काला आदि रंग ही नहीं समझना चाहिये अपितु मात्रा—अर्थात् परिच्छेद या सीमा और संस्था अर्थात् परिच्छिन्न या सीमित पदार्थ, ये दोनों रूप पद से गृहीत होते हैं।

घट में घटत्व भाव रूप से स्वरूप निविष्ट है—वह घट से पृथक् कभी नहीं है। नाम-रूप और कर्म ये तीनों सम्पूर्ण घड़ों में है। घट का घट ये नाम घट की मात्रा है—सीमा है अर्थात् अन्य पदार्थों से घट को पृथक् कर रहा है। घट का जो रूप है, उसमें मात्रा और संस्था दोनों सम्मिलित हैं—यह ही घट का भाव है—जिसे घटत्व कहते हैं ।।१५९।।

४. नाम-रूप घट के भाव हैं—यह पूर्व पद्य में कहा जा चुका है। घट के भाव को ही घटत्व कहा जाता है, फलतः नाम-रूप और रूप पद से कही जाने वाली मात्रा और संस्था ये ही सब घटत्व है। घट भाव में ये सब गृहीत हो जाते हैं। फिर जो नैयायिकों की यह मान्यता है कि घटत्व, घट से पृथक् एक जाति विशेष है। शिक्षा सौकर्य के लिये यदि यह मान्यता हो तो भले ही रहे, किन्तु वस्तु तत्व परिशीलन में तो, नाम-रूप से अतिरिक्त घटत्व अन्य कुछ भी नहीं है, यही यहाँ समझाया गया है। यह ही कारण है कि अन्य दर्शनों में कहीं भी अतिरिक्त जातिवाद को स्वीकार नहीं किया जाता। प्रत्येक के नाम और रूप में भेद होना है, तब भी सब घड़ों को देखकर यह घट है, यह भी घट है, यह प्रतीति बिना जातिवाद के स्वीकार किये कैसे हो सकेगी ? यह शङ्का अति स्थूल ही है—क्योंकि व्यक्ति भाव में भेद रहने पर भी उन सबमें पूर्वानुभूता घट बुद्धि समान रूप से ही उदित है, अतः तात्कालिक अन्य बुद्धि की अपेक्षा न करके पूर्वानुगता बुद्धि द्वारा ही प्रतीति हो जाती है। महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र में यह ही कहा है "सामान्य और विशेष अनुभूति में पूर्वानुगता बुद्धि ही कारण है" अर्थात् सामान्य रूप जाति और विशेष रूप व्यक्तित्व, ये केवल ज्ञानगम्य हैं - इतर सत्ता वाले नहीं। कोई तत्व अनुगत सब में हो रहा हो—तब ही अनुगता बुद्धि उदित हो सकती है—अनुगत तत्व के अभाव मे वह कैसे उदित होवेगी ? इसका समाधान तो सर्वत्र रस और बल की अनुगति जानकर ही कर लेना चाहिये। ये दोनों तो सम्पूर्ण पदार्थों में ही अनुगत हो रहे हैं, फिर तो अन्य पदार्थों में भी घट का भाव होने लगेगा ? सर्वत्र वैसा भान इसलिये नहीं होता कि—बल के परिणाम भूत जो नाम-रूप जहां जैसे प्रतिष्ठित होते हैं—वैसी ही विभिन्न प्रतीति होती है। इस संक्षिप्त टिप्पणी में इतना ही कहना उचित है। सम्पूर्ण घटों में अथवा घट के उदाहरण से सारे पदार्थों में, नाम, रूप और कर्म ये तीनों सर्वत्र अनुगत हो रहे हैं, यह जान लेना चाहिये। यह पद्य का तात्पर्य है।

ज्योति स्वरूप मन में सम्बद्ध-बल रूपात्मक होता है, प्राण से सम्बद्ध बल कर्मरूप होता है और वाक् से सम्बद्ध बल से नामकरण होता है। ये तीनों प्रकार के बल, माया बल हैं ।।१६०।।

१. मन, प्राण और वाक् ये तीनों संस्था जो पहले आत्मा की संस्था कही गई हैं। इनके ही अन्य रूप क्रमशः, ज्योति, विधृति तथा प्रतिष्ठा होते हैं। यह व्याख्या मूल में ही अन्य प्रकरण में विस्तार से की जायगी। इन नाम-रूपादि का उन आत्म संस्थाओं से क्रमशः सम्बन्ध रहता है, इसका यहां संकेतमात्र किया गया है। रूप का ज्योति से अर्थात् मन से, कर्म का प्राण से और नाम का वाणी से सम्बन्ध है।

[१]तद्ब्रह्मणोऽम्वं परपूरुषे च प्रवाह नित्यं ध्रियतेऽक्षरे वा ।
क्षरे त्वनित्यं भवतीह भावः स्यादप्यभावो रसविप्रकर्षात् ।।१६१।।

[३]पूर्वासतोऽपि प्रभवस्थया यः प्रतिष्ठयाऽम्व त्रितयस्य योगः ।
स एष भावोऽथ तया वियोगो भवेदभावोऽप्युभयः स मर्त्यः ।।१६२।।

[१]तदेव भावेषु यदस्ति नानाविधत्वमुक्तः स विशेष एव ।
तत्रैकभावेऽपि भवन्त्यनन्ता इमे विशेषा इति भावसिद्धिः ।।१६३।।

[२]सा योगमाया ऽन्वितयोस्तु कर्मणोः पूर्वे प्रतिष्ठे उभये निजाम्वतः ।
यदि च्यवेते अथ चेन्नवा भवत्येका प्रतिष्ठेह नवाम्वगामिनी ।।१६४।।

नाम, रूप आदि तीनों अभ्वों का ब्रह्म से जो प्रथम सम्बन्ध होता है—वह प्रवाह रूपेण नित्य होता है । यह नित्यता परपुरुष पद से कहे जाने वाले अव्यय पुरुष में और अक्षर पुरुष में ही होती है । क्षर पुरुष में यह अभ्व त्रितय अनित्य ही होता है । जहां रस संनिकर्ष रहता है—वहां सत्तारूप भाव कहा जाता है और जहां रस की विप्रकर्षता अर्थात् दूरी हो जाती है—वहां क्षर में अभाव मान लिया जाता है ॥१६१॥

२. आगे कहे जाने वाले तीन पुरुषों में, परपुरुष अर्थात् अव्यय पुरुष में और अक्षर में ये तीनों अम्व प्रवाह नित्य होते हैं । अर्थात् इनका सर्वथा उच्छेद कभी नहीं होता । क्षर पुरुष में अभ्व की स्थिति अनित्य है । जहां रस की प्रतीति होती है वहां इनकी भावरूप सत्ता मानी जाती है, और जहाँ रस के दूर हो जाने पर प्रतीति नहीं होती—वहाँ अभाव-नाश वा मृत्यु होना कह दिया जाता है । जैसे सरोवर में जल सूख जाता है—वहाँ वास्तविकता यह होती है कि भाप बनकर उड़ता हुआ आकाश में हमारी नेत्र परिधि से वह बहुत दूर चला जाता है—अतः नाम-रूप आदि के आधारभूत रस की हमारी अपेक्षा से दूर हो जाने से जल का अभाव हो गया—यह लोक व्यवहार होता है । इस दूर भाव को ही अभाव नाम दिया जाता है । नैयायिकों की तरह अभाव नाम का अन्य कोई विलक्षण पदार्थ वैदिक विज्ञान में नहीं माना जाता । दर्शन ग्रन्थों में भी कहा गया है कि "भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्" अर्थात् अभाव नाम का अन्य पदार्थ कोई नहीं है—अन्य भाव को ही पूर्वाभाव कहा जाता है । नैयायिकों की प्रक्रिया तो केवल बालकों के बोध सुकरता के लिये उपयोग में ली जाती है । इस ही प्रकार जैन मतावलम्बी संसार स्थिति को अनैकान्तिक कहते हैं, उनकी मान्यता है कि अपने देश, अपने काल और अपने स्वभाव की अपेक्षा सब वस्तु सत् है, वह ही दूसरे देश, दूसरे काल और दूसरे रूप आदि की अपेक्षा असत् होती है । अतः भाव-अभाव रूपता से सब अनैकान्तिक हैं । वे लोग सत् और असत् के विस्तार से सप्त भङ्गों की कल्पना भी करते हैं—वह सब भी स्थूल विचार चेष्टा मात्र है । वेद विज्ञान उनमें आस्था नहीं कर सकता । उपरोक्त वैदिक प्रक्रिया के अनुसार एक ही वस्तु का विभिन्न देश काल आदि से सम्बन्ध होता है । अतः परक्षेत्र तथा परकाल आदि की कल्पना स्थूल विचार मात्र ही है । इस संक्षिप्त टिप्पणी में अधिक विस्तार उचित नहीं है । वैदिक मार्ग का व्याख्यान ही यहां करना है ।

लौकिक पदार्थों में उत्पत्ति काल में जिन नाम रूपादि अभ्व त्रितय का योग पहले नहीं था—वह सर्वकारणभूता वाक् रूपिणी प्रतिष्ठा के द्वारा नवीन रूप में होता है। इस अभ्व के योग से ही पदार्थ की भावात्मक सत्ता होती है। इस वाक् प्रतिष्ठा के वियोग हो जाने पर वस्तु का अभाव हो जाता है। ये भाव तथा अभाव दोनों ही मर्त्य, अर्थात् मृत्यु सम्बद्ध परिगणित होते हैं ॥१६२॥

२. लोक व्यवहार में तो अभ्व पद से कहे जाने वाले अपूर्व नाम, रूप, कर्मों से यौग होने को ही भाव कहा जाता है। इन अपूर्व नाम, रूप, कर्म से सम्बन्ध होने पर ही घट उत्पन्न हो गया, इत्यादि व्यवहार होता है और इनसे वियोग हो जाने पर घट नष्ट हो गया, इत्यादि व्यवहार होता है। पद्य में जो प्रतिष्ठा कही गई है, वह सब पदार्थों की मूलभूत, प्राणिमात्र की अथवा पंच-महाभूतों की जननी वाक् का ही रूप है यह पहले कहा जा चुका है। अन्य प्रकरण में इसकी व्याख्या आगे मूल में ही की जायगी। ये प्रतिष्ठा, प्रभव में अर्थात् कारण में स्थित रहती हुई ही कार्य द्वारा ग्रहण करली जाती है। इस प्रकार सत्कार्यवाद अर्थात् सत् से ही सत् की उत्पत्ति और कार्य कारण की अनन्यता का संकेत यहाँ किया गया है, यह यहां द्रष्टव्य है। जिसका आगे विस्तार किया जायगा।

लौकिक भावों में अर्थात् पदार्थों में जो नाना प्रकार के भेद दृश्यमान होते हैं—वे सब नामरूपादि की विशेषता से हो होते हैं। इसको ही विशेष कहा जाता है। वहां एक भाव में भो ये असंख्य विशेष होते हैं तब एक पूर्ण भाव सिद्ध होता है ॥१६३॥

१. नाम, रूप तथा कर्म से ही पदार्थों में भिन्नता होती है। रस जो सत्ता, आनन्द, चेतनारूप है, वह सर्वत्र एक भाव में ही स्थित रहता है। विशेष, भिन्नता का ही नाम है। भेद का प्रयोजक विशेष एक अन्य पदार्थ है, यह कहना तो कल्पना मात्र है। एक ही रस में ऐसे अनन्त विशेष भासित होते हैं। इन सबका आधारभूत महासामान्य रूप अर्थात् सर्वत्र रहने वाला रस तो एक ही सिद्ध होता है।

रस संवलित दो कर्मों के योग में यदि दोनों कर्म अर्थात् बल, अपने नाम, रूप, कर्म स्वरूप अभ्व से च्युत हो जाते हैं और एक नयी प्रतिष्ठा पा लेते हैं, अर्थात् उनका निज स्वरूप विलीन होकर, एक अन्य नया स्वरूप बन जाता है और उस नवीन के नाम-रूप-कर्म भी नवीन हो जाते हैं, यह कृति योगमाया की ही होती है ॥१६४॥

२. इस प्रकार अब तक मायाबल के द्वारा रस का जो सीमाभाव दिखाया गया, उसमें जिस बल के द्वारा मात्रा और संस्था का प्रादुर्भाव किया जाता है, उसे सामान्यतया माया नाम से कहा जाता है, आगे नाम-रूप-कर्म इन तीनों का संयुक्त एक अभ्व नाम को प्रादुर्भूत करने वाली महामाया पद से कही जाती है, यह पूर्व कहा जा चुका है। पदार्थ का विस्तार करना और विशेष के द्वारा रस का आवरण करना यह ही महामाया का महत्व है। अब योगमाया का निर्वचन करते हैं। कर्मविशिष्ट दो रसों का, कर्म अर्थात् दो पदार्थों के संयुक्त होने पर जो माया हो—वह योगमाया कही जाती है।

बल की प्रधानता होने से वे रस भी कर्म नाम से ही कहे जाते हैं, उनका योग होने पर यदि अपने स्वरूप से दोनों ही च्युत हो जाते हैं, अर्थात् दोनों का निज रूप विलीन हो जाता है और तीसरी नवीन अभ्व में प्रवाहित होने वाली—नये नाम-रूप-कर्म वाली प्रतिष्ठा को प्रादुर्भूत करने वाली योगमाया होती है। जैसे वृक्ष की छाल और गुड़ के मिश्रण से मादक द्रव्य मद्य, अन्न और जल आदि के मिश्रण से सुरा, कोयला और शोरा मिश्रण से पर्वतों को भी उच्चाटित कर देने वाली बारूद इत्यादि। इन सबमें नये नाम-रूप-कर्मों को उत्पन्न करने वाले बल को योगमाया कहा जाता है—यह तात्पर्य है। यह योगमाया आत्मा के स्वरूप को पूरी तरह अत्यन्त आवृत कर लेती है, वहां मूल तत्व की किंचित् भी प्रतीति नहीं होती। अतएव श्रीमद्भगवद्गीता में योगमाया को आवरण कर देने वाली कहा है "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इत्यादि। श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी के प्रारम्भिक पद्य में 'रन्तुं मनश्चक्रे योगमाया-मुपाश्रितः" जो कहा गया है कि—भगवान् ने योगमाया का आश्रय लेकर रमण करने को मनका निर्माण किया, वहां भी योगमाया पद का मनुष्य गतधर्म का सहारा लेकर, यह व्याख्यान करना समुचित है। मनुष्यता विभिन्न इन्द्रियां, मन, शरीरादि के सम्बन्ध में बनती है—वह योगमाया द्वारा ही उत्पन्न होती है।

आगम-तन्त्रशास्त्र में तो माया, महामाया, योगमाया की विवेचना कुछ भिन्नरूपों में व्याख्यात हुई है—वह शास्त्रों की अपनी-अपनी परिभाषाओं का भेद है। उसकी विवेचना यहां समुचित नहीं।

(१०) शक्त्याधिकरणम्

(शक्ति परिच्छेद)

[3]वृत्तित्वसंसर्गवशादथास्मिन् रसे समन्वेति बलं यदन्यत्।
सा शक्तिरुक्ता प्रकृतिः स्वभावः प्रोद्भावयत्याश्रयभोग्यमर्थम् ॥१६५॥

[4]तत्र ग्रहातिग्रहरूपमाहुः संसर्गमेतं त्वमृतेन मृत्योः।
ग्रहोऽमृतं मृत्युरतिग्रहो वा न चान्यदन्येन विना कृतं स्यात् ॥१६६॥

एतद्ग्रहातिग्रहरूपसर्गप्रसिद्धरूपः प्रथितः स आत्मा।
स्वभोग्यसम्पादकमेतदन्तःस्थितं तु कर्मैव मतास्य शक्तिः ॥१६७॥

विना न शक्त्या पुरुषः क्वचित् स्याच्छक्त्या विशिष्टः पुरुषोऽपदिष्टः।
यदस्य शक्त्या क्रियतेऽस्य भोग्यं तदर्थजातं पुरुषार्थमाहुः ॥१६८॥

[5]क्वचित्तु शक्त्योपहितं नु कर्मातीताऽमृतं यत्पुरुषं वदन्ति।
तदेतदारोपकृतं यतोऽत्रामृते भिदा नोपहिते विशिष्टे ॥१६९॥

मायाविशिष्ट रस में जो अन्य बल, वृत्तिता संसर्ग से समन्वित होता है—वह बल शक्ति पद से कहा जाता है, इसको प्रकृति तथा स्वभाव भी कहते हैं। यह शक्ति अपने आधारभूत आत्मा के लिए भोग्य पदार्थों का सर्जन करती है ॥१६५॥

३. बलविशेष रूपिणी शक्ति का भी यहां संक्षेप में प्रदर्शन करते हैं। इसका विस्तृत वर्णन तो प्रकरणान्तर में किया जायगा। मायादि बल विशिष्ट रस में प्रवाह रूप से जिस अन्य बल का वृत्तिता संसर्ग से सम्बन्ध होता है, उस संसर्ग से समन्वित वह बल 'शक्ति' इस नाम से ख्यात होता है। प्रकृति, स्वभाव इत्यादि भी शक्ति के ही नाम हैं। इस शक्ति के द्वारा आत्मा के भोग योग्य पदार्थों की सृष्टि होती है।

शक्ति से आत्मा का संसर्ग अथवा अमृत से मृत्यु का संसर्ग ग्रह-अतिग्रह भाव में होता है। वहां कहीं अमृत की प्रधानता होती है मृत्यु गौण हो जाता है, कहीं इसके विपरीत हो जाता है, इसका कोई नियत भाव नहीं है। किन्तु सदा दोनों का अविनाभाव अवश्य रहता है ॥१६६॥

४. यहां शक्ति के साथ आत्मा का ग्रह-अतिग्रह (प्रधान-गौण) भाव रूप संसर्ग होता है, यह पूर्व कथित का स्मरण कराया गया है। इन दोनों में कौन ग्रह भाव में होता है और कौन अतिग्रह भाव में ? इसका कोई नियत व्यवहार नहीं है। कहीं मृत्यु वा बल को ग्रह कहा गया है, आत्मा को अतिग्रह। अन्यत्र कहीं आत्मा को ग्रह तथा मृत्यु को अतिग्रह कहा गया है। दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं रहते यह वास्तविक सार है।

शक्ति और रसमय आत्मा का यह संसर्ग ग्रह-अतिग्रह रूप पूर्वोक्त वृत्तिता संसर्ग से होता है, उसका ही पुनः स्मरण कराया गया है। इस शक्ति संसर्ग से ही आत्मा की स्वरूप प्रसिद्धि होती है। आत्मा के निजभोग के लिये योग्य पदार्थों को सम्पादन करने वाला यह आत्मान्तस्थित कर्म (बल) ही इस आत्मा की शक्ति माना गया है ॥१६७॥

शक्ति के बिना पुरुष की सत्ता कहीं नहीं होती, वेद में भी शक्ति विशिष्ट पुरुष का ही उपदेश मिलता है। इस शक्ति के द्वारा इस पुरुष का जो भोग्य पदार्थ जात तैयार किया जाता है, वह अर्थ जात पुरुषार्थ कहा गया है, पुरुष के लिए अर्थ-पुरुषार्थ यह व्युत्पत्ति है ॥१६८॥

कहीं जहां रसमय अमृत तत्व शक्तिरूप बल में साक्षिभाव मात्र से सामीप्य कर रहा हो वहां उसका परिच्छेद बल द्वारा नहीं हो पाता, यह सर्व कर्मातीत अवस्था है। उस रस में पुरुष पद का व्यवहार आरोप करके ही होता है, वहां वह बल भेदभाव नहीं कर पाता। भिन्नता वहां ही होती है जहां रस से समन्वित होकर शक्ति रूप बल उसका विशेषण बन जाता है। बल विशिष्ट रस ही पुरुष पद वाच्य होता है ॥१६९॥

१. वेद में कहीं-कहीं पुरुष पद से तथा आत्मा पद से मूल मायातीत रस का भी व्यवहार देखा जाता है, किन्तु वह व्यवहार आरोपित ही है। ये पुरुष वा आत्मा रस प्रधान होते हैं—अतः इन दोनों के नाम वा इन दोनों के धर्म, शुद्ध रस में आरोप करके ही भिन्न-भिन्न पुरुष हैं या आत्मा भिन्न हैं, यह भेदमय व्यवहार होता है, वास्तविक नहीं। रस तो सदा अविभक्त एक रूप ही होता है। अतः आत्मा या पुरुष पद का प्रयोग उस मायाभाव से अतीत रस में सम्भव नहीं हो सकता। बल द्वारा केवल परिचयात्मक सामीप्य मात्र से उपहित (उपाधियुत) हो जाने से रस को आत्मा वा पुरुष नाम नहीं दिया जा सकता, अपितु बल विशिष्ट रस को ही दिया

जाता है। विशेषण का लक्षण यह होता है कि जो पदार्थ के साथ वर्तमान रहता हुआ तथा पदार्थ स्वरूप के साथ ग्रहीत होता हुआ अन्यों से उस पदार्थ को भिन्न करता हो। इस लक्षणानुसार जहां बल विशेषण हो रहा हो अर्थात् स्वरूप में ही जिसका ग्रहण हो रहा हो वह विशिष्ट भाव रस-बल उभय रूप होता है, उसमें मुख्य रूप से पुरुष वा आत्मा पद का व्यवहार युक्तियुक्त होता है। जहां बल केवल उपाधिमात्र बन रहा हो अर्थात् रस की उपस्थिति का परिचय ही दे रहा हो, स्वरूप में जिसका ग्रहण न हो रहा हो, जैसे कर्ण शष्कुली (कान का आकार) से घिरे हुए आकाश को श्रोत्र कहा गया है, वहां कर्ण का आकार उपाधिमात्र ही है—वह श्रोत्र के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं है। वैसे ही जहां बल स्वरूप में ग्रहीत नहीं होता वहां रस में पुरुष पद का प्रयोग मुख्य वृत्ति से नहीं होता है।

(११) पुरुषाधिकरणम्

(पुरुष परिच्छेद)

रसो [२]बलं चेति परस्परेणाव्यावृत्तरूपावुदितौ हि धर्मौ।
रसेन धर्मेण बलाख्यधर्मः संभूय धर्मी भवतीह भावः ॥१७०॥

बलेन[१] धर्मेण विशिष्टरूपो धर्मी रसो यः पुरुषः स उक्तः।
सम्बन्ध उक्तोऽव्यतिरेकनित्यस्तयोस्ततोऽयं पुरुषोऽस्ति सर्वः ॥१७१॥

रस और बल का सर्वादि सम्बन्ध भाव का उदय, अविनाभूत रूप में होता है, अर्थात् इन दोनों का पार्थक्य नहीं होता, किन्तु एक धर्मी और दूसरा धर्म इस रूप में इनका गौण प्रधान भाव भी नहीं होता, अपितु दोनों धर्म रूप में ही उदित होते हैं। इस धर्म रूप से ही बल का संसर्ग जब रस में होता है—तब धर्म रूप वह रस धर्मी बन जाता है। इस तरह रस और बल का सर्ग उत्पादक यह सम्मिलित रूप पुरुष भाव में आ जाता है ॥१७०॥

२. अब पुरुष निरूपण आरम्भ होता है। बल विशिष्ट रस का यह पुरुष भाव ही प्रथम रूप होता है—अतः इसका निरूपण आदि में होना उचित ही है। पृथक् अवस्था में वर्तमान रस और बल का धर्म-धर्मी भाव नहीं होता और इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म भी वहां समुपस्थित न होने से, ये दोनों स्वयं में धर्मभाव में ही कहे गये हैं। इस धर्म अवस्था में ही बल-रस से धर्म रूप से ही सम्बद्ध होता है—तब इस बल रूप धर्म से संबद्ध रस धर्मी बन जाता है। बल विशिष्ट यह धर्मी रस ही पुरुष पद से प्रसिद्ध होता है। पद्य में कहा गया भावपद सत्ता का द्योतक है। नाम-रूप-कर्म ही सत्ता रूप होते हैं, यह पहले कहा जा चुका है। इस सर्वारम्भ अवस्था में अभी नाम-रूपादि की उत्पत्ति नहीं हुई है—अतः उन सबको उत्पन्न करने वाले इस मूल बल को ही सत्ता भाव में कहा जाता है। इस बल सत्ता द्वारा सत् भाव में आया हुआ रस धर्मी बन जाता है। आगे सर्ग काल में जगत् के दृश्यमान पदार्थों में बल की ही प्रधानता होती है—अतः बल ही जगत् भाव में धर्मी रूप से कहलाने लगता है—उस अवस्था में रस भी सत्ता पद से व्यवहृत होने लगता है। यह ही कारण है कि वेदान्त में ब्रह्म की व्यापकता सत्ता-चेतना-

सप्तपुरुषः प्रजापतिरात्मा

षड्विंशे द्वे शते प्राणानां प्रजापतिः

आनन्द रूप में प्रतिपादित होती है। यह कथन प्रक्रिया का भेदमात्र है। वहां मूल तत्व रूप रस की एकता में कोई भेद नहीं आता। अर्थात् ये तीनों एक रूप ही हैं।

बलरूप धर्म के द्वारा विशिष्ट भाव में आया हुआ जो रस धर्मी बन जाता है—वह ही पुरुष कहा गया है। यह रस और बल का सर्वादिसम्बन्ध, अभिन्नता प्राप्त कर सदा के लिए नित्य हो जाता है। अर्थात् बलविशिष्ट रसमय पुरुष ही आगे सम्पूर्ण जगत् का सम्पादक बनता है—अतः सारा संसार पुरुषमय कहा गया है ॥१७१॥

१. यहां यह प्रश्न यदि उठाया जाय कि वेद के पुरुष सूक्त में तो 'पुरुष एवेदं सर्वम्' कहकर पुरुष की सर्व रूपता कही गई है, वह तो तब ही मानी जा सकती है—जब पुरुष तत्व की नित्यता होवे, किन्तु यहां तो दो धर्मों से युक्त धर्मी की उत्पत्ति बताकर पुरुष की भी उत्पत्ति कही जाने से, पुरुष की भी अनित्यता सिद्ध हो जाती है—तब यह कथन वेद सम्मत कैसे माना जा सकता है? इस सम्भावित शंका का निराकरण करने के लिये ही पद्य के उत्तरार्द्ध में 'अव्यतिरेकनित्यः' कहा गया है, अर्थात् रस-बल का यह सम्बन्ध नित्य ही होता है, ये रस और बल नित्य सम्बद्ध ही रहते हैं। इनमें अव्यतिरेक अर्थात् अभिन्नता हो जाती है, यह नित्यता का हेतु है। बल विशिष्ट रस ही पुरुष कहलाता है—अतः पुरुष की नित्यता ही सिद्ध होती है। स्पष्ट यह हुआ कि रस का—सर्वप्रथम बल का और इनके सम्बन्ध का नित्य भाव हो जाने से पुरुष सूक्त गत वेद वचन का कोई विरोध नहीं होता।

[२]पुरु व्यवस्यन् पुरुधा स्यति स्वतस्ततः स उक्तः पुरुषश्च पूरुषः।
पुरा स रुष्यत्यथ पूर्षु रुष्यते स पूरुषो वा पुरुषस्तदुच्यते ॥१७२॥

धीप्राणभूतस्य पुरे स्थितस्य सर्वस्य सर्वानपि पाप्मनः खे।
यत्सर्वतोऽस्मादपि पूर्वं औषत् स पूरुषस्तेन मतोऽयमात्मा ॥१७३॥

स व्यक्तभूते वसति प्रभूते शरीरभूते पुरुषस्ततोऽसौ।
पुरे निवासाद्दहरादिके वा वसत्ययं ब्रह्मपुरे ततोऽपि ॥१७४॥

वेद की प्रक्रियानुसार पुरुष शब्द की अनेक प्रकार की व्युत्पत्ति बताई जा रही है। प्रथम व्युत्पत्ति है—पुरुधा-स्यति इति पुरुषः, अर्थात् सर्वप्रथम क्रियावान् होकर जो स्वयं नाना भाव में क्रियारत रहता है वह पुरुष है। वैदिक परिभाषा में इसे पुरुष भी कहा गया है। अथवा पुरुधा स्यति का अर्थ यह भी है कि जो स्वतः स्वयं ही अनेक रूप हो जाता है—वह पुरुष है। अथवा 'पुरा-रुष्यति इति पुरुषः', यहां हिंसार्थक रुष धातु से पुरुष शब्द बना है, हिंसा अर्थ का टीका में स्पष्टीकरण किया जायगा। अथवा 'पूर्षु-रुष्यते' इति पुरुषः, यहां रुष का अर्थ बन्धन है, अर्थात् नवद्वाररूपपुर में जो बद्ध हो जाता है—वह पुरुष है ॥१७२॥

एक अन्य व्युत्पत्ति है, 'पुरा-औषत्' इति पुरुषः, अर्थात् मन-प्राण-वाणिमय पुर में, मायावरण में घिरे हुए मन-प्राण आदि के सम्पूर्ण पाप भाव को सर्वप्रथम जला देता है—वह पुरुष है। यह अन्तराकाश की भस्मीकरण प्रक्रिया सृष्टिभाव से पूर्व की क्रिया है, यहां पुरुष आत्मारूपेण माना गया है ॥१७३॥

अन्य सबसे मुख्य व्युत्पत्ति है—'पुरे वसति' इति पुरुषः, पुर अर्थात् शरीर में जो वास करता है वह पुरुष है। प्रत्यक्ष दृश्यमान शरीर में सम्पूर्ण भाव से जो रहता है वह पुरुष कहलाता है। अथवा शरीरान्तर्गत दहराकाश में जिसे ब्रह्मपुर कहा जाता है—वहां वास करने वाला पुरुष है ॥१७४॥

२. यहां तीन पद्यों में पुरुष शब्द की वेदोक्त निरुक्ति का विवरण किया जाता है—पुरु अर्थात् अनेक प्रकार से, स्यति = व्यवसाय करने वाला पुरुष है यह एक निर्वचन है। इसमें षो धातु के साथ वि और अव उपसर्ग धातु के अर्थ में अन्तर्भूत हुए हैं। व्यवसाय नाम क्रिया का है। सबसे प्रथम क्रिया की प्रवृत्ति इस प्रथम पुरुषभाव में ही होती है और वह क्रिया नानारूपेण परिणत होती है—यह आगे बताया जायगा—उससे पुरुष शब्द बना है। पुरुष शब्दगत ह्रस्व उकार वाले पु को वेद प्रक्रियानुसार आदि अच् को दीर्घ होजाने से पूरुष यह व्यवहार भी होता है। अथवा पुरु-स्यति का अर्थ यह भी होता है कि स्वतः ही अपनी एकरूपता को छोड़कर नाना भाव में भासित होने लगना। यहां गति ही षो धातु का अर्थ है। अनेकरूपता भासन ही अपने आपका हनन है—यह दूसरी निरुक्ति है। 'पुरा-रुष्यति' इति पुरुषः, इस निरुक्ति में हिंसार्थक रुष धातु है। पुरा—सर्वप्रथम रस की 'रुष्यति' हिंसा करता है। निःसीम का सीमाकरण ही हिंसा है। अथवा 'पूर्षु-रुध्यते' इति पुरुषः, पुरों में बद्ध कर लिया जाता है, यह तीसरी तथा चतुर्थ निरुक्ति है। इस चतुर्थ विधा में तो पुर्-रुष इस रूप में पूरुष शब्द ही मुख्य है। यहां पू का ह्रस्व भाव वैदिक प्रक्रिया से माना जायगा। पुरा-औषत्, यह एक निरुक्ति है, मन, प्राण, वाक् जो पहले कही जा चुकी हैं - ये परपुरुष कहलाने वाले अव्यय पुरुष की कला है। उन कलाओं में मायाबल से अन्वित जो पापांश है, उसको औषत् अर्थात् जला देने वाला—पुरुष है। यहां भस्मीकरण का तात्पर्य यह है कि—अपने में अमृतमय रसतत्व के प्रधान होने से मृत्युमय उस माया बल को अपने में समेट कर अन्तर्भूत कर लेता है। यह पांचवा निर्वचन हुआ। 'पुरे-वसति' इति पुरुषः, यह छठी निरुक्ति है और यह ही सबसे मुख्य है। वसति के व को संप्रसारण रूप व्याकृति से उ बना कर यहां पुरुष बनता है। यहाँ भी पुर के दो अर्थ किये गये, एक तो पुर दृश्यमान शरीररूपी जगत् में सर्वत्र वास करता है, यह अर्थ है, दूसरा पुर—ब्रह्मपुर में—दहर में—जो चाहे अल्प हो वा महान् हो उसमें वास करता है। यह अन्तिम निर्वचन ही मुख्य है। यहाँ पुर शब्द से बल का ही ग्रहण होने से साक्षात् रस ही पुरुष पद से व्यवहृत होरहा है। बल को अपने अधिकार में ले लेना अर्थात् अपने रूप में समेट लेना ही वहां वास है।

स [3]पूरुषः स्यात् त्रिविधस्तदात्मनोः संसर्गिणोर्भेदवशादवस्थया।
शुद्धं बलं शुद्धरसे समन्वितं यद्रूपमायाति रसोदरे बलात् ॥१७५॥

[1]न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥१७६॥

[2]स उत्तमोऽनुत्तम उच्यते परः सचाव्ययः सोऽपि च शाश्वतो मतः।
क्षराक्षराभ्यां स परस्ततः परः स उत्तमोऽतीत्य च तौ यतः स्थितः ॥१७७॥

[3]यथाक्षरः शक्तिविभक्तियुक्तिभिर्विभज्यतेऽनेकविध स्वरूपतः।
तथा विभक्त्या न विभज्यते यतस्ततोऽव्ययो नाम स उच्यते परः ॥१७८॥

[४]पराक्षरस्यान्तरनैकधाऽक्षरो यथोदयं प्राप्य निवर्तते पुनः ।
तथा परेऽस्मिन्नपरो भवन् परो निवर्तते कोऽपि स तेन शाश्वतः ।।१७९।।

वह पुरुष तीन रूपों में विभक्त हो जाता है एक ही पुरुष के तीन भेद, सम्बन्ध भेद से तथा अवस्था भेद से होते हैं। इस कारण ही संसर्ग युक्त रस और बल का भी भेद प्रतीत होने लगता है। शुद्ध बल का शुद्ध रस में संसर्ग होने पर, बल, रस के आश्रित हो जाता है। उस रसान्तरर्गभित बल के कारण हो नीरूप रस भी रूप भाव में आ जाता है ।।१७५।।

३. अव्यय, अक्षर और क्षर इन भेदभावों से वह पुरुष त्रिविध हो जाता है। वेद में प्रतिपादित पुरुष के इन तीन विभागों का स्पष्टीकरण श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ है। एक पुरुष संस्था के ये तीन विभाग संसर्ग भेद के कारण होते हैं। संसर्ग भेद से अवस्था भेद होता है। उस कारण से ही संसर्गी मूत रस-बल का भी भेद भासित होने लगता है। शुद्ध-विकार रहित बल का, शुद्ध रस में--जो किसी अन्य बल का आधार नहीं बना है, उसमें समन्वय अर्थात् सम्बन्ध होने से पुरुष रूपता बनती है। रस के उदर में बल प्रविष्ट हो जाता है, इस कथन से यहां रस की प्रधानता ख्यापित हो गई। यह ही परपुरुष-अव्यय पुरुष है।

ये अव्यय पुरुष संसार में किसी कार्य-कारण भाव में नहीं आता, इसके समान या अधिक क्षमता भी किसी में नहीं दीख पड़ती, इसकी स्वाभाविक पराशक्ति अनन्त गुण कर्ममयी वेद में प्रख्यात है, उस शक्ति का स्वरूप ज्ञान, बल और क्रिया रूप है। वह ही उत्पत्ति, पालन और ध्वंस आदि सब कुछ करती है ।।१७६।।

१. परपुरुष--अव्यय पुरुष का प्रतिपादन करने वाली श्वेताश्वर श्रुति को उद्धृत किया गया है। यह अव्यय पुरुष कार्य भाव तथा कारण भाव दोनों से अतीत रहता है। ये कुछ भी उत्पन्न नहीं करता और वास्तविक रूप से किसी उत्पादन में कारणता भी इसकी नहीं होती, न कोई अन्य इसका उत्पादक है। यह केवल सबका आलंबन बनता हुआ सर्वाधार रूप से रहता है। इस परपुरुष में वर्तमान जो बल रूपिणी परा सर्वादि शक्ति है—उसके द्वारा ही सारे जगत् की उत्पत्ति होती है। ज्ञान, बल और क्रिया रूप से वह सर्वत्र अनुप्रविष्ट रहती है, यह वेद मन्त्र का अर्थ है। इस श्रुति से अव्यय पुरुष की विकार शून्यता तथा शक्ति की सर्व जनकता घोषित की गई है।

इस परपुरुष के श्रुति और स्मृति में वर्णित नाम हैं—उत्तम, अनुतम, पर, अव्यय और शाश्वत। अनुत्तम का अर्थ है—जिससे उत्तम अन्य कोई न हो। इन सब नामों की अर्थसंगति क्रमशः बता रहे हैं, क्षर तथा अक्षर से ये पर अर्थात् सूक्ष्म है—अतः ये पर कहा जाता है। क्षर, अक्षर भाव को पार करके अति ऊर्ध्व स्थित रहने से ये उत्तम कहा जाता है। इससे उत्तम कोई नहीं है अतः अनुत्तम है ।।१७७।।

जैसे अक्षर पुरुष विविध शक्तियों से युक्त होकर, उनसे वह अनेक रूपों में विभक्त होकर नाना प्रकार से भेदयुक्त सा हो जाता है। बहुतों से उसका योग भी होता है, वैसे

परपुरुष शक्तिद्वारा कभो विभक्त नहीं होता—ग्रतः इसका नाम ग्रव्यय होता है। जिसमें विकार न हो—वह ग्रव्यय कहा जाता है ॥३७८॥

ग्रक्षर पुरुष के दो स्वरूप हैं, एक पर ग्रक्षर ग्रौर एक सामान्य ग्रक्षर। पर ग्रक्षर में ग्रनेक प्रकार के सामान्य ग्रक्षर उदित होते हैं ग्रौर निकल भी जाते हैं। वैसे इस परपुरुष में कोई ग्रन्य पर न उदित होता है ग्रौर न निकलता है, यह सदा एक रूप ही रहता है—ग्रतः यह शाश्वत (नित्य) माना जाता है ॥१७९॥

२. एक महान् ग्रक्षर होता है—वह पर ग्रक्षर इस नाम से कहा जाता है। इसमें ग्रवान्तर ग्रनेक ग्रक्षर उदित होते हैं ग्रौर महान् ग्रक्षर में ही विलीन हो जाते हैं। पराख्य ग्रव्यय पुरुष में इस तरह के उदय-विलयभाव नहीं होते—इसीलिये ये शाश्वत है।

[1]ग्रथोत्तमस्यास्प रसे यदा बलं संसृज्य सर्गाय समर्थते पुनः।
तदा भवत्यक्षरपूरुषः स वै सर्वज्ञ ग्रात्मा स च सर्वशक्तिमान् ।।१८०।।

[1]यथा सुदीप्तादनलात् स्फुलिङ्गाः सहस्रशो यान्त्युदयं सरूपाः।
तथाक्षरात्सर्वविधा हि भावा भवन्ति तत्रैव तथाऽपियन्ति ॥१८१॥

[2]यश्चाक्षरो यश्च परस्तदेतौ दिव्यावमूर्तौ पुरुषावजौ स्तः।
बाह्यान्तरौ चामनसौ च शुभ्रावप्राणकौ तत्पशुता निषिद्धा ॥१८२॥

[3]मनः सवाक्प्राण इति त्रिधास्य प्राणस्ततोऽवाङ् मनाः स उक्तः।
ग्रचिर्भयः सूक्ष्मतमोऽक्षरोऽयं तत्स्था हि लोका ग्रपि लोकिनश्च ॥१८३॥

बल विशिष्ट उत्तम पुरुष में रस की प्रधानता होती है, इसमें जब ग्रन्य बल का संसर्ग होता है तब ग्रभिनव सृष्टि ग्रक्षर पुरुष नाम की होती है। इस ग्रक्षर पुरुष को ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ग्रात्मा कहा जाता है ।।१८०।।

५. ग्रक्षर पुरुष के प्रादुर्भाव का क्रम बताया है। मायाबल विशिष्ट रस में जो निःसीम न रहकर ग्रव्यय संस्था में सीमित सा प्रतीत होने लगता है, जिसमें रस की ही प्रधानता होती है, इसमें जब संसर्ग सम्बन्ध से ग्रन्य बल संयुक्त होता है, तब उस बल संसर्ग से नवीन सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। इस सर्ग को ग्रक्षर पुरुष कहते हैं। यहां ये शंका की जाती है कि यदि ग्रव्यय पुरुष से ग्रक्षर का प्रादुर्भाव होता है तो, ग्रक्षर के प्रति ग्रव्यय पुरुष की उपादान कारणता बन जाती है, तो फिर ग्रव्यय किसी कार्य-कारण भाव में संपृक्त नहीं होता यह पहले कैसे कह दिया गया? इसके समाधान में जरा सूक्ष्म विचार करना चाहिये। सर्व मूल निःसीम रस में मायाबल नाम के एक बल के संसर्ग से जो प्रथम सीमाभाव की पर-ग्रव्यय नाम की संस्था प्रादुर्भूत होती है, वहां भी रस ग्रौर बल की ही कारणता मानी जायगी। इस ग्रव्यय संस्था में कभी कोई विकार नहीं होता—वह स्वतन्त्र रूप से सबकी ग्रालंबन भूत रहकर स्थित रहती है, उसकी कारणता नहीं मानी जाती। उस संस्था गत सीमित रस में, बलान्तर के संसर्ग से पुनः नवीन ग्रक्षर पद से कहे जानी वाली संस्था का प्रादुर्भाव होता है, तो उसमें भी रस की ग्रौर बल की ही कारणता माननी चाहिये, न कि पूर्व प्रादुर्भूत ग्रव्यय संस्था की। जैसे सर्वत्र व्यापक महान् ग्राकाश में

एक बहुत बड़े प्राचीर (परकोटे) के घेरे में नगर नाम की एक संस्था बनाई जाती है। फिर उसके अवान्तर भीतरी भागों में नगर संस्था से घिरे हुए आकाश में ही विभिन्न प्राचीरों का निर्माण करके बड़ी सड़क, छोटी गलियों का भी नगर के भीतर निर्माण किया जाता है, तथा उनमें भीतें खड़ी करके नाना घरों का भी निर्माण होता है। वहां प्रथम महा प्राचीर से घेर कर जो नगर नाम की प्रथम संस्था बनाई गई थी, उसमें कोई विकार नहीं होता और सड़क-रास्ते, गलियों के प्रति उसकी कारणता भी नहीं मानी जा सकती, वहां सर्वत्र उन छोटी-बड़ी सीमाओं के घिराव में महान् आकाश ही कारण होता है। नगर नाम की पूर्व संस्था तो उन सबकी आलंबनभूत, स्वतन्त्र ही खड़ी रहती है। ऐसे ही यहां भी महामाया नाम के महान् बल द्वारा अव्यय पुरुष का प्रादुर्भाव करा दिया गया, वह अव्यय आलंबन रूप से स्वतन्त्र ही रहता है—उसके अवान्तर रस में अन्य बल के संसर्ग से अक्षर, क्षर आदि संस्थाओं का आविर्भाव होता है, उन सबमें नगर संस्था के समान अव्यय संस्था की कारणता नहीं होती, अपितु वहां जैसे उन आवरणों में महाकाश कारण होता है, वैसे ही अक्षर आदि संस्थाओं में मूल रस ही कारण होता है। जैसे वहां प्राचीर-भींत आदि सीमाकरण करते हैं, वैसे ही यहां भी बल ही सर्वत्र सीमाभाव रूप परिच्छेद करता है यह जानना चाहिये। इस प्रकार आभु रूप आत्मा के विकास क्रम में इस अर्थ का सन्निवेश करना चाहिये। इस अक्षर पुरुष में ही ज्ञान, क्रिया, शक्ति आदि का प्रादुर्भाव होता है, अतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि पदों से अक्षर पुरुष का ही व्यवहार होता है।

जैसे खूब प्रदीप्त काष्ठाग्नि में से समान रूप को हजारों चिनगारियां निकलती रहती हैं, वैसे ही अक्षर पुरुष में से सब प्रकार के अनन्त भावों का उदय होता है और अन्त में अक्षर में ही उनकी लीनता भी हो जाती है ॥१८१॥

१. इस अक्षर पुरुष का ही सब संसार का कारण रूपेण व्यवहार वेदों में प्रतिपादित है, यह प्रकट करने के लिये शतपथ ब्राह्मण १४ काण्ड में समुपदिष्ट "यथा सुदीप्तात् पावकात्" इत्यादि श्रुति का अर्थ करते हुए अनुवाद किया गया है। अक्षर पुरुष स्वयं समष्टि (विराट्) रूप है, उसमें से व्यष्टि भाव में जीव और जड़ प्रादुर्भूत होते हैं। ये वेद का तात्पर्य है। लौकिक उत्पत्ति का व्यवहार इससे सर्वथा विपरीत है, यहां अलग-अलग व्यष्टि भावगत, तन्तुओं से समष्टि रूप वस्त्र का उत्पादन किया जाता है। मौलिक सृष्टि प्रक्रिया में समष्टि रूप विराट् से ही सारे व्यक्तिभाव जड़ जंगम स्वरूप के उद्भव पाते रहते हैं। इस विषमता को सदा ज्ञान में रखना चाहिये।

अक्षर पुरुष और पर पुरुष वेद में—दिव्य, अमूर्त, पुरुष, अजन्मा, बाहर-भीतर सर्वत्रव्याप्त आदि नामों से व्यवहृत हुए हैं। ये भी कहा गया है कि ये अमनस्क हैं, शुभ्र हैं तथा अप्राण हैं, अर्थात् मन, प्राण, वाक् से सम्बद्ध नहीं हैं। अन्त में स्पष्ट किया कि इनमें पंच पाश युक्त पशुता कभी नहीं होती ॥१८२॥

२. उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हुआ कि, सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक अक्षर पुरुष है, किन्तु यह भी स्मरणीय है कि सर्व जनक होता हुआ भी अक्षर–अक्षर ही रहता है, इसका यत्किंचित्

भी क्षरण (विनाश) कभी नहीं होता। अव्यय का तथा अक्षर का अन्तर मात्र इतना ही है कि यह कारण बनता है—अव्यय नहीं बनता। अन्य सब समानता है। अतः अव्यय और अक्षर के समान धर्म पद्य में बताये गए हैं। सबका अर्थ भी स्पष्ट ही है। ये सारे विशेषण वेद में दोनों के लिये समान रूप से प्रयुक्त हुये हैं। वेद में अक्षर को 'अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः" कहकर इसमें मन, प्राण तथा वाक् का भी निषेध कर दिया है। यहां प्रश्न यह उठता है कि इससे पूर्व तो यह कहा गया है कि मन, प्राण, वाक् का आत्मा अक्षर है और अब मन, प्राण, वाक् का अक्षर में निषेध कहा जा रहा है। ये कैसे सम्भव हो सकता है? इस शंका का निराकरण करने को ही कहा जा रहा है 'तत् पशुता निषिद्धा' अर्थात् पशु भावापन्न मन, प्राण, वाक् अक्षर में नहीं हैं। सारांश यह है कि आगे द्वितीय अधिकार में परधर्माधिकरण तथा विकासाधिकरण आदि में मन, प्राण, वाक् की ज्योति, विधृति तथा प्रतिष्ठा रूप में स्थिति, अव्यय, अक्षर, क्षर तथा पशु भाव में चार प्रकार विभिन्न भावों में बताई जायगी। वहाँ अव्यय, अक्षर और क्षर में मन, प्राण, वाक् आत्म स्वरूप होते हैं। चौथे पशु स्थान में पशुभावापन्न हो जाते हैं। अव्यय और अक्षरगत मन, प्राण, वाक् का पशुभाव वेद निषिद्ध माना गया है। आत्मा स्वरूप जो अव्यय की मन, प्राण, वाक् कला हैं—वे तो अक्षर में और क्षर में क्रमशः अनुवर्त्तित होती ही हैं। लोक में हम मन, प्राण, वाक् शब्दों से पशुभावापन्नों का ही परिचय पाते हैं—जो कि हमारे शरीर में हैं। स्थूल शरीर गत मन, प्राण, वाक् अक्षर पुरुष में और पर पुरुष में नहीं है, यह भाव है।

लौकिक पशुभाव में प्रथम मन, तब, प्राण, तदनन्तर वाक् ये स्थिति रहती है। अक्षर में प्राण की प्रधानता होने से प्रथम प्राण, तदनन्तर वाक्, तदनन्तर मन यह स्थिति दिखाकर पशुता का प्रत्याख्यान कर दिया। यह अति सूक्ष्म अक्षर, अर्चिमय अर्थात् ज्योति स्वरूप है। सारे लोक और लोकनिवासी इसमें आश्रय पा रहे हैं ॥१८३॥

३. 'अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः' इस मन्त्र का दूसरा अभिप्राय कहा है—अक्षर पुरुष में प्राण ही मन, प्राण और वाक् रूप में तीन भावों से स्थिति पाये हुए है। वाक्, प्राण और मन इसके स्वरूप में ही समा रहे हैं, वहां मन के अनन्तर प्राण, प्राण के अनन्तर वाक् यह पशुरूप नहीं है। अतः बहुव्रीही समास के अनुसार, नहीं है मन जिसमें वह अमना, नहीं है प्राण जिसमें वह अप्राण इस प्रक्रिया से अक्षर में अन्य आधेय भूत मन, प्राण आदि का वेद ने निषेध कर दिया है। जैसे नैयायिकों के मत में सत्ता में कोई अन्य सत्ता न होने से सत्ता को असती माना जाता है, वैसे ही यहां भी अक्षरगत मन में कोई अन्य मन नहीं है, प्राण में कोई अन्य प्राण नहीं है, यह वेद का अभिप्राय समझना चाहिये। पद्य का उत्तरार्ध तो स्पष्ट ही है, सारे लोकों का और उन लोकों में रहने वाले प्राणियों का प्रतिष्ठा रूप यह अक्षर ही है यह कहा गया है।

[1]तमक्षरं भूतभृतं प्रचक्षते सत्यं च विज्ञानमनन्तमच्युतम्।
कूटस्थमव्यक्तमपि ध्रुवं विदुः परावरं सेतुमलक्ष्यमीश्वरम् ॥१८४॥

खे[2] निश्चले वायुरिव प्रचारी भूतानि सर्वाणि परेऽक्षरेऽस्मिन्।
सन्त्यास्थितान्येव सति स्थितानि बिभर्ति भूतानि स भूतभृत् ततः ॥१८५॥

सत्यं च विज्ञानमनन्तमित्थं भेदास्त्रयः सन्ति तदक्षरस्य ।
विस्रंसते तस्य रसो विसर्गे तथापि नैष च्यवते स्वरूपात् ॥१८६॥
कल्पान्तकालेऽखिलभूतसंघस्तदक्षरस्य प्रकृतिं प्रयाति ।
विष्टभ्य च स्वां प्रकृतिं स कल्पोदये पुनस्तानि सृजत्ययत्नः ॥१८७॥
वशात् प्रकृत्या अवशास्तु भूतग्रामा भवन्तीह लयं प्रयान्ति ।
न तानि कर्माणि यदक्षरं तं बध्नन्ति कूटस्थमतो वदन्ति ॥१८८॥
[1]कूटो हि मायामयबन्धयन्त्रं मिथ्याकृता चाप्यथ क्लृप्तराशिः ।
कूटोऽग्रभागः शिखरं च तस्मिन् स्थाता स कूटस्थ इति प्रसिद्धः ॥१८९॥

सम्पूर्ण चराचर जगत् को धारण करने वाले अक्षर पुरुष का श्रुति में अनेक नामों से ग्रहण किया जाता है—यथा सत्य, विज्ञान, अनन्त, अच्युत, कूटस्थ, अव्यक्त, ध्रुव, परावर, सेतु, अलक्ष्य तथा ईश्वर । इनका विवरण आगे किया जा रहा है ॥१८४॥

निश्चल आकाश में चलनशील वायु के समान, अक्षर पुरुष में संचरण सारे विश्व का होता है, जैसे आकाश में संचरित वायु को आकाश धारण करता है उस ही प्रकार प्रतिक्षण परिवर्तन रूप चलनशील इस जगत् को परम-महान् अक्षर स्वयं अचल रहते हुए धारण करता है—आकाश के समान इसमें वायु की तरह सारे जगत् का प्रवाह सतत चलता रहता है—इस ही लिए अक्षर 'भूतभृत्' अर्थात् भूतों को धारण करने वाला कहलाता है ॥१८५॥

सत्य, विज्ञान और अनन्त ये तीन भेद अक्षर के ही वेद ने 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस रूप में बताये हैं, अर्थात् इन तीन रूपों से अक्षर की सारे जगत् में व्याप्ति बताई गई है । सर्ग-क्रम में सब प्राणिवर्ग अक्षर से ही रस ग्रहण करते हैं, तथापि अनन्त भाव होने से यह अक्षर अपने स्वरूप से कभी विच्युत नहीं होता ॥१८६॥

कल्प के अन्तकाल में सम्पूर्ण प्राणि समूह अक्षर पुरुष की प्रकृति शक्ति में समा जाता है, फिर नवीन कल्प के उदय काल में अपनी उस ही प्रकृति शक्ति को प्रेरित कर बिना किसी आयास के सारे जगत् का उद्भव वह कर देता है ।

सवभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् (भ० गी० ९७) इस गीतावचन का अर्थ रूप से अनुवाद हुआ है ॥१८७॥

सम्पूर्ण प्राणीसमूह प्रकृति शक्ति के परतन्त्र हैं, उसके वशीभूत ही सबका जगत् में उद्भव होता है और अन्त में उस महाशक्ति में ही सब लीन हो जाते हैं, किन्तु कर्ममयी उस शक्ति का बन्धन अक्षरपुरुष को नहीं बांध पाता, अतः उसे कूटस्थ (अविचल) कहा जाता है ॥१८८॥

कूट के तीन अर्थों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । समझ में नहीं आने वाला तत्व माया नाम से व्यवहृत होता है— अतः मायारूप बन्धन यन्त्र को कूट कहते हैं, यह एक अर्थ है—यह मिथ्याभाव में प्रयुक्त होता है अर्थात् यह बन्धन एक भास मात्र है इसकी वास्त-

विकता कुछ नहीं है। अथवा एकत्र राशि समूह को कूट कहते हैं, यह पंचमहाभूतों का कल्पित राशि समूह कूट कहलाता है, ये द्वितीय अर्थ है। पर्वत के शिखररूप अग्रभाग को भी कूट कहते हैं, उस अग्रभाग में स्थित होने से कूटस्थ कहलाता है ॥१८९॥

१. कूटस्थ शब्द का निर्वचन करते हुए कूटस्थ शब्द के लोक प्रसिद्ध तीन अर्थ बता रहे हैं। कूट साक्षी इत्यादि में कूट शब्द का प्रयोग मिथ्याभाव में किया जाता है—अतः मिथ्या मायामय बन्धन यन्त्र को कूट कहते हैं—यह एक अर्थ है। राशि समूह कूट कहलाता है, अर्थात् कल्पित राशि समूह कूट है—यह द्वितीय अर्थ है। शिखर के अग्रभाग को भी कूट कहते हैं। यह अक्षर—माया यन्त्र में अर्थात् माया द्वारा कल्पित भूतादि समूह में सबके अग्रभाग में स्थित रहता है अतः कूटस्थ कहा जाता है।

य एकरूपोऽखिलकालवृत्तिः कूटस्थमेतं च वदन्ति सन्तः।
अव्यक्त उक्तः स हि यः परस्ताद् घनीभवन् व्यक्तिदशामुपैति ॥१९०॥

ये तु क्षरा यानि रजांसि तानि प्रसह्य सर्वाण्यपि संसरन्ति।
अन्तस्थितः संसरताममीषां स निश्चलो न व्यथते ध्रुवस्तत् ॥१९१॥

क्षरं हि विश्वं तदिहावरं ततः परं तु विश्वातिगतं यदुत्तमम्।
यदक्षरं तद्धि परावरं स वै सेतुः परं पारमुपैति तद्गतः ॥१९२॥

[1]ईक्षामहेऽक्षैर्वयमत्र तैस्तैः प्रज्ञानुषक्तैर्न तया विमुक्तैः।
प्रज्ञा तु विज्ञानभृतैव बोद्ध्री तेनेह लक्ष्यं न तदस्ति लक्ष्यम् ॥१९३॥

[2]न चास्ति भूतं तदिहाक्षरेण यद् भूतं न भूत्वा भवति स्वतन्त्रवत्।
स व्याप्नुवन्नेत्यखिलेष्वलं रसं प्रदाय चेष्टे तदतः स ईश्वरः ॥१९४॥

अखिल सृष्टि काल में अक्षर सदा एक रूप ही रहता है—अतः अविचल भाव में जो कूट शब्दार्थ की प्रसिद्धि है, वह अर्थ भी इसमें समन्वित होता है। अक्षर स्वयं अव्यक्त है अर्थात् अदृश्य रहता है, यह अति सूक्ष्म तत्व जब घनभाव में आता है तब यह ही व्यक्त रूपेण क्षरभाव में आ जाता है, व्यक्तभाव की पूर्व अवस्था अव्यक्त ही है, यह ही पद्य के उत्तरार्द्ध में कहा गया है ॥१९०॥

क्षरभूत सम्पूर्ण प्राणीसमूह को तथा सारे लोकों को यह अक्षर बलात् गतिमान् रखता है। रजांसि का अर्थ लोक है। इस गतिशील जगत् में भीतर गुप्त रूप में विराजमान यह अक्षर निर्विकार रहता हुआ सदा अविचल ही रहता है अतः इसे ध्रुव कहा जाता है ॥१९१॥

सम्पूर्ण विश्व क्षर है, इसे वैदिक परिभाषा में अवर अर्थात् निम्न कोटि का कहा जाता है और विश्वातीत उत्तम पुरुष को पर कहा जाता है। अक्षर को परावर कहते हैं, यह ही सेतु अर्थात् पुल रूप है। इस अक्षर को वास्तविक रूप प्राप्त कर लेने पर ही पर रूप उत्तम में प्रवेश सम्भव हो सकता है। स्पष्ट यह है कि परावर तथा सेतु शब्द से अक्षर का ही निर्वचन हुआ है। मध्य भाग को सेतु कहते हैं, अवर और पर के मध्य में यह अक्षर है—

अतः सेतु कहा जाता है। क्षर रूप जीव अक्षर का सहारा पाकर ही पर तत्व को प्राप्त कर सकते हैं यह भाव भी सेतु शब्द से अभिव्यंजित हुआ है ॥१९२॥

संसार में प्रत्येक पदार्थ की दृश्यमानता इन्द्रियों द्वारा ही होती है, फिर उन इन्द्रियों में अनुस्यूत मन की प्रज्ञा उन पदार्थों की रूप कल्पना करनी है—प्रज्ञा से रहित केवल इन्द्रियां कुछ नहीं कर पातीं, वह मानस प्रज्ञा भी बुद्धि की सहायता से पदार्थ के ग्रहण अथवा त्याग का निर्णय करती है। इस प्रकार पदार्थ लक्षभूत बनता है, किन्तु वह प्रज्ञा और बुद्धि ही जब स्वयं अलक्षित रहती हैं तब इन सबका संचालक अक्षर कैसे लक्षित हो सकता है वह सदा अलक्ष्य ही है ॥१९३॥

१. अक्षर में अलक्ष्यता बता रहे हैं—जो कुछ वस्तु लक्षित होती है उसका प्रकार बताते हैं। सर्व-प्रथम हम विभिन्न इन्द्रियों से विभिन्न वस्तुओं को देखते हैं, तदनन्तर प्रज्ञा-प्रज्ञान आदि शब्दों से कहे जाने वाला मन उन वस्तुओं की रूप कल्पना करता है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा समुपस्थापित वस्तुओं में रूप-रस आदि का योजन करके ये घट है, ये पट है, इत्यादि स्वरूप कल्पना प्रज्ञा-प्रज्ञानादि रूप मन का कार्य है, तदनन्तर विज्ञान अर्थात् बुद्धि उन पदार्थों के ग्रहण वा त्याग आदि का निर्णय करती है अथवा न ग्रहण और न त्याग रूप तटस्थता बनाती है। इन्द्रियों से ही यद्यपि पदार्थों का ग्रहण आदि किया जाता है तथापि मन की सहकारिता आवश्यक होती है और मानस व्यापार में भी बुद्धि की सहकारिता आवश्यक है, तब बाह्य पदार्थों की लक्ष्यता बनती है। ये इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही स्वयं अलक्ष्य रहते हैं। तब मन और बुद्धि के भी आन्तरभाव में विराजमान अक्षर पुरुष लक्ष्य कैसे बन सकता है।

अक्षर की अलक्ष्यता का निर्वचन करने के अनन्तर ईश्वरत्व सिद्ध किया जाता है।

जगत् में कोई ऐसा प्राणी नहीं है जो अक्षर पुरुष का आश्रय पाये बिना स्वतंत्र रूप में जीवन लाभ कर रहा हो, सब इसके सहारे हो सत्ता पा रहे हैं। अक्षर ही सर्वत्र व्यापक होकर सबको रस प्रदान करता हुआ, विश्व का विनियोजक बन रहा है—अतः ईश्वर यह ही है ॥१९४॥

२. अक्षर ही ईश्वर कहा जाता है। इसमें ईश्वर शब्द की संगति बता रहे हैं। 'ईष्टे' अर्थात् समर्थ होता है, इससे वह ईश्वर है। जो जिसका नियोजन कर सकता है—वह उसके प्रति समर्थ है, वह ही उसका ईश्वर है, जैसे स्वामी सेवकों का। यह तो सम्पूर्ण क्षर भावापन्न प्राणीमात्र का योजक है—अतः आपेक्षिकता किसी खास के लिये न रखता हुआ सर्वेश्वर है। इसकी विनि-योजकता अर्थात् विभिन्न योनि के प्राणियों की तत्-तत् भाव में प्रवृत्ति कराते रहना, इसको दो प्रकार से सिद्ध कर रहे हैं। एक सर्व व्यापक होने से और दूसरे सब रस प्रदान करने से। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो अक्षर से धारणा न प्राप्त करते हुए अपने आप में स्वतन्त्र हो—सबको अक्षर ही धारण किये हुए है। स्पष्ट आशय यह है कि, प्राण रूप से अक्षर सर्वत्र व्याप्त है और प्राण के बिना किसी की जीवन सत्ता टिक नहीं सकती क्योंकि प्राण ही सबका धारक है। निष्प्राण तो प्रत्येक वस्तु सत्ता रूप प्रतिष्ठा से ही विच्युत हो जाती है। इस प्रकार सर्वत्र व्याप्त होता हुआ यह अक्षर सबका विनियोजक होने से ईश्वर है। और अन्य सामर्थ्य इसका

यह है कि क्षर रूप सारे प्राणी वर्ग को यही रस प्रदान करता है। मूल अमृतमय रस तत्व अव्यय पुरुष से अक्षर में अवतरित होता है और अक्षर से क्षर में। रस ही सबका जीवन है—अतः जीवप्रद होने से भी यह ईश्वर है। सारे विश्व में ईश्वर के रूप में अक्षर की ही उपासना की जाती है, यह आगे स्पष्ट रूप से बताया जायगा।

[1]अथाक्षरस्यास्य रसे यदा बलं संसृज्य सर्गाय समर्थते पुनः।
ततः क्षरः संभवतीह पुरुषस्त्रयस्त्विमे स्यु पुरुषाः पृथग्विधाः ॥१९५॥
सर्वं[2] तदेतत् परमक्षरं क्षरं नु कार्यं यदिदं प्रदृश्यते।
यत्कारणं तन्मतमक्षरं तथा परं न कार्यं न च कारणं तथा ॥१९६॥
य [3]उत्तमः सोऽस्त्यशरीरपुरुषोऽक्षरादयः सन्ति शरीरयोगिनः।
प्रियाप्रिये न स्पृशतोऽशरीरिणं शरीरिणोऽथापहतिर्न चैतयोः ॥१९७॥
[4]ग्रामं हि भौतं क्षरसंज्ञमाहुः कूटस्थमत्राक्षरमाहुरन्यम्।
अन्यं तटस्थं परमाहुरेतान्यध्यूढरूपाणि भवन्ति नित्यम् ॥१९८॥
[5]क्षराणि सर्वाणि तदक्षरे स्युस्तदक्षरं चापि परे निगूढम्।
तस्मात्त्रिधा भिन्नमपीदमेकं ब्रह्मैव सर्वं जगदेतदाहुः ॥१९९॥

क्षर का प्रादुर्भाव क्रम—अक्षर के अन्तर्गत रस में बलान्तर का संसर्ग सृष्टि प्रादुर्भावार्थ जब होता है, तब क्षर पुरुष का उद्भव होता है। इस प्रकार रस-बल संसर्ग से पृथक्-पृथक् संस्थागत ये तीन अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष हो जाते हैं ॥१९५॥

१. क्षर पुरुष का प्रादुर्भाव कहा गया है—अक्षर पुरुषान्तर्गत सीमाबद्ध रस में अन्य बल चयन रूप से संसर्ग करके जब सृष्टि करने के लिये समर्थ होता है, तब वह क्षर पुरुष नाम से कहा जाता है। अक्षर पुरुष के प्रादुर्भाव क्रम में जो प्रक्रिया हमने पहले बताई है, उस ही रीति से यहां भी अक्षर की क्षर के प्रति समवायी कारणता नहीं होती, अक्षर पुरुष रूप संस्था यहां भी स्वतन्त्र ही रहती है। उससे सीमित रस में अन्य बल के संप्रयोग से क्षर नाम की यह तीसरी संस्था प्रादुर्भूत हुई है। अतः अक्षर के प्रादुर्भाव में जैसे रस-बल कारण बने हैं, वैसे ही क्षर प्रादुर्भाव में भी उनकी ही नित्य कारणता है, कहीं भी एक पुरुष की अन्य पुरुष के प्रति उपादान कारणता नहीं होती, यह बात आकाश के दृष्टान्त से स्पष्ट कर दी गई है। इस प्रकार ये तीन पुरुष भिन्न-भिन्न प्रादुर्भूत हुए हैं।

दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् में ये पर, अक्षर और क्षर पुरुष सर्वत्र रहते हैं, इनमें क्षर पुरुष कार्य रूप में दीख पड़ता है। अक्षर पुरुष सर्वत्र कारण माना जाता है, पर पुरुष न कार्य है और न कारण है ॥१९६॥

२. संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है अर्थात् ज्ञान का विषय बनता है, वहां सब ही जगह उक्त तीनों पुरुषों की सत्ता अवश्यम्भावी होती है। उनमें कार्यभूत (पदार्थ रूप) जो इन्द्रिय आदि से ग्रहीत होते हैं—वे सब क्षर हैं। उन सब में अनुस्यूत उन सब वस्तुओं का परिचालक तथा उनका जनक अक्षर है। तीसरा अव्यय, उत्तम आदि पदों से कहे जाने वाला पुरुष तो केवल

आलम्बन मात्र होता है, वह न कार्य है न कारण है। यों समझना चाहिये कि सब वस्तुओं का उपादान कारण क्षर है, निमित्त कारण अक्षर है और अव्यय नाम का तत्व तो कार्य–कारण दोनों से अतीत है।

उत्तम नाम से कहा जाने वाला अव्यय पुरुष शरीर धारी नहीं होता, अक्षर और क्षर का शरीर योग होता है। अशरीर अव्यय पुरुष को प्रिय-अप्रिय अर्थात् सुख-दुःख स्पर्श नहीं कर पाते। शरीराभिमानी क्षर तथा अक्षर का प्रिय-अप्रिय से सम्पर्क होता है ॥१९७॥

३. अव्यय का शरीर सम्पर्क नहीं होता अर्थात् कहीं भी उसका शरीराभिमान नहीं होता। अक्षर पुरुष, क्षर को अपने शरीर रूप में ग्रहण करता है तथा क्षर पुरुष अपने द्वारा उत्पादित अन्य क्षर को शरीर बनाता है, इस प्रकार ये दोनों शरीराभिमानी होते हैं। इसी कारण से अव्यय में सुख-दुःख का स्पर्श नहीं हो पाता। क्षर तथा अक्षर में सुख-दुःख का संस्पर्श अवश्य होता है। वेद में स्पष्ट कहा गया है कि 'न ह वा सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इति। अर्थात् शरीराभिमान रहते हुए सुख-दुःख का अभाव नहीं हो सकता और अशरीरी को सुख, दुःख स्पर्श नहीं कर पाते। अतएव अव्यय को पा जाने पर अर्थात् अपने आत्मा को अव्यय रूप में ग्रहण कर लेने पर जीव सुख-दुःख से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

पंचमहाभूतों के समूह से निर्मित सारे पदार्थ क्षर संज्ञक कहे गए हैं, इस समूहभूत कूट में अन्तःस्थित अन्य पुरुष क्षर कहा गया है, निरपेक्ष तटस्थ भाव में रहने वाला अन्य पुरुष अव्यय माना गया है। इतना पार्थक्य रहने पर भी ये तीनों सदा एक साथ रहते हैं ॥१९८॥

४. पुनः तीनों का स्पष्टीकरण करते हैं—भूत समूह क्षर है। इसमें ही वर्तमान रहता हुआ भी अपने स्वरूप से कभी न गिरने वाला कूटस्थ अक्षर है। सब कुछ करता हुआ भी कभी कहीं लिप्त न होते हुए तटस्थ रूप से सदा एक रूप में ही स्थित रहने वाला अव्यय है। ये तीनों परस्पर एक दूसरे के बिना नहीं रहते, इनका सदा अविनाभाव रहता है। क्षर पुरुष यद्यपि परिणत होता रहता है तथापि उसमें एक क्षर के स्थान में दूसरा आते रहने से अविनाभाव कभी टूटता नहीं है। घट रूप के नाश होने पर कंकड, उसके भी नष्ट भाव में मिट्टी आदि दृष्टान्त द्वारा इसका प्रतिपादन पहले किया जा चुका है।

सम्पूर्ण क्षर भाव अक्षर को आधार बनाता है, वह अक्षर भी पर तत्व के आधार पर स्थित है, ये तीन रूपों में विभक्त होते हुए भी एक ब्रह्म के ही रूप हैं—अतः सारे जगत् को ब्रह्म का रूप ही माना जाता है ॥१९९॥

५. सब पदार्थों में ऊपर दिखाई देने वाला भाग क्षर तत्व रूप है, उसमें भीतर छुपा हुआ अक्षर तत्व है, उसमें भी अन्तर्निगूढ पर तत्व रहता है। इस प्रकार तीन संस्थाओं में व्यवस्थित रहता हुआ भी ये सारा जगत् एक ब्रह्म का ही वितान है। अर्थात् इन विभिन्न अवस्थाओं में भी सबका अविनाभाव रूप सदा जागरित रहता है।

क्षरा[1]क्षराभ्यां कृतमस्ति यावद्रूपं हि तावज्जगदेतदाहुः ।
यदन्यदस्माज्जगतः पृथक् स्यात्परं तमाहुः पुरुषोत्तमं च ॥२००॥

स[2]व्यक्तभूते वसति प्रभूते शरीरभूते पुरुषः परस्तत् ।
पुर्यैव वासादयमक्षरोऽपि क्षरोऽपि तस्मात्पुरुषः प्रदिष्टः ॥२०१॥

परः स आख्यायत आदिपूरुषोऽक्षरस्तु योऽस्त्येष पुराणपूरुषः ।
क्षरो य आत्मा स हि यज्ञपूरुषः स एक एष त्रिविधः पृथग्विधः ॥२०२॥

[3]द्विधैव लोके पुरुषः प्रदिष्टः क्षरोऽक्षरो वा स इदं नु सर्वम् ।
ताभ्यां परो यः पुरुषोत्तमोऽसौ न पूरुषः स्यादिति केचिदाहुः ॥२०३॥

[4]परस्य पूर्वं पुरुषस्य धर्मद्वयं यदाहामृतमृत्युरूपम् ।
परात्परं तन्न तयोः पृथक्त्वे निर्धर्मकत्वात् पुरुषत्वमिष्टम् ॥२०४॥

[5]क्वचित्प्रकृत्योपहितं नु कर्मातीतामृतं यत्पुरुषं वदन्ति ।
तदेतदारोपकृतं यदऽत्रामृतेऽभिदा नोपहिते विशिष्टे ॥२०५॥

[1]विना प्रकृत्या पुरुषो न हि स्यात् तया विशिष्टस्य तु पूरुषस्य ।
यद्यत्प्रकृत्या क्रियतेऽत्र भोग्यं तदर्थजातं पुरुषार्थमाहुः ॥२०६॥

क्षर और अक्षर के द्वारा सम्पादित जितना भी रूप है – वह सब जगत् कहा जाता है । इस जगत् मात्र से पृथक् रहता हुआ पर पुरुष है, उसको ही पुरुषोत्तम भी कहा जाता है ॥२००॥

१. पुरुषोत्तम, पर वा अव्यय की विश्वातीतता यहां कही गई है ।

प्रत्यक्ष दृश्यमान सारे शरीराभिमानी पुरुषों में प्रधानतया पर पुरुष का वास रहता है । पुर में निवास करने के कारण ही अक्षर और क्षर की भी पुरुष संज्ञा उपदिष्ट हुई है ॥२०१॥

२. यह भी कहा जा सकता है कि, पर पुरुष ही मुख्य है । इसका पुर अक्षर है, उसमें निवास करने से वह, पुरुष कहा जाता है । उस ही प्रकार से अक्षर का पुर क्षर है, उसमें वास करने से अक्षर को पुरुष कहते हैं । क्षर पुरुष की भी उससे समुत्पादित क्षर की अन्य अवस्था पुर हैं, उसमें निवास के कारण क्षर भी पुरुष है । आगे के पद्य में इन पुरुषों के श्रुति तथा स्मृतियों में प्रसिद्ध अन्य नाम कहे जाते हैं ।

सर्वादि पुरुष को पर पुरुष कहा जाता है, अक्षर को पुराण पुरुष कहते हैं, क्षर रूप शरीराभिमानी आत्मा को यज्ञ पुरुष कहते हैं । मूल एक पुरुष के ही ये तीन प्रकार के विभिन्न रूप होते हैं ॥२०२॥

कुछ विद्वानों का मत है कि पुरुष संस्था दो प्रकार को ही माननी चाहिये, क्योंकि सारे जगत् के निर्माण आदि की कारणता केवल अक्षर और क्षर की ही है । उन दोनों

संस्थाओं से परे जो पुरुषोत्तम संस्था है—वह तो सर्वथा संसार भाव से निर्लिप्त अवस्था है अतः उसे पुरुष गणना में नहीं लिया जा सकता ॥२०३॥

३. कुछ विद्वानों के मत में क्षर-अक्षर की ही पुरुषता मानी जाती है। पर पुरुष तो अविकारी ब्रह्म है—अतः वह पुरुष पद वाच्य नहीं है। जगत् ही वास्तव में पुरुष रूप है। पर पुरुष तो जगत से अतीत अवस्था है—अतः पुरुष नाम से व्यवहार करने योग्य नहीं है, इस प्रकार का उन विद्वानों का आशय है।

उपरोक्त दो ही पुरुष संस्था कथन में अपनी अभिरुचि न रखते हुए कहते हैं कि पर पुरुप में भी अमृत और मृत्यु नाम के दोनों धर्म हैं—उन दोनों का धर्मी होने के कारण उसे भी पुरुष मानना ही चाहिये। इससे पूर्व को जो परात्पर संज्ञक संस्था है, वह निर्धर्मक है अतः उसमें पुरुष पद की प्रवृत्ति नहीं होती—वह शुद्ध अमृत रूप है ॥२०४॥

४. अन्य विवेचक विद्वानों का कथन है कि जहां धर्म को धारण करने वाली धर्मिता है—वहाँ पुरुषत्व भी है, धर्मी पुरुष होता है। मूल तत्व रूप रस और बल जो धर्म रूप हैं, वे अव्यय में भी हैं—अतः रस-बल विशिष्ट अव्यय भी धर्मी है। उसमें पुरुषत्व की मान्यता युक्तियुक्त ही है। भगवद्गीता में भी इसीलिये 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' कह कर, उत्तम को भी पुरुष पद से ही व्यवहृत किया है। सुप्रसिद्ध वैदिक पुरुष सूक्त तो अक्षर का ही विवरण करता है। अव्यय से भी पूर्व की रस-बल संसर्ग रहित संस्था तो परात् पर नाम से कही जाती है। वह निर्धर्मक है, उसमें पुरुष पद का व्यवहार नहीं होता। 'परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इस वचन में तो, पहले पर शब्द का अर्थ जीवरूप अव्यय है—यह जीवाव्यय अनन्त ईश्वर स्वरूप अव्यय को प्राप्त कर लेता है, यह विवेचन स्वयं ग्रन्थकर्त्ता ने अन्यत्र किया है। आगे मूल ग्रन्थ में ही बताया जायगा कि उक्त तीनों पुरुषों में प्रत्येक की पाँच कला होती हैं, वे सब मिलाकर पन्द्रह कला हुयी हैं, उनमें परात् पर की सोलहवीं कला का संग्रह करके, सोलह कलावान् पुरुष कहा जाता है—इस प्रकार के व्याख्यान में ग्रन्थकार ने बहुत जगह परात् पर की भी पुरुष रूपता अभिव्यंजित की है। वहां रस-बल की एकरूपता जानकर आधाराधेय भाव भी हो जाता है—अतः धर्मी रूप व्यवहार कथंचित् संगत मान लेना चाहिये।

कहीं-कहीं शुद्धरस जो अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप है जहां बल केवल उपाधिमात्र से वर्तमान रहता है, अर्थात् शुद्धरस में संपृक्त नहीं हो पाता, जो कर्मातीत अमृतमय है, उसमें पुरुष शब्द का प्रयोग देखा जाता है। वहाँ पुरुष का आरोपमात्र ही समझना चाहिये—क्योंकि उपाधिमात्र से शुद्धरस में भेद उत्पन्न नहीं होता। भेद विशेषण होने पर ही होता है और बिना भेद के पुरुषत्व सम्भव नहीं होता ॥२०५॥

५. कहीं बल नाम के कर्म को रस से पृथक् बुद्धि से ग्रहण करके तदुपाधियुत शुद्ध रस में जो ब्रह्म रूप है—उसमें भी पुरुष पद का प्रयोग देखा जाता है। बल नाम प्रकृति का है—वह उस कर्म भाव से अतीत अमृत में उपाधि रूपेण स्थित मात्र है। उपाधि और विशेषण का भेद पहले बताया जा चुका है। बल विशिष्ट रस में तो कथंचित् पुरुष पद उपयुक्त माना जा सकता है। उपाधिमात्र से उपहित रस में तो उसका आरोप ही माना जायगा। अग्रिम भाविनी पुरुष अवस्था

का पूर्व मूलभूत शुद्ध रस में आरोप मात्र करके ही पुरुष पद का व्यवहार मानना होगा, यह तात्पर्य है। क्योंकि उपाधिगत रस में भिन्नता नहीं आ पाती और भेदभाव के बिना पुर और पुरुष भाव की घटना हो नहीं सकती—अतः मुख्य पुरुषत्व वहाँ उपपन्न नहीं होता। आगे सृष्टि में पुर बनेंगे—वहाँ यह रस शयन करेगा—इस तरह भविष्य में होने वाली संस्था को बुद्धिगत करके ही वहाँ पुरुष पद प्रयोग की सार्थकता माननी होगी। यह आरोप भाव ही यहाँ कहा गया है।

प्रकृति के बिना कहीं पुरुष नहीं रहता, प्रकृति से विशिष्ट ही पुरुष होता है। आगे कर्मरूपिणी प्रकृति के द्वारा जो भी पदार्थ पुरुष के भोगार्थ उपस्थित किये जाते हैं, वे सब पुरुषार्थ कहे गए हैं ॥२०६॥

१. ये तीनों अव्यय आदि पुरुष आत्मा रूप हैं। आगे अन्यान्य बलों के प्रयोग में जो भी कुछ उत्पन्न होता है—वह भोग्य होता है। पुरुष के भोग्य होने के कारण उसे पुरुषार्थ नाम से व्यवहार किया जाता है। ये विषय आगे स्पष्ट हो जायगा।

(१२) गद्यमयं पुरुष[२]प्रपञ्चाधिकरणम्

(गद्य रूप पुरुष विवेचन परिच्छेद)

द्विविधा सृष्टिः प्रतिपत्तव्या, सामान्यसृष्टिः पूर्वार्ध्या, विशेषसृष्टिः परार्ध्या चेति। सामान्यसृष्टिव्यतिरेकेण विशेषसृष्टिर्नोपपद्यते, तस्मात् तामेव सर्वभूतसाधारणीमादौ व्याख्याय पश्चात् प्रातिस्विकीः काश्चित् प्रदर्शयिष्यामः ॥

२. पूर्व अधिकरण में कहे गये पुरुष तत्व को स्पष्ट करने के लिये और उनमें समन्वित अवान्तर विषयों को समझाने के लिये गद्यमय यह पुरुष विवेचक अधिकरण आरम्भ किया जाता है। इसमें भी संगति योजना के लिये मूल तत्व से ही पुनः विवरण किया जा रहा है। (१२)

सृष्टि के दो विभाग समझने चाहिये, पूर्वार्धगत सामान्य सृष्टि तथा परार्धगत विशेष सृष्टि। जो तत्व सर्वत्र समान रूप से व्याप्त रहे—उसका सृष्टि सामान्य की सृष्टि माननी चाहिये। सामान्य सर्ग के बिना विशेष सर्ग का आविर्भाव नहीं होता, इस कारण सर्वभूतमात्र में साधारण रूपसे अनुगत उस सामान्य सृष्टि को व्याख्या पहले करके, तदनन्तर विशेष सृष्टि की भी कुछ विवेचना प्रदर्शित करेंगे ॥

बृंहणबलो रसो ब्रह्म। बृंहमाणं तत् त्रिधा संपद्यते-चित् चेतना चित्यं च। यत्रैताः सर्वा बलानां बलंश्चितयो भवन्ति, तदावपनं चिद् ब्रह्म। यत एताश्चितयो भवन्ति, तदिदं चितिप्रयोजकं चेतना ब्रह्म। अन्यदन्यस्याङ्गं भवद् यदुपचीयते, तच्चित्यं ब्रह्म। रसप्रधाना चित्। समबलरसा चेतना। बलप्रधानं चित्यम्। चिद् ब्रह्म अव्ययम्। चेतना ब्रह्म अक्षरम्। चित्यं ब्रह्म क्षरमित्याहुः। समन्वितं चेदं त्रितयमेकं रूपम्। तथा च क्षरब्रह्मा-क्षरब्रह्माविना-भूतेऽव्ययब्रह्माणि पुरुष शब्दः। तादृशैः सप्तभिः पुरुषैः कृतरूपे तावदेकस्मिन् पुरुषे प्रजापति-शब्दः। तस्यैतस्य चत्वारः पुरुषा आत्मा। द्वौ पक्षौ। पुच्छमेकं प्रतिष्ठा। तेऽमी सप्तापि प्राणाः। अथैषां सप्तानां पुरुषाणां या श्रीः, यो रसः स एतस्य शिरो मनोमयम्।

स्वयं उफन कर फैल जाने की ताकत है जिसकी उस अमृतमय रस को ब्रह्म कहते हैं। बृंह धातु से उसके स्वाभाविक भाव में चानश् प्रत्यय होकर, बृंहमाण शब्द बनता है—जिसका अर्थ है उफन कर फैलता हुआ, यह ब्रह्म त्रिविध हो जाता है—एक चित् रूप, द्वितीय चेतना रूप और तृतीय चित्य रूप। जहां ये बलों की अन्यान्य बलों के साथ सम्पूर्ण चितियां (चिनाई) होती है, उनका आधार चित्—ब्रह्म है। (यह सबका आदि भूत-सर्वाधार है। इसमें ही प्रादुर्भूत होकर बलों का क्रम से चयन होता है)। जिसकी प्रेरणा पाकर ये चितियां होती हैं, वह चयन प्रयोजक चेतना ब्रह्म है। (सृष्टि की इच्छा विशिष्ट ब्रह्म को चिति प्रयोजक ब्रह्म जानना चाहिये। चिति प्रयोजक रूप में ही अव्यय-अक्षर और क्षर ये तीन पुरुष भाव पूर्व अधिकरण में बनाये गये हैं।) एक बल का अन्य बल के अंग बनते हुए जहां चयन होता है और बलों के उपचय से पदार्थ की स्वरूप सत्ता बनती है—वह चित्य ब्रह्म है। चित् ब्रह्म रस प्रधान है। चेतना ब्रह्म में रस और बल समान भाव में होते हैं। चित्य ब्रह्म बल प्रधान होता है। अव्यय पुरुष को चित् ब्रह्म कहते हैं। अक्षर को चेतना ब्रह्म और क्षर को चित्य ब्रह्म कहा है। इन तीनों का मिलकर एक रूप होता है, यह अविनाभूत रूप है। तथा च निष्कर्ष यह है कि क्षर ब्रह्म और अक्षर ब्रह्म से अविनाभूत अव्यय ब्रह्म में पुरुष शब्द की मौलिक प्रवृत्ति है। (तीनों का समन्वित रूप वेद में बहुत जगह पुरुष शब्द से कहा जाता है। कहीं-कहीं "समुदाये प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते" अर्थात् समुदाय में प्रवृत्त होने वाले शब्द अवयवों में भी प्रवृत्त हो जाते हैं, इस न्याय से इन तीनों में से प्रत्येक में भी पुरुष शब्द की प्रवृत्ति होती है)। समन्वित त्रिरूप वैसे सात पुरुषों से जिस का रूप बना है ऐसे एक पुरुष में प्रजापति शब्द की प्रवृत्ति होती है। ऐसे इस प्रजापति के चार पुरुष तो आत्मा रूप होते हैं। दो पुरुष पक्ष होते हैं। एक पुरुष पुच्छ रूप में प्रतिष्ठा स्थानीय होता है। ये सातों पुरुष प्राण रूप होते हैं। अब इन सात पुरुषों की श्री (शोभा) रूप जो रस है वह इस प्रजापति का शिर है—वह मनोमय है। (सातों प्राणों का सार भाग पृथक् होकर ऊपर चला जाता है—वह ही श्री या शिर कहलाता है—इस प्रक्रिया का व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में हुआ है। इस शिर भाग में मन की प्रधानता रहती है)।

अयमत्राभिसन्धिः—योयं प्राक् त्रिधातुः पुरुष आख्यातः स खल्वसंख्यातैरनियतै-[2]रलाधिकैः पञ्चजातीयैः क्षरप्राणैः पञ्चभिश्चाक्षरप्राणैः पञ्चधातुना चैकेनाव्ययेन कृतमेव सर्वदा रूपं धत्ते। तत्र बीजचितिः, देवचितिः, भूतचितिः, प्रजा वित्तमिति पञ्च क्षराः। [3]अविद्या, काम, कर्म, वीर्य, शुक्रैर्बीजचितिः। अग्निवाय्वादित्यचन्द्रसोमैर्देवचितिः। आकाशवायुतेजोऽम्बुपृथ्वीभिर्भूतचितिः। संतानः प्रजा। परिग्रहो वित्तम्। [1]अथ ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः, अग्निः, सोमः—इति पञ्चाक्षराः। प्रतिष्ठा ब्रह्मा। यज्ञो विष्णुः। इन्धनमिन्द्रः। तेजनं स्थूलस्य तीक्ष्णीकरणमवयवस्फोटोऽग्निः। स्नेहोऽवयवसंकोचो घनीभावः सोमः। अथानन्दो, विज्ञानम्, मनः प्राणो वागिति पञ्च धातुरव्ययः। पञ्चाप्येते विभागा आमोदप्रमोदानाम्, ज्ञानविज्ञानानाम्, चेतनाशक्तेः, सर्वविधप्राणानाम्, वाचां चाऽवरोधाय पञ्च कोशा भवन्ति। विभज्यैते सर्वेऽस्मिन्नव्यये प्रतिष्ठन्ति। इत्थं च पञ्च

क्षरा:, पञ्चाक्षरा: पञ्चाव्ययधातव:—इत्येता: पञ्चदश कला: स्यु: परात्परस्तासां षोडशी-कला । स इत्थं षोडशकल: पुरुष: (षोडशी) । षोडशकलं वा इदं सर्वम् (कौ० ब्रा० १६।४) इत्याहु: । तेष्विदमव्ययं न कारणं न कार्यम् । अथाक्षरं निमित्तकारणम्, क्षरं तु समवायि-कारणं परिणतं कार्यजातं चेति विभाग: ।।

कथन प्रयोजन यह है कि—जो यह पहले त्रिधातु विशिष्ट प्रजापति नाम का पुरुष कहा गया है, वह निश्चित रूप से असंख्य अनियत अल्प वा अधिक पाँच जाति के क्षर प्राणों सहित, पांच अक्षर प्राणों सहित और पंचधातु विशिष्ट एक अव्यय पुरुष से समन्वित किया हुआ रूप सर्वदा धारण करता है। उसमें क्षर पुरुष की पांच कला—बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा और वित्त हैं ।

२. अव्यय आदि तीन पुरुषों में प्रत्येक की पांच-पाँच कला होती हैं, यह विषय अन्य ग्रन्थों में ग्रन्थकर्ता ने विस्तार से बताया है, यहाँ उसका संक्षिप्त विवरण करते हैं। उनमें अव्यय की कलाकोश (निधि) भूत है, उनमें भेद नहीं होता, अक्षर कला और क्षर कला विभक्त होकर अल्प वा अधिक मात्रा वाली हो जाती हैं—यह तात्पर्य है । उनमें प्रथम क्षर कलाओं का विवरण किया जाता है—क्योंकि सांसारिक पदार्थों की विशकलन रूप विवेचना में उनका ही प्रथम परिचय होता है । शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के आरम्भ से ही क्षर की पांच मुख्य कला—प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद और अन्न की व्याख्या हुई है । उनमें प्राण सबको धारण करता है । 'बल विधारणे प्राणशक्ती' अर्थात् बल और धारण में प्राण और शक्ति शब्द आते हैं, यह ग्रन्थकार ने बहुत जगह बताया है । यह प्राण ही ऋषि, पितर, देव, मनु और गन्धर्वादि रूप से विभिन्न हो जाता है । इस भेद का आधार सर्वप्रथम वेदत्रयी—जो त्रयी विद्या कही जाती है, होती हैं । शतपथ में यह व्याख्यान है कि त्रयी के द्वारा ही अप् तत्व की उत्पत्ति हुई है । स्थूल पंचमहाभूतों की प्रथम अवस्था वाक् है—जिसे शब्द तन्मात्रा कहा जाता है। अन्नाद अग्नि को कहते हैं। अन्न सोम है । ये पांचों क्षर के परिणामभूत हैं, ये ही सारे जगत् को उत्पन्न करते हैं । ये पांचों कला अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत भेदों से परिणत होती हैं । इनमें अध्यात्म रूप में क्षर कलाओं के जो नाम होते हैं, वे ही यहां बीजचिति आदि नामों से कहे गये हैं। बीजचिति कारण शरीर को कहते है, देवचिति सूक्ष्म शरीर है और भूतचिति स्थूल शरीर। प्रजा और वित्त की व्याख्या मूल में ही है । ये सब कला एकत्रित होकर मुख्य आत्मा की अनुचर बन जाती हैं । इनके समुदाय को ही व्यावहारिक आत्मा कहते हैं । वित्त पर्यन्त व्यावहारिक आत्मा व्याप्त रहता है । यह ही कारण है कि तमोगुण जिन में प्रधान होता है ऐसे मलिन आत्मा वाले के धन को भी सत्वप्रधान आत्मा वाले पतन का हेतु मानते हैं—धर्म शास्त्र के आचार्य जन। अधिदैव संस्था की क्षर कला है—स्वयम्भू-मण्डल, परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी और चन्द्र मण्डल। ये पांच मण्डल हैं। इनके समुच्चय को ब्रह्माण्ड कहा जाता है। ये पांच मण्डल अनन्त विश्व की एक शाखा है। वेद में शाखा को वल्शा कहते हैं । अधिभूत संस्था में ये पांचों कला पंच भूतों के रूप में परिणत हो जाती हैं ।

अविद्या, काम, कर्म, वीर्य और शुक्र से बीजचिति होती है ।

३. अध्यात्म संस्था में कही गई कलाओं में, तीन के प्रत्येक पांच प्रकार बताये हैं। अविद्या (अज्ञान) सबकी बीज रूप है—जिसका योग और वेदान्त दर्शन में विभिन्न प्रक्रियाओं से अच्छी प्रकार वर्णन हुआ है। उस अविद्या से उत्पन्न मन की जो विकार रूपिणी इच्छा है वह काम है—उस इच्छा से प्रेरित होकर शरीर का विकार कर्म है। वीर्य और शुक्र का परिचय ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में दिया जायगा। इनका समुदित रूप कारण शरीर है, जो प्रलय में भी नष्ट नहीं होता, केवल शुद्ध ज्ञान होने पर ही उसका नाश होता है। इस कारण शरीर का सर्वथा वियोग हो जाना ही मुक्ति कही जाती है।

अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और सोम से देवचिति होती है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से भूतचिति होती है। संतान को प्रजा कहते हैं। परिग्रह (अपने संरक्षण में प्राप्त) को वित्त कहा जाता है। अक्षर पुरुष के पाँच विभाग हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम।

टी. अक्षर पुरुष की पांच कलाओं का निर्देश किया जा रहा है। संसार के सारे पदार्थों में प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है इस बात को सब दार्शनिक मानते हैं। जो भी कुछ अन्य से लिया जाय तथा अपने पास से जो कुछ अन्यत्र चला जाय, इस ग्रहण और परित्याग को ही परिवर्तन या परिणाम कहते हैं। व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि ने, पाणिनि के 'स्त्रियाम्' इस सूत्र का विवरण करते हुए, आदान, प्रदान को संस्त्यान और प्रसव शब्द से व्यवहार किया है। उदाहरणार्थ—जैसे दीपक तेल से स्नेह (चिकनाई) अनुक्षण लेता रहता है और समीपगत पदार्थों पर प्रकाश वमन करता है, वह प्रकाश उन जड़ पदार्थों में अनुस्यूत होकर उनमें दृढ़ता का सम्पादन करता है। प्रकाश जहां नहीं पहुँच पाता, उन भींत आदि में जीर्णता जल्दी आ जाती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। वह ही प्रकाश चेतन जीवों में ज्ञान सम्पादन में सहकारी होता है। प्रत्येक प्राणी का शरीर भी बाहर से अन्न-पान आदि ग्रहण करता है और मल आदि को बाहर निकाल देता है—उसका भी खाद आदि में उपयोग होता है। वृक्ष-लता आदि भी जल-रस आदि ग्रहण करते हैं और छाया, पुष्प, फल आदि का अन्यत्र वितरण करते हैं। इन सबमें ग्रहण त्याग आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वास्तविक सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर तो सम्पूर्ण जड़-चेतन में यह आदान प्रदान प्रक्रिया सर्वत्र प्रचलित प्रतिक्षण अनुमित होती है। यह ही कारण है कि थोड़े समय में या लम्बे समय में जैसी जहां प्राणशक्ति हो वैसी वृद्धि वा जीर्णता सर्वत्र अनुभव गम्य होती है। ग्रहण भाव अधिक हो और त्याग अल्प हो तो पदार्थ की वृद्धि होती है। ग्रहण अल्प हो और त्याग अधिक हो तो क्षय नाम से कहे जाने वाली जरा आ जाती है। वृक्ष आदि में और प्राणधारी शरीर वालों में वृद्धि-ह्रास का स्पष्ट अनुभव होता है, उनमें प्राणशक्ति की प्रबलता होने पर उत्कटता आ जाती है, उससे पैदा होने वाले वृद्धि तथा ह्रास भाव सर्वलोकगम्य होते हैं। वैश्वानर अग्निरूप प्राण के द्वारा ही यह सब होता है। जड़ कहे जाने वाले शिला, पत्थर आदि में ये वृद्धि-ह्रास स्वल्प मात्रा में बहुत लम्बे समय में होने के कारण उनका स्पष्ट अनुभव सबको नहीं हो पाता। अनुमान के निपुण आचार्य तो खान आदि में शिला-पत्थरों की वृद्धि आदि की परीक्षा करके, तथा मजबूत महल, पर्वत आदि की दीर्घकाल

में होने वाली वृद्धि तथा ह्रास की अनुभूति करके, उनमें भी वृद्धि-ह्रास की स्पष्टता का अनुमान कर लेते हैं। जहां कहीं सौ वर्ष मे भी इस जीर्णता का अनुभव करके वस्तु के पुरातन हो जाने का ज्ञान सबको होता है, वहां यह जीर्णता या पुरानापन किसी नियत समय में वा नियत वर्ष में अकस्मात् प्रादुर्भूत हो जाती है— यह विचार युक्ति संगत नहीं है, यह जीर्णता तो उनमें प्रतिवर्ष ही होती रहती है किन्तु अल्प होने के कारण अनुभव गम्य नहीं होती—क्रमशः बढ जाने पर वह अनुभूति में आ जाती है, यही विचार बुद्धिजीवियों का होना समुचित है। वर्ष में भी किसी नियत मास में, दिन में या किसी क्षण विशेष में होना न मानकर प्रतिक्षण यह परिवर्तन होता रहता है, यही गम्भीर विचारकों का निर्णय है। इस प्रकार वृद्धि-ह्रास प्रतिक्षण होते है— यह सिद्ध हो जाने पर प्रत्येक वस्तु का अन्यत्र से कुछ ग्रहण करना तथा अन्यत्र कुछ देते रहना भी स्पष्ट है। इस वृद्धि-ह्रास के सतत प्रवर्तमान रहने पर भी, यह घर नहीं है, ये वही पर्वत है, ये वही घट है, वही पट है, यह प्रत्यभिज्ञा सर्वत्र प्रवृत्त रहती है। यह प्रत्यभिज्ञा (पूर्व स्मृति) प्रतिष्ठा तत्व के आधार पर होती है— अतः मानना होगा कि ये प्रतिष्ठा भी सर्वत्र अनुवर्तित रहती है। इस प्रतिष्ठा का सम्पादक प्राण ब्रह्मा है। अन्य स्थान से ग्रहण करने का नाम ही यज्ञ है, उस यज्ञ का सम्पादक प्राण यज्ञमय विष्णु है। अपने आत्मभूत द्रव्य का अन्यत्र संक्रमण यहाँ इन्धन शब्द से कहा गया है, खूब प्रज्वलित अग्नि में से ही चिनगारियां निकलती हैं, इस परत्र प्रदान सम्पादक प्राण को इन्द्र कहा जाता है। इन्धन (दीप्त) के कारण ही परोक्ष प्रक्रिया से इन्धः को इन्द्र कहा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं 'इदं द्रावयति' इस व्युत्पत्ति से बनने वाले 'इदन्द्र' शब्द को भी परोक्ष प्रक्रिया से इन्द्र कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है घनभाव के ठोस द्रव्य को विरल-तरल प्रक्रिया से पिघलाकर अन्य स्थान में संक्रमणार्थ प्रेरित करना। इस तरह ये तीनों प्राण जो अक्षर पुरुष के अवयव हैं सब पदार्थों के नाभि केन्द्र में स्थित रहते है— अतः नभ्य प्राण कहे जाते हैं। इनमें इन्द्र प्राण के द्वारा बाहर फैंके गए प्राणों से पृष्ठ नाम का धरातल सम्पन्न होता है। इसके निर्मापक अग्नि-सोम होते हैं। इनका स्वरूप और कार्य मूल में ही स्पष्ट कर दिया गया है। इन दोनों से ही जगत् बनता है। ये अग्नि-सोम इन्द्र के सहचर हैं। प्राणों को बाहर प्रक्षेप करने वाले इस इन्द्र प्राण की स्वयं भी बाहरी पृष्ठ पर्यन्त गति होने से, वहाँ ही अग्नि-सोम का प्रादुर्भाव होता है। तब तीनों का यह सम्मिलित रूप जो (इन्द्र-अग्नि-सोम समष्टि भूत है) पुराण की परिभाषा में महेश्वर नाम से ख्यात होता है। तीनों की समष्टि रूप महत्ता के कारण महेश्वर और त्रिदेव रूप होने से त्रिनयन भी कहलाता है। जैसा कि 'वन्दे सूर्य शशाङ्क वन्हि नयनम्' इस महेश्वर स्तुति में कहा गया है। वहां सूर्य में इन्द्र प्राण की प्रधानता को 'यथाग्नि गर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' (बृहदा० ८ अ. ४ पा. २२ क.) इत्यादि श्रुति में स्पष्ट ही कहा गया है। शशाङ्क चन्द्र तो सोममय है यह प्रसिद्ध ही है। वन्हि नाम से अग्नि तो स्पष्ट ही कह दिया है—इस प्रकार त्रिनयनता से त्रिरूपता व्यंजित कर दी गई। अपने निज प्राणों का अन्यत्र संक्रमण ही रोदन है, इस रोदन से रुद्र भी कहा जाता है। अग्नि-सोम दोनों इसके वशीभूत पशुरूप हैं अतः ये पशुपति भी है, यह अनुसंधान कर लेना चाहिये। जो स्वगतप्राण बहिर्भूत होता है, उसकी पूर्ति करके स्वरूप रक्षा करने से विष्णु को पालक कहा जाता है। स्वगत प्राण का प्रक्षेपक होने से इन्द्र संहारक होता है। प्रतिष्ठा वस्तु

की मौलिक सत्ता है—उसका सम्पादक होने से ब्रह्मा सबका जनक माना जाता है। वास्तव में तो एक प्राण के प्रक्षेप से अन्यत्र भिन्न वस्तु की उत्पत्ति होने से तथा जिससे आदान (ग्रहण) किया जाय वहां क्षय होने से ये तीनों जनक, पालक तथा संहारक हो जाते हैं, यह कथन इच्छा का भेद मात्र है—अतः तीनों ही ईश्वर कहे जाते हैं। नाभि केन्द्र में स्थित तीनों नभ्य प्राण ईश्वर पृष्ठ भाग के अग्नि-सोम जगत् रूप, यों इन पांचों अक्षरों से सारा संसार व्याप्त है। इन सबका तात्विक विवेचन शारीरक विमर्श ग्रन्थ में तथा गीता विज्ञान भाष्य के आचार्य काण्ड में ग्रन्थकर्ता ने विस्तार से किया है। उसका ही यहाँ प्रकृत ग्रन्थोपयोगी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। अव्यय पुरुष की पाँच कला पंच कोश रूप में तैत्तिरीय उपनिषत् में उपदिष्ट हैं। जगत् में जो आनन्द आदि अनुभव में आते हैं, उनके ये कोश (खजाने) हैं। उन अव्यय कलाओं के आधार पर ही संसारगत आनन्द आदि का संचरण होता है। सबका खजाना अव्यय ही है यह मूल में ही स्पष्ट कर दिया है।

जगत् की सत्तारूप प्रतिष्ठा के अधिष्ठाता ब्रह्मा है, यज्ञाधिष्ठता विष्णु, अग्नि स्थानीय इन्धन इन्द्र है। अग्नि का कार्य वस्तु को पैना करके उसके अवयवों को तोड़कर तीक्ष्ण बना देना है। इसके विपरीत सोम पदार्थ को स्निग्ध करता है, विरल अवयवों का संकोचन कर—घन बनाता है। अव्यय पुरुष की पाँच कला हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। ये पाँचों विभाग आमोद प्रमोद, ज्ञान विज्ञान, चेतना शक्ति, सब प्रकार के प्राण और वाणी के नियामक होते हुए पंच कोश रूप में स्थित हैं। विभक्त रूप में ये सब अव्यय पुरुष में प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार पांच कला क्षर की, पांच अक्षर की और पांच अव्यय की सम्मिलित होकर पन्द्रह कला होती हैं। सोलहवीं कला इन सबकी आधारभूत परात्पर की है।

१. नाम विशिष्ट रस रूप मय जो परात्पर कहा गया है, जिसके प्रादुर्भूत हो जाने के अनन्तर अव्यय आदि तीन पुरुषों का प्रादुर्भाव हुआ है। उस परात्पर में कला रूप विभाग नहीं है—अतः वह एक रूप ही गिना जाता है। सबमें प्रधान होने के कारण वह एक कला रूप में गिना जाता है।

इस षोडश कल पुरुष का वर्णन (कौ० ब्रा० २६।८) में "स इत्थं षोडश कलः पुरुषः (षोडशी)। षोडषकलं वा इदं सर्वम्"। करते हुए सारे जगत् को १६ कला रूप बताया है। इन पुरुषों में अव्यय कार्य कारणातीत है। अक्षर निमित्त कारण और क्षर पदार्थ स्वरूप से जुड़ा हुआ समवायी कारण है। इनके परिणाम रूप में सारे कार्य रूप पदार्थ है, यह इनका विभाग क्रम है।

क्षरविकाराः सर्वेऽप्यमी अक्षरादेव जायन्ते। ते चाक्षरप्राणा ब्रह्मविष्णिवन्द्राग्नि-सोमाख्याभिः प्रतीताः पञ्चजातीया एव भवन्ति। तेषु चायं मध्यमः प्राणः इन्द्रः प्रति-पत्तव्यः। "एकैको वै जनतायामिन्द्रः" (तै० ब्रा० १।४।६) इति श्रुतिसिद्धान्तात्। स हि सर्वानन्यांस्तान् प्राणानिन्द्रियेणेन्धे। त इद्धाः सप्त नानापुरुषानसृजन्त। तैरेव सप्तभिः पुरुषैः स पूर्वनिरुक्तोऽति[1]ष्ठावा पुरुषो गर्भीभवति। एष खलु पुराणः पुरुषः सप्तस्वेतेषु यज्ञपुरुषे-ष्ववारपारीणोऽभिव्याप्नोति।

ये सम्पूर्ण क्षर विकार अक्षर से ही उत्पन्न होते हैं। इनके उत्पादक अक्षर प्राण—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि तथा सोम नाम से पांच जातीय होकर प्रख्यात होते हैं। इनमें यह मध्यम प्राण इन्द्र है यह ध्यान रखना चाहिये (तै० ब्रा० १।४।६) 'एकैको वै जनतायामिन्द्रः' इस वचनानुसार सारे संसार में इन्द्र की स्थिति का निर्देश हो रहा है, यह ही वैदिक सिद्धान्त है। ये इन्द्र ही अन्य सारे प्राणों को इन्द्रियों से दीप्त करता है। अन्य प्राण प्रदीप्त होकर सात प्रकार के भिन्न पुरुषों की सृष्टि कर देते हैं। उन सप्त पुरुषों द्वारा वह पहले बताया गया अतिष्ठावा पुरुष गर्भीभूत सा हो जाता है।

१. अतिष्ठावा—सारे विश्व में व्यापक है तथा जगत् के आवागमन रूप भाव का अतिक्रमण करके स्थित है—यह अव्यय आदि तीनों पुरुषों का समष्टि रूप है। इसके ही अन्तः स्थित, इसके गर्भीभूत सप्त पुरुष हैं—जिनका विवरण आगे किया जायगा। वे यज्ञ पुरुष कहे जाते हैं। सर्व व्यापक पुरुष तो पुराण पुरुष कहलाता है)। यह प्रसिद्ध पुराण पुरुष इन सातों यज्ञ पुरुषों में आर पार परिव्याप्त हो जाता है।

[२]तत्र यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ, यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ, त इमे चत्वारः पुरुषा आत्मा। यस्य वा शरीरभागस्य सत्त्वे शरीरिणः सत्त्वं न च्यवते सोऽङ्गी पुरुषोऽङ्गपुरुषाणामात्मा। येषां तु विनाशेऽपि वस्तुनः सत्त्वं नापोह्यते, तान्यङ्गानि पक्षपुच्छानीति विद्यात्। अथैतस्मादात्मनः पुनरन्यौ द्वौ पुरुषौ पक्षौ। तावाकुञ्चनप्रसारणाभ्यां विक्रमहेतू भवतः॥ अथ पुच्छमेकः प्रतिष्ठाप्राणः॥ यतः खलु शरीरमिदं पृथि[३]व्यनुगृहीतं तदायत्तं दृश्यते स प्रतिष्ठाप्राणः। तदित्थं [४]सप्तभिः पुरुषैः कृतरूपो योऽयमेकः पुरुषः, स चित्यो[५]ऽग्निः॥ स प्रजापतिः। तस्मिन्नेते चीयमानाः सप्त पुरुषाश्चित्यं शरीरं नाम॥ अथ यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीर्यो रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदोहन्। सोऽयमत्र चितेनिधेयोऽग्निः। तदस्य शिरोऽभवत्। तस्मिन्नेतस्मिन् सर्वे देवा:[१] श्रिताः। अत्र हि सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति।

उक्त सप्त पुरुषों का विभाग क्रम यह है—नाभि के ऊपरी भाग में दो पुरुष प्राण, नाभि से नीचे के दो प्राण, ये चार पुरुष आत्मा स्थानीय होते हैं। जिस शरीर भाग की सत्ता रहते शरीर धारी के प्राण विच्युत नहीं होते वह अङ्गी पुरुष रूप में अङ्गभूत पुरुषों का आत्मा माना जाता है और जिन शरीर भागों के नष्ट हो जाने पर भी वस्तु की स्वरूप सत्ता समाप्त न होकर जीवन बना रहता है, उनको अङ्ग भाव में पक्ष, पुच्छ समझना चाहिये। आगे चार पुरुष समुदित इस आत्मा से दो पुरुष प्राण पक्ष रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। ये संकोच और प्रसार रूप से विक्रमण के हेतु बनते हैं। अन्तिम सप्तम प्राण अकेला पुच्छ रूप में प्रतिष्ठा प्राण कहलाता है। जिसके आधार से यह शरीर पृथिवी से अनुगृहीत होकर उसके सहारे टिका दिखाई देता है—वह प्रतिष्ठा प्राण है।

३. यहां पृथिवी शब्द को उपलक्षण ही मानना चाहिये। हमारा शरीर पृथिवी का एक अंश भाग है, अन्य चार भूतों की अपेक्षा पार्थिव अंश अधिक होने से पार्थिव भी कहा जाता है—पृथिवी से ही यह उत्पन्न होता है—इसलिये इसका प्रतिष्ठा प्राण द्वारा पृथिवी से ही सर्वाधिक सम्बन्ध होता है, इस दृष्टि से पृथिवी पद कह दिया गया है। वास्तव में तो अपनी समष्टि सहित अपने

को उत्पन्न करने वाले से सम्बन्ध स्थापन करने वाले प्राण को पुच्छ नाम से प्रतिष्ठा प्राण मानना चाहिये।

इस प्रकार इन सात पुरुषों से समन्वित जो रूप बनता है, वह एक पुरुष चित्य अग्नि है। यह प्रजापति कहा जाता है।

४. इस तरह की सात रूपों में विभक्त प्राणों की यह स्थिति हमारे शरीरों में भी उपलब्ध होती है। वैदिक दर्शनानुसार मानव शरीर में चार गुहा स्थान माने गए हैं—वे शिरो गुहा, उरो गुहा, उदर गुहा और बस्ति गुहा रूप हैं। प्रत्येक गुहा में इन्द्रिय रूप से सात विभागों से विभक्त प्राणों की स्थिति रहती है। मूल ग्रन्थ निर्दिष्ट प्रक्रियानुसार इन गुहाओं में शिर भाग की गुहा सारे शरीर की सारभूत श्री रूप है, यह ज्ञानेन्द्रियों के रूप में दीप्तमान देवताओं का स्थान है। इस शिर भाग में भी सारभूत प्राणों की सप्तधा स्थिति है, जैसे पक्ष रूप में बाहर निकले हुए दो कान, आत्मा रूप में प्रतिष्ठित दो नेत्र तथा दो नासिका बिल ये चार प्राण और प्रतिष्ठा रूप पुच्छ स्थानीय मुख का बिल सप्तम। श्री रूप में अवस्थित इन सातों की भी मुख्य श्री ब्रह्मरन्ध्र है, यह सूर्य से सम्बद्ध है। जहां आर्यजन स्थान की सर्वश्रेष्ठता मानते हुए ध्वजा रूप में शिखा धारण करते रहे हैं। यह शिखा केवल प्रधानता बताने वाली ध्वजा रूप ही नहीं है, अपितु साधना जनित तथा सुकर्म जनित जो अतिशय (नई शक्ति) प्राप्त होती है—उसके शरीर से बाहर निकलने की अवरोधक होती है। आधुनिक विज्ञान भी यह मानता है कि केश विद्युत् प्रवाह के निवारक होते हैं। वक्षस्थल रूपिणी दूसरी उरो गुहा में बाहर निकले हुए दो हाथ पक्ष स्थानीय हैं, दो फुफ्फुस और दो स्तन ये चार और इनमें वर्तमान शक्ति आत्मा स्थानीय हैं, सातवां हृदय प्रतिष्ठा रूप पुच्छ स्थानीय है। इनका सारभूत श्री रूप कण्ठकूप शिरः स्थानीय है। तीसरी उदर गुहा में दक्षिण और वाम आंतें पक्ष स्थानीय हैं, वे बाहर निकलने को उद्यत होती हुई भी सूर्य के क्रान्तिवृत्त के परिवर्तित होने से दो रूपों में मुड़ जाने से दोनों ओर मुड़ जाती हैं। "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता" इस वचन द्वारा भगवान् वेद सूर्य को ही सब प्राणियों का जनक बता रहे हैं, सूर्य की गति के अनुसार ही शरीर का सन्निवेश होता है यह विषय अन्यत्र विस्तार से खोजा जा सकता है। तदनन्तर यकृत्, प्लीहा, आमाशय और पक्वाशय ये चार आत्मा स्थानीय हैं, इनकी अवयव भूत प्राण शक्तियां प्रत्येक की कार्य निर्वाहक होती हैं। नाभि इस उदर गुहा की पुच्छ रूप प्रतिष्ठा बनती है। इनकी सारभूत श्री हृदयरन्ध्र हैं—जो उरो गुहा का पुच्छ रूप कहा गया था। आगे चतुर्थ बस्ति गुहा में बाहर निकले हुए दो चरण पक्ष स्थानीय हैं, लिङ्ग से सम्बद्ध दो छिद्र (वीर्य और मूत्र निकालने वाले), दो अण्डकोश ये चार और इनकी शक्तियां आत्मा स्थानीय हैं। गुदा पुच्छरूप में प्रतिष्ठा है। इनकी शिर भाग रूप श्री नाभि है जो उदर गुहा की पुच्छ मानी गई थी। इस प्रक्रिया से ही सर्वत्र सातों प्राणों की स्थिति विवेचक विद्वानों को देखनी चाहिये।

५. चित्योऽग्निः—अक्षर पुरुष की कलाओं में अग्नि और सोम जगत् के उत्पादक रूप में व्याख्यात हुए हैं, उनमें अग्नि के दो भेद हो जाते हैं—एक चित्य दूसरा चितेनिधेय। यह अग्नि प्राण रूप है, यह सब वस्तुओं का विधारक है, इन्द्रियों से ग्रहण में न आने से यह परोक्ष ही है। पंचभूतों से निर्मित अवयवों के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला सोम है। इस सोम में ऊपर नीचे के

विन्यास रूप क्रम से शक्ति रूप में अग्नि का चयन होता है—इस प्रक्रिया से वस्तु का स्वरूप बनता है, अग्नि के अनुसार ही सोम का भी ऊपर नीचे के क्रम से ही सन्निवेश होता है। इस प्रकार वस्तु के स्वरूप निर्माण में संलग्न अग्नि को वैदिक परिभाषा में चित्य अग्नि कहते हैं और जो अग्नि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' अर्थात् वस्तु निर्माण कर उसमें ही प्रविष्ट हो गया, इस नियम से, पदार्थ के पूरे स्वरूप के बन जाने के अनन्तर पदार्थ का प्राणभूत होकर उसमें शक्ति के रूप में प्रविष्ट होता है, वह चितेनिधेय कहा जाता है। अन्यत्र दूसरे प्रकार से भी अग्नि की द्विविधता बताई गई है। एक शरीराग्नि और एक प्राण रूप पुरुष अग्नि। इनमें जो सात यज्ञ रूप पुरुष कहे गए हैं, वे शरीर रूप है। इन सातों का नियामक त्रिपुरुष रूप पुराण पुरुष प्राण रूप है। शरीरगत सातों पुरुष चित्य-अग्नि रूप हैं। श्री रूप जो शिर का भाग है—वह चितेनिधेय है, यह आगे मूल में ही स्पष्ट कर दिया है।

शरीराभिमानी प्रजापति में चयन भाव में आये हुए सात पुरुष चित्य शरीर रूप हैं। इन सातों पुरुषों का श्री भूत जो रस था उसे ऊर्ध्व भाग में उठा दिया गया—वो इसमें चितेनिधेय अग्नि है। वह इस शरीर का शिर बन गया। इस मस्तक रूप शिरो भाग में सारे देवता[1] रहते हैं। इसमें जो भी हवन होता है—वह देवताओं के लिये होता है।

१. शरीर में शिर देवताओं का स्थान है। मस्तक में ज्ञान रूप में जो भी अनुभूति होती है, उससे देवताओं का ही पोषण होता है, अन्य स्थूल शरीर का नहीं।

इत्थं च प्रथमः पुराणपुरुष आधारः। स हि सप्तानामेषामावपनरूपत्वादेकीभावायोपयुज्यते। तं वयो[2]नाधपुरुषं वक्ष्यामः। तत्रैते सप्त पुरुषा वयांसि। सप्ताप्येते चित्योऽग्निरेकः शरीरम्॥ अथैतस्मिन्नाधीयमानाः सप्त [3]श्रियो निधेयाग्निः पुरुषः। स आहवनीयः। तथा चेत्थं वयो[4]नाधपुरुष (१) वयः पुरुषा (२) हवनीय पुरुषैरेतैं (३) रतिष्ठावाग्नि (१) चित्याग्नि (२) निधेयाग्नि (३) भिर्वा कृतरूपे पुरुषे प्रजापतिशब्दो निरूढो द्रष्टव्यः॥

इस प्रकार त्रिपुरुष रूप अक्षर—पुराण पुरुष सबका आधार है। वह इन सातों पुरुषों का आधार होने के कारण इन सातों को एक रूप में लाने में उपयुक्त होता है। उसको वयोनाध[2] पुरुष कहेंगे। वहां ये सात पुरुष वयस् रूप हैं। इन सातों का चित्य अग्नि रूप में एक शरीर बनता है।

२. अन्य प्रकार से भी अग्नि की द्विविधता कह रहे हैं—वयस् और वयोनाध ये वेद के पारिभाषिक शब्द हैं। जिसमें अनेक सम्मिलित होकर ठहर रहे हों—वह वयोनाध कहलाता है, यह एक पञ्जर के समान है। जो इसमें समन्वित होते हैं वे वयस् कहे जाते हैं। आवपन (आधार) वयोनाध है। एकत्रित होने वाले आधेय वयस् हैं। उक्त सात पुरुष जो यज्ञ कहे गये हैं, वे पुराण पुरुष में एकत्र होकर एक हो जाते हैं—अतः पुराण पुरुष वयोनाध है और यज्ञ पुरुष वयस् रूप हैं।

वयोनाध में स्थिति पाये हुए सात यज्ञ पुरुषों की श्री भूत चिते विधेयाग्नि रूप पुरुष है। वह आहवनीय अग्नि कहा जाता है।

३. सात यज्ञ पुरुषों की सारभूत श्री जो शिर के रूप में शरीर के ऊपर विराजमान है, जिसमें देवताओं का वास है और देवताओं के निमित्त ही जिसमें हवन होता है—यह कहा जा चुका है। वह संस्था हवन का आधार होने के कारण आहवनीय पद वाच्य होती है।

इस प्रकार वयोनाध[४] पुरुष (१) वयः पुरुष (२) हवनीय पुरुष (३) इन तीन पुरुषों से, अथवा इनके ही नामान्तर—प्रतिष्ठानाग्नि (१) चित्याग्नि (२) और चितेनिधेयाग्नि (३) से जिसका स्वरूप निष्पन्न हुआ है—उस संस्था में प्रजापति शब्द को रूढ जानना चाहिये।

४. वयोनाध आदि तीन शब्द और प्रतिष्ठावा अग्नि आदि तीनों शब्दों को पर्यायवाची समझना चाहिये। इन का समवेत रूप प्रजापति कहा जाता है। नाभि केन्द्र स्थित नभ्य प्रजापति और सर्वप्रजापति इस प्रकार प्रजापति के दो रूप पहले व्याख्यात हुए हैं। वेद में अन्य प्रकार से भी प्रजापति के दो रूप परिभाषित हुए हैं—प्रजा की पृथक् संस्था मानकर—उसका अधिष्ठाता एक प्रजापति। तथा प्रजापति में प्रजा को भी अन्तर्भावित करके 'प्रजा सहितः पतिः, प्रजापतिः' इस समास से सर्वप्रजापति रूप दूसरा, क्योंकि प्रजा प्रजापति से उत्पन्न हुई है, उसे उससे पृथक् नहीं माना जाकर प्रजापति के स्वरूप में ही प्रजा का सन्निवेश मान लिया जाता है। अर्थात् शरीर संस्था को पृथक् रखते हुए—उसका अधिष्ठाता केवल आत्मा रूप प्रजापति और शरीर विशिष्ट आत्मा भी प्रजापति, इस प्रकार जानना चाहिये। वहां पृथक्-पृथक् गणना में सातों पुरुष प्रजा वा शरीर हैं। त्रिपुरुष संवलित जो एक पुरुष है—वह प्रजापति रूप आत्मा है। समष्टि भूत पुरुष के निरूपण में तो सबका सम्मिलित रूप प्रजापति होता है। आगे भविष्य में उत्पन्न होने वाली प्रजा का भी यह समष्टि भूत प्रजापति ही आत्मा होता है।
इस विषय का स्पष्ट बोध कराने के लिये परिचयात्मक चित्र यहां दे दिया गया है। इस चित्र में सात यज्ञ पुरुष आत्मा, पक्ष, पुच्छ रूप में क्रमशः सन्निविष्ट हैं। मध्य में चार आत्मा स्थानीय, दोनों भागों में दो पक्ष रूप और नीचे प्रतिष्ठा रूप पुच्छ। इन सातों यज्ञ पुरुषों में प्रत्येक में सोलह कलाओं से षोडशी नाम की त्रिपुरुष समष्टि से सम्पन्न की गई संस्था अन्तर्गभित रहती है—अतः सोलह को सात से गुणित करने पर गणना ११२ वयस् संस्था की होती है। इन सब के नाम अलग कोष्ठकों में पार्श्व भाग में लिखित हैं। वयस् के भेद से वयोनाध वा अधिष्ठाता आदि में भी भेद हो जाता है। उनकी भी इस ही प्रकार से सप्त गुणित गणना से ११२ वयोनाध पुरुष हो जाते हैं—इस प्रकार २२४ पुरुष संख्या होती है—इस संख्या के साथ वयस् पुरुषों की सार भूत श्री और वयोनाधों की श्री इन दो का सम्मेलन करने पर २२६ पुरुष संख्या निर्दिष्ट हुई है। यद्यपि दोनों श्री भी षोडश कलाओं में अवयव रूप में समन्वित हैं तथापि उनका चित्र में सन्निवेश नहीं है, इसलिये उनकी गणना भी नहीं की गई है। इस रूप में चित्र विचार करना चाहिये।

तमेतं प्रजापतिं सर्वासु भूतसृष्टिषु बीजं विजानीयात् ।। नैतमव्ययं क्षराक्षरसंपन्नं प्रजापतिं विना कदाचिदपि क्वचिदपि काचिदपि भूतसृष्टिः कथमपि संभाव्यते ।।१।। उक्तं च "एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते । यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाताः । एतम्वेवाप्येतर्ह्य नु-

प्रजायन्ते" (शत० ४।२।३।१६) इति ।। (शत० ४।४।८।१) एष ह वै प्रजापतिः सर्वं करोति ।। (शत० १३।२।६।१) ।। इत्यादि ।

इस ही समष्टि भूत प्रजापति को पंचभूतमयी सृष्टि में बीज रूप मूल कारण जानना चाहिये । इस अव्यय, अक्षर और क्षर से सम्पन्न प्रजापति के बिना कभी भी, कहीं भी, कोई भी भत सृष्टि कथमपि सम्भव नहीं होती । शतपथ (४।२।३।१६) में कहा गया है "एप वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्त्यायते । यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाताः । एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते" यह जो यज्ञ का विस्तार है यह प्रजापति रूप है—जिससे ये प्रजा उत्पन्न होती हैं । भविष्य प्रजा भी इस से हा होती हैं । यह प्रजापति ही सब कुछ करता है आदि ।

स एष प्रजापतिः [1]परात्पर एव तावत् स्याद्, यावदमुष्मिन् त्रयो विद्या ब्रह्म नाविर्भवेत् । विद्याब्रह्मव्यतिरेके तस्य दिग्देशकालानवच्छिन्नेन परात्परेणानन्यत्वात् पार्थक्येनोपपत्तिर्नास्ति । स्वभावतश्चायं सर्वतः पूर्वं ब्रह्मैवात्मनि संसृजति— त्रयीं विद्याम् ।।

निर्विशेष एकमेवाद्वतोय परात्पर ब्रह्म ही प्रजापति रूप में आता है । जब तक परात्पर में त्रयी विद्या रूप वेद का आविर्भाव नहीं होता तभी तक वह निर्विशेष रहता है—क्योंकि त्रयी विद्या रूप वेद विभाग के बिना ब्रह्म, दिशा, देश, काल से सीमायुक्त नहीं हो पाता—अतः वह सर्वथा एकरूप परात्पर से अनन्य है, उसमें पार्थक्य की कोई उपपत्ति नहीं होती । स्वभावतः वह परात्पर सर्वप्रथम अपने स्वरूप में ब्रह्म (वेद) का सर्जन करता है । त्रयी विद्या का ।

१. पहले प्रलय अवस्था में बल के प्रसुप्त हो जाने पर, एकमात्र अद्वितीय रस ही ब्रह्म पद वाच्य होता है । सृष्टि काल में बल के जाग जाने पर बल विशिष्ट रस वेद में परात्पर कहलाता है, जिसे वेदान्त में विशिष्ट ब्रह्म कह कर व्यवहार किया जाता है । तदनन्तर क्रमशः तीन पुरुषों का प्रादूर्भाव होता है, उसके अनन्तर सात यज्ञ पुरुष आविर्भूत होते हैं, यह निरूपण किया जा चुका है । अब, परात्पर नाम से जो बल विशिष्ट रस कहा गया है, उससे पुरुष का प्रादुर्भाव कैसे होता है और उस पुरुष में परात्पर की अपेक्षा क्या विशेषता है, जिस से उसका पुरुष यह नाम पृथक् हो जाता है, इस की व्याख्या अन्य ग्रन्थों में विस्तार से की गई है, संक्षेप में यहां भी बता रहे हैं । आशय यह है कि—जागरित हो जाने पर बल स्वभावतः स्वयं सीमाभावापन्न होने से निःसीम रस को भी ससीम दिखा देता है, इस कारण ही सीमाभाव का साधन होने से बल को माया कहते हैं—यह निरूपण पूर्व किया जा चुका है । इस प्रकार सीमाभाव से परिच्छिन्न अनन्त पुरुष नाम से कहे जाने वाले तत्वों के प्रादुर्भूत हो जाने पर एक-एक सीमाभाव में आया हुआ तत्व दूसरे को अपने में अन्तर्गत करने के लिये उद्यत होता है—क्योंकि जो अब तक सीमा में केन्द्रित नहीं था वह केन्द्रित हो जाने पर भी निःसीम की तरह अपने निज स्वरूप को प्राप्त करने की चेष्टा करता है—यह एक प्राकृतिक नियम है । जैसे किसी बड़े सरोवर में से पृथक् किया हुआ एक जगह रोका हुआ जल समूह चारों ओर बांधे गये बांध को तोड़कर सरोवर रूप अपने घन भाव की तरफ मिल जाने के लिये निकल पड़ता है । जैसे हमारे शरीर में केन्द्रित सूर्य से प्राप्त सौरप्राण प्रतिदिन ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर सूर्य में जाता रहता है—यह आगे मूल

में कहा जायगा। जैसे अन्तःकरण से केन्द्रित हम लोगों का जीव स्वभावतः उपाधि भूत शरीर को छोड़कर व्यापक भाव प्राप्त करने के लिये—भूमा भाव में जाने के लिये मुक्त हो जाने की इच्छा किया करता है आदि। यह ही प्राकृतिक नियम बृहदारण्यक आदि में अशनाया नाम से परिभाषित हुआ है, ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में इसका विस्तार से निरूपण होगा। इस प्राकृतिक नियम के अनुसार ही सीमा में घिरा हुआ तत्व व्यापक होकर अपने से भिन्न अन्य सबको अपने में निविष्ट करके व्यापकता में जाने के लिये उद्यत होता है। तत्व का यह उत्थान वेद में उक्थ नाम से परिभाषित हुआ है--उत्थ को ही परोक्ष भाषा में उक्थ कहते हैं। प्रदेश विशेष में व्यापन रूप गति को अर्क पद से वेद में व्यवहृत किया है—जैसा कि (बृहदारण्यक १ अ० २ ब्रा०) में "सोऽर्चन्नचरत् अर्चतो वै मेऽर्कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम्" इत्यादि में गतिभाव की ही अर्कता कही गई हैं। अब जो अन्य तत्व को आत्मसात् किया जाता है—उसे अशिति (भोजन) कहते हैं। उत्तरार्द्ध मूल में ही इस सारे विषय का विवरण होगा।

ये उक्थ, अर्क और अशिति भाव ही वैज्ञानिक वेद कहे जाते हैं। इन वेदों के द्वारा ही पुरुष का स्वरूप सम्पादन होता है। ये वेद का प्रादुर्भाव होना ही परात्पर से पुरुष भाव की विशेषता है। ये ही अपौरुषेय वेद हैं, पुरुष संस्था इन से ही बनती है—अतः पुरुष प्रादुर्भाव से भी पूर्व इनका प्रादुर्भाव होने से अपौरुषेय कहना उचित ही है। ये वेद ही ब्रह्म के विश्वास भूत हैं—क्योंकि स्वभावतः ही इनका ब्रह्म से प्रादुर्भाव होता है। अव्यय पुरुष की पंचम कला जो वाक् नाम की कही गई है वह अन्य कलाओं की अपेक्षा स्थूल है, उसके सहारे से ही इन वेदों का प्रादुर्भाव होता है, सर्वप्रथम तो इनकी स्थिति अप्रकाशित ही रहती है इसलिये वेदों को वाक् का विवर्त कहा जाता है। वाक् रूप से इन तीनों की एकता ही रहती है, अतः तब तक वाक् रूप एक ही वेद संस्था होती है, आगे उक्थ आदि रूप से तीन भेद होते हैं। उनमें उक्थ—ऋग्वेद है, अर्क यजुर्वेद और अशिति सामवेद है। ये ब्रह्म के निःश्वास रूप वेद हैं। इनमें अर्क का अग्नि नाम से और अशिति का व्रत नाम से वेद में बहुधा व्यवहार होता है। ये वेद सर्वत्र व्याप्त हैं। इनकी त्रिरूपता का निरूपण ग्रन्थकर्ता ने अन्यत्र—रस वेद १ वितान वेद २ छन्द वेद ३ रूप से किया है। इन वेदों का स्पष्ट प्रादुर्भाव सूर्य मण्डल में होता है, सूर्य में आकर ये गायत्री मातृक वेद कहे जाते हैं। विद् धातु ज्ञानार्थक है। यद्यपि शब्द सम्बन्धी ज्ञान जनक ग्रन्थविशेषों की ही वेद नाम से लोक में प्रसिद्धि है, तथापि वैदिक परिभाषा में जिन साधनों से वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वे भी वेद ही माने जाते हैं। पिण्ड भावगत जो वस्तु एक स्थान पर रहती है, वह नेत्र से दूर रहने से हमारे देखने में नहीं आती। वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में प्राचीन कुछ विद्वानों की कल्पना है कि प्रत्यक्ष करने के लिये नेत्र ही बाहर जाते हैं, यह कल्पना समुचित नहीं है—क्योंकि भोग का साधन तो शरीर ही है, अतः शरीर से बाहर जाकर इन्द्रियां ज्ञान की जनक बनें वह सम्भव नहीं हो सकता इसका विस्तार से विवेचन अन्यत्र ग्रन्थकर्ता ने किया है और हमने भी महर्षि कुल वैभव नामक ग्रन्थ की व्याख्या में किया है। प्रकाश की किरणें वस्तुओं का स्पर्श करके हमारे नेत्रों पर आकर वस्तु का ज्ञान कराती हैं यह आधुनिक वैज्ञानिकों का मत भी समुचित नहीं है इसकी विवेचना भी अन्यत्र की जा चुकी है। वैदिक विज्ञान के अनुसार वस्तु के केन्द्रगत प्राण जितनी शक्ति से दूर पर्यन्त चारों ओर प्रकाश किरणों से घिरे हुए किरणों

सहित प्रसरित होते हैं, उनके साथ ही चक्षु का सम्बन्ध होने से वस्तु का ज्ञान उदित होता है। ये प्राण अग्नि से उत्पन्न, अग्नि रूप ही होते हैं अतः वेद में इनका व्यवहार अग्नि पद से ही होता है। यह अग्नि भौतिक अग्नि न होकर, अक्षर पुरुष की कला रूप है। वस्तुगत प्राणों की जितने प्रदेश में व्याप्ति होती है—उस प्रदेश के अन्तर्गत जन ही उस वस्तु को देख सकते हैं, उस प्रदेश से बाहर नहीं। वस्तुओं में प्राणों का वास न्यून-अधिक तारतम्य से होता है, छोटे पदार्थ में न्यून बड़े में अधिक, उन प्राणों की जितनी ताकत होती है, उतने ही प्रदेश में उनका फैलाव होता है—इसलिये सुई पास वाले सन्निकट जनों को ही दिखाई देती है और पर्वत आदि बहुत दूर से दीख जाते हैं। वहां वस्तुओं की जो पिण्ड (आकार) मय मूर्ति है, उसको वेदत्रयी में "ऋक्" कहा जाता है, ऋचा रूप प्राण ही उस मूर्ति के निर्मापक होते हैं, यहाँ तक देखना चाहिये। इन प्राणों का अन्तिम मण्डल 'साम' नाम से ख्यात होता है, मध्य में व्याप्त प्राणों को 'यजु' कहते हैं, यह वैदिक परिभाषा है। जैसा कि (तै० ब्रा० ३।१२।६।१-२) में आम्नात है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः, सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत् सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्"॥

ऋग्वेद से सम्पूर्ण मूर्तियों का उद्भव, प्राणों की मध्य गति की यजु रूपता, प्राण मय अग्नि मण्डल की साम रूपता का निर्देश करके अन्त में ब्रह्म की ही सारी सृष्टि है से सर्वादि रस भाव को सूचित कर दिया। यह तैत्तिरीय श्रुति प्रतिपादित है। (शत० १०।५।२।१, २) में उल्लेख है "यदेतन्मण्डलं तपति तन् महोक्थम्, ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन् महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, सहि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति"। सूर्य का सम्पूर्ण भाव कह दिया गया, मण्डलात्मक संस्था 'महान् उक्थ है' यह ऋचा रूप है, यह ऋचाओं का लोक है। इस मण्डल से जो तेजोमय किरण मण्डल व्याप्त हो रहा है, वह महाव्रत है, यह साम है, यह साम लोक है। जो इस सूर्य मण्डल में पुरुष है, वह अग्नि है, यह ही यजुः है, यह यजुर्लोक है। यह त्रयी विद्या ही तप रही है। ब्रह्म के विस्तार रूप ये वितानवेद कहे जाते हैं। उक्थ आदि रूप से जो मूलभूत ब्रह्म निःश्वास रूप वेदों का पूर्व व्याख्यान हुआ है, शतपथ ब्राह्मण में महोक्थ, महाव्रत, अग्नि शब्दों से उनका ही संकेत किया गया है। सूर्य में ही वेदों का स्पष्ट भास होता है यह पहले कहा जा चुका है, अतः सूर्य को ही आधार बनाकर ब्राह्मण ग्रन्थ ने उनका बोध कराया है, इस सूर्य के दृष्टान्त से ही सर्वत्र तीनों वेदों की व्याप्ति का अनुसंधान करना चाहिये। सूर्य से ही सब वस्तुओं में इनकी व्याप्ति होती है। अन्य सर्व सामान्य प्राणों का उक्थ पद से हमने व्यवहार किया है, सूर्य का वह उक्थ सबसे बड़ा है अतः शतपथ में उसे महोक्थ कहा है। अशिति (अशन) और व्रत पद से जिस साम की व्याख्या हमने की है, उसे ब्राह्मण ने महाव्रत कहा है। अन्यत्र सर्वत्र साम-व्रत पद से कहा जाता है, सूर्य में महान् होने से महाव्रत कहलाता है। अर्क का व्यवहार अग्नि पद से किया गया है। सर्वत्र व्यापक होने वाले प्राण अग्नि से ही प्रादुर्भूत होते हैं यह पूर्व कहा जा चुका है। इस त्रयी में ऋक् और साम आयतन (आश्रय) मात्र होते हुए पंजर स्थानीय वयोनाध रूप हैं—इनमें व्याप्त मुख्य तत्व वयस् रूप यजुः है, इसको शतपथ में पुरुष पद से कहा है। शतपथ ब्राह्मण में परोक्ष विधि से यत् और जूः

इन पदों से यजुः की व्युत्पत्ति बताई है, अर्थात् परोक्ष प्रक्रिया से बना यज्जूः प्रत्यक्ष में यजुः कहा जाता है। यत् से चलन शील वायु का संकेत है और जूः पद से सदा स्थिति शील आकाश का। ये आकाश और वायु ही सारे संसार के जनक हैं यह विषय वहां स्पष्ट किया गया है।

अन्य बहुत से ब्राह्मण ग्रन्थों में उक्थ, अर्क, अशिति नाम से हीं व्यवहार है। श्रुति में "ऋच्यधि-रूढं साम" यह निर्देश है तदनुसार साम, ऋक् के बिना कभी नहीं रहता अतः स्वतः सिद्ध है कि ऋचा रूप प्राण भी साम प्राणों के साथ अन्तिम साम पर्यन्त व्याप्त रहते है। उनमें क्रम यह है कि मूर्ति का केन्द्रगत बिन्दु स्थिर भाव में ही रहता है, उसका प्रसार नहीं होता, उसकी विच्युति से तो मूर्ति की लोप सम्भावना हो जायगी। केन्द्र से बंधे रहने पर ही सबकी सत्ता रहती है, केन्द्र के विच्युत हो जाने पर तो वस्तु स्वरूप नहीं रह सकता। इस केन्द्र की प्रजापति रूपता पहले निरूपित हो चुकी है। केन्द्र बिन्दु के दोनों पार्श्वों में रहने वाले दो बिन्दु सूची (सुई), मुख रूप से विरुद्ध दिशा में तिरछे चलते हुए दूसरे बिन्दु में एकाकार हो जाते हैं —इस प्रकार मुख्य मूर्ति के चारों तरफ जितनी मूर्तियां उत्पन्न होती हैं—वे मूल की अपेक्षा दो बिन्दु परिमाण से न्यून होती है। इसी प्रकार आगे होने वाले बिन्दुओं का भीं केन्द्रगत बिन्दु प्रचलित नहीं होता, उनके भी पार्श्व बिन्दु आगे एकाकार हो जाते हैं अतः तृतीय बिन्दु पर मूल की अपेक्षा चार बिन्दुओं का ह्रास हो जाता है। इस क्रम से ही आगे ह्रास होते रहने से दूर जाने पर पदार्थ का स्वरूप हम को छोटा दिखाई देने लगता है। दूर से पर्वत, वृक्ष आदि छोटे क्यों प्रतीत होते हैं ? इसका स्पष्ट विवरण आधुनिक वैज्ञानिक नहीं कर पाते। वैदिक विज्ञान द्वारा तो उक्त रीति से इसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। वस्तु का छोटापन दिखाने वाले ये छन्दोवेद कहे जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों में पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यु लोक को क्रमशः ऋक्, यजु तथा साम रूप कहा है, वह पृथिवी के वितानवेद के अभिप्राय से समझना चाहिये। पार्थिव अग्नि प्राण भू केन्द्र से निकल कर सौर रश्मि मण्डल पर्यन्त जाता है। अतः पृथ्वी का साम मथन्तर नाम से कहा जाता है—जिस स्थान से सूर्य का रश्मि मण्डल प्रसरित होने लगता है—वह ही सूर्य का रथ कहा जाता है, पुराण आदि में इसका स्पष्ट विवरण है। सूर्य मण्डल स्वयं कृष्ण वर्ण है, उसकी रश्मियों का सर्वत्र व्याप्त सोम में आघात होने से प्रज्ज्वलित रश्मियां प्रसरित होने लगती हैं। यह "आकृष्णेन रजसा वर्तमानों" आदिं सूर्य सम्बन्धी प्रसिद्ध मन्त्र में स्पष्ट निर्दिष्ट है। उस रथ तक पृथ्वी के प्राणों की गति होने से, पृथ्वी का साम मण्डल रथन्तर कहलाता है, रथम् अर्थात् सूर्य रथं तरति, उसका उल्लंघन करके आगे तक जाता है यह तात्पर्य है। सूर्य मण्डल का साम महान् है अतः वह वृहत् साम कहलाता है। इस कारण पृथ्वी के अग्नि प्राण का पृथ्वी से सम्बन्ध होने से पृथिवी मण्डल ही ऋग्वेद स्थानीय है, सूर्य मण्डल के समी उसका साम है। उक्त प्रकार के सूर्य रथ पर्यन्त ही पृथिवी मण्डल अति सूक्ष्म रूप में भासित होता है, उससे आगे फिर नहीं दिखाई देता। मध्य अन्तरिक्ष में व्याप्त पृथिवी प्राण यजुर्वेद रूप हैं, उसके सम्बन्ध से अन्तरिक्ष को ही यजुः कह दिया गया है। गति और स्थिति शील प्राण ही यजुः पद से वेद में आम्नात हुए हैं, यह पूर्व कहा जा चुका है। इनके ही परिणाम भूत वायु तथा आकाश हैं यह भी कहा जा चुका है।

आधुनिक विज्ञान के साथ यह अद्भुत समानता है कि आधुनिक वैज्ञानिक भी एक गतिमान

और एक स्थिर दो 'इलैक्ट्रोन' 'प्रोट्रोन' नाम के तत्वों को ही जगत् का मूल मान रहे हैं। शतपथ ब्राह्मण आदि में भी 'यत्' 'जूः' पद से कहे जाने वाले वैसे ही दो तत्व जगत् के मूल कहे गये हैं। किन्तु यह भेद अवश्य है कि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा आविष्कृत ये दोनों तत्व मूत रूप हैं। इनको उत्पन्न करने वाले प्राण मय तत्व पर और उसके भी उत्पादक अक्षर आदि वेद प्रतिपादित तत्वों पर अभी तक वैज्ञानिकों की अनुसंधान गति नहीं हो पाई है। ये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद अग्निवेद माने गए हैं। सोम का चतुर्थ अथर्ववेद विस्तार मय से यहां नहीं कहा जा रहा है।

इस प्रकार वैज्ञानिक वेद का तत्व, प्रकृत ग्रन्थ की जानकारी के उपयुक्त संक्षेप में यहां विवरित हुआ है। इसकी विस्तार विद्यावाचस्पतिजी के अन्य ग्रन्थों में देखें। यहां तो उक्थ आदि प्राणभूत मूल वेदों का प्रतिपादन ही प्रकृत सापेक्ष है, क्योंकि ये प्राण मय वेद ही पुरुष स्वरूप के आविर्भावक हैं।

स[1]वास्मै प्रतिष्ठा भवति। तस्मादेवाहुर्विद्वांसो महर्षयः—[2]ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्। ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति ॥" (शत० ६।१।१।८।१०)

ब्रह्मणा त्रया विद्ययाक्तः स प्रजापतिरेकैको यज्ञो[3] भवति। "प्रजापतिर्वा एष वितायते यद् यज्ञः ॥"

(तै० ब्रा० १।४।६) इति तित्तिरिश्रुतेः ॥ "एष वै प्रजापतिर्य एव यज्ञस्तायते" (शत० ४।४।८।१) ॥ इति वाजसनेयश्रुतेश्च।

बहुष्वपि सत्सु यज्ञेषु शरीरे तावदिह दश यज्ञा विशिष्य प्रवर्तन्ते। द्वौ चयनयज्ञौ, द्वौ हवनयज्ञौ, द्वौ विराड्यज्ञौ, द्वौ वषट्कारयज्ञौ, द्वौ अन्नपरिग्रहयज्ञौ चेति। येन कर्मणा धातवः [1]शारीरा इहात्मनि प्रचीयन्ते, स एकश्चितियज्ञः। येन कर्मणा अग्निवाय्वादयो देवा [2]वाक्प्राणादिरूपैरिहात्मनि प्रचीयन्ते सोऽन्यश्चितियज्ञः।

वेद[1] रूप ब्रह्म ही प्रतिष्ठा है। अतः विद्वान् महर्षियों ने (शत० ६।१।१।८, १०) में कहा है—वेद[2] ही सम्पूर्ण जगत् के पूर्व प्रादुर्भूत हुए हैं। वेद ही इस सारे जगत् की प्रतिष्ठा हैं।

१. पूर्व कथित वैज्ञानिक वेद ही ब्रह्म से सर्वप्रथम आविर्भूत हुए, इनमें ही सर्वप्रथम मूलभूत ब्रह्म प्रतिष्ठित हुआ है इसलिये वेद ही प्रतिष्ठा रूप कहे जाते हैं।

२. यहां ब्रह्म पद वेद का बोधक समझना चाहिये। ब्रह्म विद्या वा वेद शब्द पर्याय रूप में वैदिक ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। "त्रयं ब्रह्म सनातनम्" मनुस्मृति का वचन, "सैषा त्रयी विद्या तपति" "त्रयो वेदाः" इत्यादि वचनों में समान अर्थ में व्यवहार देखा जाता है।

ब्रह्मरूप त्रयी विद्या से संयुक्त वह प्रजापति एक-एक यज्ञ[3] रूप होता है। प्रजापति का विस्तार ही यज्ञ है। (तै० ब्रा० १।४।६) यह तैत्तिरीय श्रुति वचन। "यह प्रजापति का ही रूप है जो यज्ञ का विस्तार है" (शत० ४।४।८।१) में वाजसनेय श्रुति वचन है।

यज्ञों के प्रकार तो यद्यपि बहुत हैं तथापि शरीर संस्था में विशेषकर दश प्रकार के यज्ञ प्रवृत्त होते हैं। दो चयन यज्ञ, दो हवन यज्ञ, दो विराट् यज्ञ, दो वषट्कार यज्ञ और दो अन्न परिग्रह यज्ञ। जिस क्रिया द्वारा शरीरगत धातुओं की इस आत्मा में चुनाई[1] (चयन) की जाती है, यह एक प्रकार का चिति यज्ञ है। इस ही तरह जिस प्राकृतिक क्रिया से अग्नि, वायु आदि देवताओं का [2]वाक्, प्राण आदि रूप से आत्मा में प्रकृष्ट रूप से चयन किया जाता है, यह अन्य प्रकार का चिति यज्ञ है।

३. यज्ञ की परिभाषा का विवेचन अन्य ग्रन्थों में विस्तार से हुआ है, प्रकृत सन्दर्भ का उपयोगी संक्षिप्त विवरण बोधसौकर्यार्थ यहां भी किया जाता है। मनुष्यों द्वारा संपाद्यमान यज्ञों का विवरण ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वावयव पूर्ण किया है। यज्ञ का लक्षण मीमांसकों ने "द्रव्यदेवता-त्यागो याग:" देवता के उद्देश्य से अपने द्रव्य का त्याग करना, यह किया है। किन्तु ये मानवीय यज्ञ, प्राकृत को आधार बनाकर चलते हैं। इन प्रकृतिगत यज्ञों का संकेत ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ में किये जाने वाले कर्मों की उपपत्ति (वास्तविक उपयोगिता) दिखाने के लिये किया है। उन परम उपयोगी संकेतों को मीमांसकों ने अर्थवाद (प्रशंसा वाक्य) कहकर उपेक्षित कर दिया— क्योंकि यज्ञ की तात्कालिक क्रियाओं में उन उपपत्ति सूचक संकेतों का कोई उपयोग नहीं होता, पद्धति क्रम से कर्म कर लेने में ही उन कर्म मात्र परायणजनों ने अपनी कृतार्थता मानली— यह ही उस उपेक्षा का हेतु है। यज्ञ का मुख्य विज्ञान तो उन अर्थवाद वाक्यों में ही निहित है। प्रकृति द्वारा प्रतिक्षण यज्ञ का सम्पादन होता रहता है, उस यज्ञ से ही जगत् का उत्पादन तथा पोषण होता है, उसके आधार पर ही जगत् का टिकाव है। यदि वह यज्ञ नहीं होवे तो यह जगत् तत्काल नष्ट हो जाय। नवीन पदार्थों का उत्पादन भी प्राय: यज्ञ से ही होता है। जैसा कि भगवद्गीता में कथन है—

> सह यज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति:।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥ इत्यादि।

प्राकृत यज्ञों का गीता में बहुधा विवरण है। उनका विवेचन अप्रासंगिक है, यहाँ वैज्ञानिक यज्ञ प्रक्रिया प्रस्तुत है। संसार दशा में उस यज्ञ प्रक्रिया की बोध सरलता के लिये यह जान लेना प्रथम आवश्यक है कि अग्नि में सोम की आहुती और उससे सोम अग्नि रूपता का हो जाना यह यज्ञ का सर्व सामान्य रूप है। प्रकृति के द्वारा सूर्य मण्डल गत आदित्य-अग्नि में परमेष्ठि मण्डल से अनन्त सोम की आहुती होती रहती है, वह सोम ही सूर्य के प्रकाश रूप में परिणत होकर जगत् में व्याप्त होता हुआ जगत् को जीवन देता है तथा नये जगत् को उत्पन्न करता है। इस प्रकार ही पार्थिव अग्नि में प्रकृति द्वारा तथा ब्राह्मणों आदि के द्वारा हवन किया गया सोम भी सूर्य मण्डल में जाता रहता है अत: सूर्य मण्डल में विराजमान प्रजापति ही मुख्य यज्ञ है। तदनुसार ही पृथिवी मण्डल में स्थित प्रजापति भी यज्ञ है। नभ्य प्रजापति और पूर्ण प्रजापति इन दो प्रजापति विधाओं की व्याख्या पूर्व हुई है। उनमें नभ्य प्रजापति से यज्ञ का उत्थान होता है और सर्व प्रजापति में सम्यक् स्थिति होती है, यज्ञ से ही सर्व प्रजापति की धारणा होती है— अत: दोनों यज्ञ रूप ही हैं। सारे पदार्थों में एक-एक प्रजापति की सत्ता की व्याख्या पहले मूल

में हुई है, वे सब ही यज्ञ रूप हैं, क्योंकि प्राणों का आवागमनक्रम सर्वत्र होता है। वास्तव में न तो कुछ निष्क्रमण होता है. न उसकी पूर्ति के लिये वस्तु में कुछ प्रविष्ट होता है, न वो वस्तु सदा स्थिति पाती है। प्राणधारी शरीरों में, वृक्ष आदि में तथा दीपक आदि में इसका स्पष्ट अनुभव होता है, पत्थर आदि की भी जीर्णता देखकर प्राणों के आवागमन—गति-आगति का अनुमान हो जाता है, यह व्याख्या पूर्व हो चुकी है। पार्थिव अग्नि में बीज रूप तथा जल रूप सोम की आहुति होने से अङ्कुर आदि की उत्पत्ति होती है। जल से ही यज्ञ प्रक्रिया से फेन, मृत्स्ना (चिकनी मिट्टी), सिकता (रेत), शर्करा (कंकड़ीली), पत्थर, लोहा तथा सुवर्ण-सोना आदि की क्रमशः उत्पत्ति होती है, इसका विवरण शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में हुआ है, तदनुसार ग्रन्थकर्ता ने भी अन्यत्र विवरण निज ग्रन्थों में किया है। इस से भी गहन व्याख्या यज्ञ की करने पर—प्राण, ऊर्क (ऊर्जा) और अन्न इन की एक दूसरे के रूप में परिणति भाव को यज्ञ समझना चाहिये। जाठर अग्नि में किया गया अन्न का हवन ऊक् रूप में प्रवृत्त होकर प्राण रूप में परिवर्तित हो जाता है, फिर परावर्तित होकर वह प्राण ऊर्जा में बदलता हुआ अन्न रूप हो जाता है, यह प्रकृतिगत यज्ञ सतत चलता रहता है, उस से ही जगत् की उत्पत्ति और स्थिति बनती है। संयोगज सृष्टि तीन प्रकार की होती है, युद्धधर्म से, मैथुनधर्म से तथा यज्ञ से। जहां दो तत्व अपना स्वरूप छोड़कर अन्य तत्व को उत्पन्न कर देवें—जैसे कोला और शोरा दो मिलकर विस्फोटक बारूद को उत्पन्न कर देते हैं अथवा जैसे अग्नि और जल मिलकर धूम को पैदा कर देते हैं, यह युद्धधर्म है, संघर्ष से दोनों की उत्पत्ति होती है, संघर्ष ही युद्ध है। जहां दोनों स्वरूपतः जीवित रहते हुए तीसरे को उत्पन्न करते हैं, वह मैथुनधर्म है—जैसे प्राणियों से प्राणियों की उत्पत्ति अथवा सूर्य से आतप (घाम) की, पार्थिव रसों से वृक्ष-लता आदि की उत्पत्ति, उनमें पुष्प-फल आदि की उत्पत्ति आदि। जिस जगह दो तत्वों में एक अन्य का अङ्गभूत बनकर तद्रूप बनता हुआ अन्य तत्व का सृजन करता है—वह यज्ञधर्म है—जैसे वायु जल में प्रविष्ट होकर जल रूप बनता हुआ फेन बुद्-बुद् आदि की सृष्टि करता है, ये उदाहरण पूर्व बताये जा चुके हैं। तात्विक दृष्टि से देखने पर तो युद्ध में अथवा मैथुन में भी यज्ञ अनुस्यूत रहता ही है।

वास्तव में तो सारे जगत् के मूल अग्नि और सोम आदि की सृष्टि भी यज्ञ से ही होती है। सर्ग काल के आरम्भ में जो उक्थ अर्क और अशिति की व्याख्या हुई है—वह यज्ञ रूप ही है। अशिति (भोज्य) भी अर्क भाव से पकड़ी जाकर उक्थ भाव में ही परिणत हो जाती है और परावर्तित भाव में उक्थ भी अर्क भाव में आकर अशिति रूपमें परिवर्तित होजाता है। इस प्रकार वेद ही यज्ञ हैं, अथवा यज्ञ ही वेद हैं, इन दोनों की एकरूपता वेदों में व्यवहृत हुई है। इस यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को बुद्धि में जमा कर आगे मूल ग्रन्थ का पर्यालोचन करना उचित होगा क्योंकि वहां नाना प्रकार के यज्ञों का विवरण हुआ है। परिभाषा के ज्ञान हो जाने से ग्रन्थ बोध सुगम हो जाता है, इसलिये परिभाषा का विवरण कर दिया है। आगे विशेष यज्ञों का विस्तार नहीं किया जाता है।

१. आत्मा में जो धातुओं की चिनाई कही गई है, वह रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, शुक्र रूप से होती है। ये धातु आत्मा के अङ्गभूत हो जाते हैं।

२. दूसरे वाक्, प्राण आदि का चयन भी पहले संकेतित हो चुका है कि अग्नि वाक् रूप में और वायु प्राण रूप में परिवर्तित हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि देवताओं से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है।

सूर्यरसः प्राणः। पृथ्वीरसोऽपानः। प्राणोऽपाने अपानः प्राणेऽनवरतमन्योन्यस्मिन् पर्यायेण हूयेते। स एको होमः। तेनायं वैश्वानरोऽग्निरुदेति। अथ व्याने दैवः प्राण आहूयते। तेन प्रश्वासोच्छ्वासौ भवतः॥ श्रूयते च शतपथश्रुतौ—"अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति। स वै दैवः प्राणो यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यतीति"। (१४।३ प्र० ३ ब्रा० २६) सोऽयं द्वितीयो होमः।

सोमं तावदेतम् अग्नावेव योनौ रेतोभूतं सिञ्चति। अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायते। सदश वा आहुतीः संपादयेद्, याभ्यो वषट् क्रियते। अयं वै यज्ञो योऽयं पवते। सोऽयम् एक इवैव पवते, सोऽयं पुरुषेऽन्तःप्रविष्टो दशधा विहितः स एव क्लृप्तैः प्राणैरग्नेर्योनेरधिजायते। सैषा [3]दशाक्षरा विराट् सैषा संपत्। स यज्ञः। (शत० ११।१।२।२-३) इति, "अयं वै प्राणो योयं पवते....योऽयं पुरुषेऽन्तःप्रविष्टो दशधा विहितः। (शत० ५।२।४।१०)॥ सवित्रा[4] प्रसवित्रा, (१) सरस्वत्या वाचा (२) त्वष्ट्रा रूपैः (२) पूष्णा पशुभिः (४) इन्द्रेणास्मे (५) बृहस्पतिना ब्रह्मणा (६) वरुणेनौजसा, अग्निना तेजसा (६) सोमेन राज्ञा, विष्णुनैव दशम्या देवतया (१०) प्रसूतः प्रसर्पामि। (यजुः सं०) (शत० ५।४।४।२)॥ सयैतस्मिन्नात्मन्यपरे दश धर्मा अविनाभावेन युज्यन्ते, तेनाप्ययं विराड् यज्ञः। स यथा [5]"छन्दोभिः सवनैः पृष्ठैर्ऋतुभिर्देवतागणैः॥ ऋग्भिश्च सामभिः प्राणैर्लोकैः स्तोमै विराड् भवेत्॥६॥

शरीर गत प्राण सूर्य के रस से सम्बद्ध हैं। अपान पृथिवी के रस से बद्ध है। प्राण अपान में और अपान प्राण में अनवरत इन दोनों का पर्याय रूप से हवन होता रहता है। यह हवन का एक प्रकार है। इससे वैश्वानर नाम का अग्नि उदित होता है। आगे व्यान प्राण में दैव प्राण की आहुति होती है, उससे श्वास और उच्छ्वास होते हैं। (शतपथ श्रुति १४।३ प्र० ३ ब्रा० २६) में वचन है कि "जल से और चन्द्रमा से दैव प्राण प्रविष्ट होता है। वह दैव प्राण गतिमान रहे अथवा स्थिर रहे किसी अवस्था में क्षुभित नहीं होता अतःक्षीण भी नहीं होता"। यह द्वितीय हवन है।

"चन्द्र से समागत यह सोम, अग्नि रूप योनि में वीर्य भाव से सींचा जाता है। अग्नि यज्ञ की योनि है। यज्ञ का प्रजनन अग्नि से होता है। अतः दश आहुति का सम्पादन करना चाहिये, जिनसे वषट्कार अर्थात् देव योग पूर्ण होता है। ये जो पवन है, यह यज्ञ रूप ही है। यह मानों एकाकी ही सर्वत्र पवमान रहता है। यह वायु पुरुष भाव में भीतर प्रविष्ट होकर दश भेदों में विभक्त हो जाता है, यह ही इन विभक्त प्राणों द्वारा अग्नि रूप योनि से समुत्पन्न यज्ञ भाव में आता है। दश विध [3]अक्षर प्राणों का वा अक्षर रूप शब्दों का यह विराट् भाव है, यह ही सम्पत्ति है। यह ही यज्ञ है" (शत० ११।१।२।२-३)। अन्यत्र भी शतपथ वचन है "यह पवमान वायु ही प्राण है—यह पुरुष में अन्तः प्रविष्ट होकर

दशधा विभक्त है" (शत० ५।२।४।१०) यजुर्वेद संहिता में देव आवेश की प्रक्रिया दश रूप में निर्दिष्ट है—सविता[४] प्राण से प्रसव करने का भाव (१) सरस्वती प्राण से वाणी भाव (२) त्वष्टा प्राण से रूप सम्पदा (३) पूषा प्राण से पशु सम्पत्ति (४) इन्द्र प्राण से अहंभाव (५) बृहस्पति प्राण से ब्रह्मभाव अर्थात् भूमा भाव की प्रवृत्ति (६) वरुण से ओज (७) अग्नि से तेज (८) सोम से अर्थात् चन्द्रमा से राज भाव (शासन) (९) दशम विष्णु देव से प्रसूत होकर यज्ञ संचर होता है" (शत० ५।४।४।२)। इस आत्मा में अन्य दश धर्म भी अनिवार्य रूप से युक्त होते हैं, उससे भी यह विराट् यज्ञ सम्पन्न होता है। वे दश धर्म [५]छन्द, सवन, पृष्ठ, ऋतु, देवता समूह, ऋग्वेद, सामवेद, प्राण, लोक और स्तोम हैं।

३. पहिले के प्रतिज्ञात दो प्रकार के विराट् यज्ञ का विवरण करते हैं। दश अक्षरों का विराट् छन्द वेद में प्रसिद्ध है। उसके ही आधार पर जहां कहीं भी दश का समुदाय होता है, उसका विराट् पद से व्यवहार किया जाता है यह वेद की परिभाषा है।

४. श्रुति में प्रतिपादित विराट् का अङ्गभूत देवताओं का आवेश मन्त्र प्रमाण से स्पष्ट किया है।

५. छन्द, सवन आदि पदार्थों से यज्ञ स्वरूप की पूर्णता होती है। इनकी व्याख्या अन्य ग्रन्थों में हो चुकी है—अतः विस्तार होने के भय से यहां नहीं की गई है।

अथ वेदः सत्यं वाक्। सा वाग् वितायमाना वष[६]ट्कारः। स एकविंशः स्तोमस्त्रयस्त्रिंशस्तोमो वा यज्ञः ॥ तथा च श्रूयते—तद् यत् तत्सत्यं त्रयी सा विद्या। यज्ञं वै कृत्वा तद्देवाः सत्यं तन्वते ॥ (९।५।१।१८) अथापरो वषट्कारो येनायं जैवः प्राणोऽहरहः सूर्यमुपैति अहरहश्चास्मिन्नात्मनि सौरः प्राणोऽन्वावर्तते ॥ श्रूयते च "अहरहर्वा एष यज्ञस्तायते। अहरहः संतिष्ठते। अहरहरेनं स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते। अहरहरनेन 'स्वर्गं लोकं गच्छति"। (९।४।४।१५) इति।

वेद सत्य वाक् रूप है। इस वाक् का विस्तार वषट्[६]कार है। यह विस्तार २१ स्तोम तक अथवा तेतीस स्तोम तक यज्ञ रूप होता है। इस में वेद वचन (शत० ९।५।१।१८) प्रमाण दिया है—"ये जो सत्य नाम से कहा जाता है, वह ऋग्, यजुः, साम रूप त्रयी विद्या है। वास्तव में देवता यज्ञ करके सत्य का विस्तार करते हैं। इस वषट् कार की एक अन्य विधा और है, जिस से जीवधारी का यह प्राण दिन प्रतिदिन सूर्य को प्राप्त करता है और दिन प्रतिदिन ही इस जीवात्मा में सूर्य का प्राण अनुवर्तित होता रहता है। जैसा कि वेद वचन है (शत० ९।४।४।१५) प्रतिदिन यह यज्ञ विस्तृत होता है। इसकी प्रतिदिन नित्य सत्ता है। यह प्रतिदिन इस जीवात्मा को स्वर्ग गति के लिये युक्त करता है। नित्य इसके द्वारा जीवात्मा स्वर्ग लोक में जाता है" स्वर्ग लोक का तात्पर्य सूर्य मण्डल से है। इत्यादि।

६. (वषट् कार और स्तोम—पूर्व प्रतिज्ञात चतुर्थ वषट् कार रूप दो यज्ञ बताये हैं—प्रकृत में वैज्ञानिक प्रक्रिया से स्तोम का स्वरूप बोध भी आवश्यक है अतः उसका भी संक्षेप में विवरण किया जाता है। केन्द्र से निकलकर बाहर व्याप्त होने वाले प्राणों के जो ऋक्, साम और यजुः मंडल पहले व्याख्यात हो चुके हैं उनमें केन्द्र से आरम्भ कर अन्तिम मण्डल पर्यन्त तेतीस विभाग व्यवस्थित माने जाते हैं। वहां तीन भाग तो मूर्तिरूप पिण्ड में ही अन्तर्गत रहते हैं। तदनन्तर

छह, छह भागों का समूह रूप एक एक स्तोम होता है । संस्कृत भाषा में स्तोम समुदाय का नाम प्रसिद्ध है । मन्त्रों का समूह ही स्तोम शब्द से कर्मकाण्ड में प्रसिद्ध है, किन्तु यहां तो उस कर्मकाण्ड की मूलभूत वैज्ञानिक प्रक्रिया की व्युत्पत्ति बताई जा रही है । यहां पूर्वोक्त मूर्ति के अङ्गभूत तीन भागों के अनन्तर सामूहिक छह भागों को जोड देने पर नौ की संख्या होती है, व त्रिवृत् स्तोम कहलाता है । तीन को तीन से गुणित करने पर नौ ही बनते हैं, तदनन्तर और ६ मिलाने पर, १५ का पंचदश स्तोम, फिर ६ के योग से २१ स्तोम, फिर २७ स्तोम, फिर तेतीस इस प्रकार पांच स्तोम होते हैं । तेतीस के आधे भाग में एक सप्तदश स्तोम और मिलाने पर सब छह स्तोम प्रसिद्ध हैं । इनमें २१ स्तोम पर्यन्त अग्नि की व्याप्ति रहती है, उससे आगे सोम की । अग्नि जहां तक व्याप्त रहता है, वहां अग्नि के संघर्ष से पराभूत सोम अपने निज रूप से टिक नहीं पाता, वह अग्निरूप में ही बदल जाता है । अग्नि की व्याप्ति सीमा के आगे अर्थात् २१ स्तोम के आगे सोम की स्वतन्त्र स्थिति रहती है । यद्यपि अग्नि और सोम सदा सर्वत्र सहचर भाग में ही रहते हैं, एक बिना दूसरे की स्थिति नहीं रहती, तथापि कहीं अग्नि की प्रधानता और कहीं सोम की इस मुख्य अमुख्य भाव को लेकर ही यह व्यवहार होता है । अग्नि सोम रूप इन छह स्तोमों की पूर्णता के लिए ही यज्ञ में आहुतियां की जाती हैं, इस कारण ही वहां 'वौषट्' पद का उच्चारण किया जाता है । वौषट् में वास्तव में वौक्-यट् ये दो पद हैं, परोक्ष भाषा रूप में ककार से रहित 'वौषट्' बोला जाता है । वाक् शब्द में आकर के आगे अकार और उकार के योग से बने हुए ओकार को संयुक्त कर 'वौक्' बनता है । इन अक्षरों में अकार मन का प्रतीक है और उकार प्राण का, इस प्रकार मन-प्राण से गर्भित वाक् छह स्थानों में फैल रही है यह संकेत 'वौषट्' पद से ध्वनित हो रहा है । इन मन-प्राण-वाणी का वैज्ञानिक रूप पहले बताया जा चुका है । स्तोम प्रत्येक अवयवों के वेदों में अहर्गण नाम से परिभाषा की गई है । तेतीस स्तोमों के आगे भी वाक् की व्याप्ति अडतालीस अहर् पर्यन्त रहती है किन्तु वहां अग्नि–सोम की कार्य निष्पादक व्याप्ति नहीं होती अतः यज्ञ का सम्बन्ध भी वहां बहुत थोड़ा होता है । यह स्तोम का विषय वेदों में अत्यन्त गम्भीर है, ग्रन्थकर्ता ने निज ग्रन्थों में इसका अनेक जगह विस्तार से व्याख्यान किया है । उसका संकेत मात्र यहां बोध सौकर्य के लिये दिखाया गया है ।

[२]अथ यदयं पुरुषोऽन्नं बुभुक्षते, अथाऽन्नं भुङ्क्ते सोऽयमत्रैकोऽन्नाहुतियज्ञः । अथ यदयमहर्शिनं स्वत एव सप्तविधान्नानि भुञ्जानो जीवनं धत्ते ।। प्रतिक्षणं किञ्चिदवश्यं जानाति, कर्म कुरुते, शब्दं शृणोति, वायुना युज्यते, तेजसा युज्यते, जलं पिबति, अन्नं भुङ्क्ते, सोऽयमस्मिन्नपरोऽन्नाहुतियज्ञः ।। तदित्थमयं पुरुषो यज्ञः । [१]सप्त पुरुषाः आश्रयाः । सप्त पुरुषाः श्रियः । ते चतुर्दश । [२]यस्त्वत्र पुराणः पुरुषः स पञ्चदशः । अथ यस्तत्र वेदैः क्रियमाणो यज्ञ[३]पुरुषः स षोडशः । तदित्थं षोडशकलः प्रजापतिः । षोडशकलं वा इदं सर्वम् (कौ० ब्रा० १६।४) इत्याहुः ।।

अन्न ग्रहण रूप यज्ञ विवेचन—(कौषी० ब्रा० १६।४) वचनानुसार "ये जो यज्ञ पुरुष प्रथम अन्न भोजन को इच्छा करता है, तदनन्तर अन्न खाता है यह भी यहां एक अन्न की आहुति (वैश्वानर अग्नि में) रूप यज्ञ है । इस यज्ञ में तो हमारे परिचित अन्नों की ही आहुति की जाती है, किन्तु अन्न परिग्रह यज्ञ के दूसरे प्रकार में सात अन्य प्रकार के अन्न बताये जा

रहे हैं। ब्राह्मण में कह रहे हैं कि यह पुरुष रातदिन स्वतः ही सात प्रकार के अन्नों को खाता हुआ जीवन धारण कर रहा है। (बाहर से शरीर में जो कुछ भी लिया जाय वह सब यहां अन्न रूप बताया जा रहा है)। प्रतिक्षण यह कुछ नवीन ज्ञान प्राप्त करता है, कुछ न कुछ कर्म करता है, शब्द सुनता है, वायु सेवन करता है, प्रकाश में उजाले में रहता है, जल पीता है, अन्न खाता है, ये सब इस पुरुष में दूसरा अन्नों की आहुति रूप यज्ञ है। इस प्रकार यह पुरुष स्वयं यज्ञ मय है। इस षोडश कल प्रजापति पुरुष के सात[1] पुरुष तो आधार भूत हैं।

१. (आत्मा, पक्ष, पुच्छ रूप में जिनकी व्याख्या पूर्व की जा चुकी है—वे सात पुरुषः। तथा श्री पुरुष जो शिरः स्थानीय कहे गये हैं)। सात पुरुष श्रीरूप हैं। ये समुदित चौदह हैं। इस प्रजापति में पन्द्रहवां पुराण[2] पुरुष अर्थात् अक्षर पुरुष है। आगे वेदों द्वारा संपादित यज्ञ पुरुष[3] सोलहवीं कला है। इस प्रकार सोलह कला वाला प्रजापति है। (प्रजापति ही विश्वरूप में विकसित हो रहा है अतः कहा जा रहा है)। ये सारा विश्व षोड़श कला युक्त है।

२. पुराण पुरुष—(जिस अक्षर पुरुष के विस्तार भूत ये पुरुष हैं, वह अक्षर कला रूप इन्द्र पुराण पुरुष है।)

३. पहले जिस यज्ञ रूप प्रजापति का व्याख्यान किया है, उस यज्ञ को भी पुराण पुरुष के अतिरिक्त चौदह में संयोजन करने से षोड़श कल प्रजापति सम्पन्न होता है, यह अर्थ है।)

स एष यज्ञ [4]एवात्मा। तथा च श्रूयते—"सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद् यज्ञः।" इति। "अधियज्ञोहमेवात्र"—इति गीतावाक्यस्याप्यत्रैव तात्पर्यम्। आत्मेत्युच्यमानोऽर्थस्त्रयां विद्यायां प्रतिष्ठाब्रह्मणि प्रतिष्ठि[1]तस्तत्परिच्छेदात् पृथक्त्वेन प्रतिपन्ना वेदैः प्रतायमानो यज्ञस्वरूपः स एकः प्रजापतिर्वेदितव्यः।

सोऽयमात्मा क्षराक्षरप्राणतारतम्यान्नानाविधो भवति॥ अणोरणीयांश्च महतो महीयांश्च। तदुक्तम्—

अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्॥ तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय इति। आत्मन्युपसंक्रान्तस्य मृत्यु [5]प्रपञ्चस्यात्मनोणुग्धभेदस्यानात्मत्वनिर्धारणादात्मनो विशुद्धत्वप्रतिपत्तिः अयं मृत्योरत्ययः। एतदात्माणुत्वमहत्वनिबन्धनमात्रातारतम्येन समुच्चीयमानानां न्यूनाधिकाब्भागानां[3] क्षराणाभेवेहात्मन्यालम्बितत्वादेतानि सत्त्वजातानि तत्र तत्राणीयांसि च भवन्ति, महीयांसि च। तथा चायमात्मैवान्तर्निहितस्तस्य तस्य भूतजातस्य शरीरादिस्वरूपजनयित्रीणामपां [1]माता भवति॥ आत्ममितिपरिमितशरीरत्वात् सर्वेषामेषां भूतजन्तूनाम्॥

यह यज्ञ[4] ही सब का आत्मा है, वेद में कहा है कि यह यज्ञ सब भूतों का, (जीवों) तथा सब देवताओं का आत्मा है," आदि। गीता में जो 'अधियज्ञोहमेवात्र' वाक्य है—जिस का अर्थ यज्ञ का अधिपति यहां मैं ही हूं, उसका तात्पर्य भी उक्त आत्मा से ही है। आत्मा शब्द जो बोला जाता है, उसका तात्विक अर्थ—ऋक्–यजुः–सामरूप–जो उक्थ आदि रूप में

आगे बताये गये, उस वेदत्रयी रूप त्रयी विद्या में अर्थात् प्रतिष्ठा रूप ब्रह्म में जो प्रतिष्ठा पा रहा है, उस त्रयी के सीमाभाव के कारण जो सीमित होने से पृथक् रूप में आगया है—वेदों के द्वारा विस्तार पाने वाला साक्षात् यज्ञस्वरूप एक—प्रजापति है, यह समझना चाहिये।

इस प्रकार का यह आत्मा क्षर प्राण तथा अक्षर प्राणों के तारतम्य से अर्थात् घटाबढी से नाना विध हो जाता है। छोटे से छोटा तथा बड़े से बड़ा। आत्मा के विषय में कहा गया है "शरीर धारी इस जीव के गुहा, अर्थात् गुप्त गूढ स्थान में आत्मा की स्थिति है, यह आत्मा अणु से भी अणु है और महान् से भी महान् है। इस आत्मा का साक्षात् कार वही करता है, जो प्रकृति के यज्ञ चक्र में न पड़ता हुआ शोक का त्याग कर देता है, उस पर ही ईश्वर की कृपा होती है, उस कृपा से ही वह आत्मा की महिमा को जान पाता है। उस आत्मा को जान लेने पर ही यह जीव मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है, मृत्यु चक्र से बाहर हो जानें का अन्य कोई मार्ग नहीं है।" आत्मा में अर्थात् शुद्ध रस में यह मृत्यु प्रपञ्च अर्थात् मृत्यु रूपबल का प्राकट्य उप संक्रान्त होता है अर्थात् उसका निज भाव नहीं है। मृत्यु संक्रमण से ही जीव भेद भाव में आता है, आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर भेद भाव तिरोहित हो जाता है, क्योंकि मृत्यु को अपना रूप न मानकर अनात्मा रूप में उसका निश्चय कर लेता है तब आत्मा अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है, यह ही मृत्युभाव का सर्वथा नाश है। जीवात्मा का जो अणुभाव में अथवा महान् भाव में बन्धन होता है, उसमें कारण मात्रा के तारतम्य से चयन किये जाने वाले न्यून या अधिक वे अप् के अंश हैं, जो आत्मा में अवलम्बित क्षर भाग हैं। आत्मा में अवलम्बित ये क्षर भाग ही प्राणियों के रूप में जहां तहां छोटे या बड़े रूप में समुत्पन्न होते हैं। तथा च यह आत्मा ही भीतर गूढ भाव में विराजते हुए, प्रत्येक प्राणी के शरीर आदि स्वरूप को उत्पन्न करने वाले उन अप् भागों के माता[1] भाव को प्राप्त करता है। क्योंकि अणु या महान् शरीरों में अणु वा महान् रूप में शरीरानुरूप यह आत्मा सब में ही रहता है। सारी भूतमय सृष्टि का यही आधार है।

४. यज्ञ ही सारे व्यवहारों का परिचालक है और यज्ञ ही सारे पदार्थों का सत्ता जनक व्यावहारिक आत्मा है, यह तात्पर्य है। गीता के प्रमाण से यह भी बता दिया कि यह भी ईश्वर रूप ही है। यज्ञरूप और यज्ञ का अधिपति मैं ही हूँ यह गीता का तात्पर्य है।

५. प्रतिष्ठा प्राण से सीमित हो जाने से आत्मा भी सीमाबद्ध सा भासित होने लगता है।

६. बल ही मृत्यु रूप है यह पूर्वोक्त स्मरण करना चाहिये।

७. अप् जो जल की सूक्ष्म अवस्था है, जिसकी अणु या महत् जीवभाव में कारणता बताई है, छान्दोग्य श्रुति द्वारा वह प्रमाणित है—यथा 'वेत्थं यथा पञ्चम्यामाहुतावाप: पुरुष वचसो भवन्ति' अर्थात् यह जान लेना चाहिये कि पांचवीं आहुति में ये अप् ही पुरुष भाव में आ जाते हैं। यहाँ अप् की शरीर जनकता वेद में कही गई है। शारीरक भाष्य में तथा ब्रह्म सूत्र भाष्य में तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में यह सब विवरण हुआ है। चन्द्रलोक से पृथ्वी पर उतरते हुए जीवों

का अप् रूप से भिन्न-भिन्न योनियों में प्रवेश वहां निश्चय किया गया है। जो जीव मृत्यु होने पर चन्द्रमा में नहीं जाते 'जायस्व म्रियस्व इस रूप में पृथिवी में ही जिनकी बार-बार उत्पत्ति और मृत्यु उपनिषत् में कही है, वे कीट, पतङ्ग आदि के रूप में बार-बार उत्पन्न होते हैं और मरते रहते हैं, उनके विषय में भी अन्य प्रक्रिया अप् के अतिरिक्त नहीं होती' (३।१।१८) इस सूत्र के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य ने कहा है कि "अन्य जन्तुओं की उत्पत्ति आहुति संख्या के बिना ही अन्य भूतों के अप् उत्सर्ग से ही देह की उत्पत्ति हो जाती है"। इससे सिद्ध है कि सर्वत्र प्राणियों के शरीर की उत्पत्ति अप् तत्व से ही होती है, यह वेद और सूत्रों का सिद्धान्त है। उसका ही विवरण यहां वैज्ञानिक प्रक्रिया से किया गया है। जड़रूप पिण्डों के मूल आरम्भक भी अप् ही हैं यह भी वेद, स्मृति, पुराण आदि में सृष्टि प्रक्रिया में स्पष्ट बताये गए हैं।

१. माता पद—प्रमाता रूप सीमाकरण और जनकता रूप मातृकरण इन दोनों अर्थों का द्योतक है। माया बल के द्वारा आत्मा का सीमाकरण, फिर तदनुसार ही शरीरों का सीमाकरण, यह भाव है।

[२]अथेहात्मनि चत्वारः प्रजापत्याः प्रतिभूतपिण्डं [३]प्रजापतिसंबन्धादुपजायन्ते ॥ अग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्य इति (शत० ११।१।६)। अतोऽप्याहुः—चतुष्टयं वा इदं सर्वमिति ता वा एताः [४]प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त (शत० ११।१।६)। ते चैते यद्यप्यन्यतोऽन्यतः संसृज्यन्ते, तथाप्येषां तत्तत् प्रजापतेर्भक्तित्वमुपसंपद्यमानानां [५]प्राप्तिस्विकतया प्राजापत्यत्वमास्थीयते वाजसनेयश्रुतौ (शत० ११।१।६)॥ तत्रायं परमेष्ठी प्राजापत्य एता आपोऽ[६]ऽभवन्। आपो वा इदं सर्वमभवन्। ता आपः परमेष्ठी प्रजा[७]पतिं पितरमयाजयत्। स (स्वयम्भूः) प्रजापतिः प्राणोऽभवत्। "प्राणो वा इदं सर्वम्"। अयं वै प्राणो योयं पवते, स एवैष प्रजापतिः, प्रतिपत्तव्यः। यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिरिति श्रूयते। स पुनरिन्द्र-[८]मयाजयत्। स इन्द्रो वागभवत्। वाग् वा इदं सर्वम्। तस्मादाहुः "इन्द्रोवागिति"॥ तस्मादाहुः कौषीतकश्रुतौ "नेन्द्राद् ऋते पवते धाम किञ्चन" इति। "वाग् वा इन्द्रः। न ह्यृते [१]वाचः पवते धाम किञ्चन" (कौ० ब्रा० २।७) इति॥

स इन्द्रोऽग्नीषो[२]मावयाजयत्। तयोरन्नाद एवान्यतरोऽभवद्, अन्नमन्यतरः। अन्नादोऽग्निः। अन्नं सोमः। अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च॥ ता वा एताः पञ्च देवताः कामप्रेण दर्शपौर्ण[३]मासयज्ञेनायजन्त। दर्शपौर्णमासयज्ञेनैव चैते सत्वारः प्राजापत्याः प्रजापतिश्चायमन्योन्यसंहिताः प्राणिशरीरे क्रमादापः प्राणः वाग् जन्नादः अन्नमिति पञ्चभिः भावैः परिणम्यमानाः प्रतितिष्ठन्तीति विद्यात्॥

२. जो पहले शरीर विशिष्ट व्यावहारिक आत्मा कहा गया है—उसमें।

आगे इस आत्मा में प्राजापति से समुत्पन्न चार तत्व प्रत्येक प्राणी शरीर में प्रजापति के सम्बन्ध से तत् सम्बन्धी बनते हुए उत्पन्न होते हैं। वे हैं अग्नि, इन्द्र, सोम और परमेष्ठी। ये प्राजापत्य कहे जाते हैं।

३. प्रजापति के सम्बन्ध से इन देवताओं का सम्बन्ध भी अनिवार्य रूप से होता है—इस कारण ही ये प्राजापत्य कहे जाते हैं।

(शत० ११।१।६) में इसका संकेत है "अतः ऋषियों का वचन है–इन चारों देवों से यह सारा जगत् बना है अर्थात् चतुर्वेद मय जगत् है, ये चारों देवता प्रजापति के अधिकार में रहते हैं अतः अधिदेवता रूप में इनकी सृष्टि हुई है। यद्यपि ये देवता अन्य से अन्य प्रकार से संसजित होते हैं, तथापि इनका प्रत्येक प्रजापति के साथ भक्तिता सम्बन्ध रहता है, इस निजी सम्बन्ध के कारण इनकी प्राजापत्यता मानी जाती है। यह वाजसनेय श्रुति में आम्नात है"।

४. अन्य का अन्य से सम्बन्ध का तात्पर्य यह है कि क्षर पुरुष की कलारूप देवताओं की सब जगह व्याप्ति रहती है। अतः उन सर्वत्र फैले हुए देवताओं से जो आत्मा का सम्बन्ध जुड़ता है— यह अन्यतः संबन्ध कहा जा रहा है। क्षर पुरुष की प्रथम कला प्राण के परिणाम मूत ही तो देव, पितर, ऋषि, मनु तथा गन्धर्व हैं।

५. प्राप्तिस्विक तमा का अर्थ है प्रत्येक आत्मा में पृथक् पृथक् संबद्ध होने से।

इन अधिदेवता रूप चारों देवताओं में, परमेष्ठी नाम के अधिदेव अप्रूप हो गये।

६. परमेष्ठि मंडल में ही अप् तत्व की उत्पत्ति होती है, मण्डल निरूपण में बताया जा चुका है कि परमेष्ठी मण्डल आपो मय है, अर्थात् सोम मय है।

इस अप् का ही यह सारा जगत् है, अर्थात् अप् तत्व हो जगत् रूप से भासित हो रहा है। इस अप् समुदाय ने अपने पिता प्रजापति को यज्ञ कराया।

७. अप् समूह का प्रजापति के शरीर में प्रवेश करना ही यज्ञ है। उससे प्राण नाम से ख्यात वायु तत्व की उत्पत्ति हुई—यह पूर्व कथित यज्ञ प्रक्रिया यहां स्मरणीय है।

अप् समूह के प्रवेश स्वयं यज्ञ से वह स्वयं भू प्रजापति प्राण रूप हो गया। (कौषी० ब्रा० २।७) में बचन हैं कि "प्राण ही विश्व है"। प्राण का परिचय देते हैं कि—ये जो वायु रूप में वह रहा है यह ही प्राण है, यह प्राणात्मक वायु ही प्रजापति है, यह समझना चाहिये जो भी प्राण धारी है वह प्रत्येक प्रजापति है यह श्रुति कथन है। इस प्राणात्मक प्रजापति ने इन्द्र को यज्ञ कराया, फलस्वरूप इन्द्र वाक् रूप में परिवर्तित हो गया।

८. वायु और इन्द्र का परस्पर संबन्ध होने से इस यज्ञ से वायु की उत्पत्ति हुई यह भाव है। यह ही कारण है कि वाक्–इन्द्र की कही जाती है। वेद में इन्द्र ही वाणी का व्याकरण करने वाला सुना जाता है। यह इन्द्र ही ज्ञान का अधिष्ठाता है, इन्द्र से ही वाक् का घुत्पादन रूप व्याकरण प्रथम करता है—अर्थात् वाणी से अर्थ का संबन्ध जोड़कर पद और वाक्य रूप से वाक् की व्यवस्था करता है।

इन्द्र के वाक् रूप होने से कौषीतकि में आगे कहा कि जगत् वाक् रूप ही है। अथवा 'इन्द्र ही वाक् है' यह भी ऋषि वचन है। कौषीतक में तो यहां तक कह दिया है "इस इन्द्र के बिना वायुरूप प्रजापति कहीं भी प्रसरित नहीं होता। वाक् इन्द्र रूप है— अतः वाक् के बिना भी प्राण प्रसरण कहीं नहीं होता" इत्यादि।

१. स्थूल वाणी न होकर यह वाक् अखिल विश्वव्यापिनी है इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। इस कौषीतक वचन के द्वारा ज्ञान और वाक् की भी सर्वत्र व्याप्ति बतादी गई।

अब इन्द्र ने अग्नि और सोम को मनन कराया, तब अग्नि का अन्नाद रूप बना और सोम अन्न रूप बना। इस तरह अन्नाद और अन्न जगत् रूप हो गये। ये ही पांच देवता कामना पूर्ण करने वाले दर्श (अमावस्या) और पौर्णमास यज्ञ का यजन करने लगे। इस दर्श पौर्णमास यज्ञ से ही ये चारों प्राजापत्य अधिदेवता और यह प्रजापति आपस में मिलकर प्राणी के शरीर में क्रमशः आप, प्राण, वाक्, अन्नाद और अन्न रूप में परिणत होकर प्रतिष्ठित हो रहे हैं यह जानना चाहिये।

२. अक्षर पुरुष के कला रूप जो अग्नि–सोम हैं, उनके साथ यज्ञ प्रक्रिया से क्षर पुरुष के कला रूप अन्नाद और अन्न की उत्पत्ति यहां कही गई।

३. दर्श पौर्णमास यज्ञ का रहस्य यज्ञ मधुसूदन ग्रन्थ में देखना चाहिये। अति विस्तार हो जाने के भय से यहां विवरण नहीं किया गया है।

तेष्वेतेषु चतुर्षु प्राजापत्येषु सर्वतः पूर्वमिहापामात्मनि संसर्गो भवति। तत्रायं मातरिश्वा हेतुः। एष हि पारमेष्ठ्य[४]समुद्रादुत्पद्यमानो [५]भृगुप्राणविशेषो मातरिश्वा नाम वायुः सर्वामिमां त्रिलोकीमभिव्याप्नोति। आपो हि तस्य मातरिश्वनो योनिः। अतश्च नैता अपो व्यतिरिच्यायं मातरिश्वा रूपं धत्ते। सोऽ[६]पां मातरि तत्रात्मनि श्वयतीति कृत्वैवाऽयमस्मिन् वायौ तत्कर्मनिबन्धनो मातरिश्वशब्दः प्रवर्तते। तदेतदस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं च भवति प्रवृत्तिनिमित्तं च ॥

[७]चतुर्थं नाम लोकमेतं पारमेष्ठ्यं समुद्रमभिव्याप्नुवन्नयं मातरिश्वा वायुस्तत्र समुद्रे प्रतिष्ठितमात्मानं प्रजापतिं नाम प्राणमभितः परिगृह्णाति। सोऽयं प्रजापतिः प्राणः कनीयान् वा स्यान्महीयान् वा, तत्परिमाणेनैवायं मातरिश्वा तत्रात्मन्यपो निषिञ्चति। तथा चाह भगवान् वेदपुरुषः।

"एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेढि स उ रेढि मातरम्"।

(ऋ० १०।११४।४)

[१]पक्षपुच्छात्मसंपन्नत्वात् प्रजापतिमेवैतं सुपर्णशब्देनाह। प्रजापतीनामानन्त्येऽप्यत्र महतो[२] महीयांसमपेक्ष्याह—एक इति। प्रत्येकाभिप्रायेण वा व्याचष्टे—एक इति। तं माता रेढीत्यपामात्मनाऽन्योन्यसंतृष्टिमाचष्टे॥ आपो हि मातरः सर्वसृष्टीनाम्॥ आध्यस्तु वक्ष्यमाणः प्राणः पुत्रः॥ "वाग्[३] वै माता प्राणः पुत्र"—इत्यैतरेयारण्यकश्रुतिस्तु न विरुध्यते। [४]अपां वाग्लोकादुत्पन्नतया वाक्त्वेन व्यवहर्तुं सुशकत्वात्।

अपि चान्यथा व्याख्यायते। मातरिश्वा वायुरेवायं सुपर्णः प्रतिपत्तव्यः। [५]तमात्मा हि माताऽनुगृह्णाति। स चात्मानमन्वासज्जते॥

सोऽपां भूतशरीरजनयित्रीणां परिच्छेदके तस्मिन्नात्मनि श्वयमानोऽयं मातरिश्वा वायुर्यद्यन्यतो नापो लभते, तर्हि स्वसंपरिष्वक्ता एव काश्चिदपस्तत्रात्मनि[६] संसृजति। अथ शुक्रशोणितादिभ्यो द्वारान्तरेणापां लाभे तु ता एवापोऽयमात्मन्याधत्ते ।। सर्वथास्मिन्नात्मनि योनौ भूतप्रपञ्चोत्पत्तिबीजानामपां रेतसां निषेकेऽयं मातरिश्वैव[७] निषेक्ता द्रष्टव्यः ।। तदुक्तम्—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।

(यजुः सं० ४० अ०)

इति ।। त्रिभिः पादैरुपदर्शितमिदमात्मनो लक्षणमात्म[८]प्रकरणेऽन्वत्र सुविशदं निरूपितं द्रष्टव्यम् ।। इह तु केवलमात्मन्यस्मिन् योनौ सृष्टचौपयिकरेतोनिषेकरूपोऽयमपां संसर्गो मातरिश्वना[१] वायुना क्रियमाणो निरुच्यते ।

उपरोक्त उन चारों प्राजापत्य अधिदेवताओं में सबसे पहले इस व्यावहारिं आत्मा में अप् समूह का संसर्ग होता है। उस संसर्ग में हेतु भूत मातरिश्वा वायु होता है। यह परमेष्ठि मण्डल के[४]समुद्र से उत्पन्न होने वाला[५] भृगु नामक ऋषि का प्राण—विशेष मातरिश्वा नाम का वायु इस सारी त्रिलोकी में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। आप् तत्व ही उस मातरिश्वा वायु को योनि (जन्म स्थान) हैं। अतएव इस अप् समूह को छोड़कर अन्यत्र कहीं मातरिश्वा रूप धारण नहीं कर पाता। यह अप् समूह के मातृ स्थानीय आत्मा में (परमेष्ठि में) श्वयति अर्थात् गमन करता है, इस कारण ही इस वायु में—वायु के कर्म का नियमन करने वाला मातरिश्वा शब्द प्रवृत्त होता है। यह इस प्रकार इसका व्युत्पत्ति निमित्त तथा प्रवृत्ति निमित्त भी बनता है।

४. परमेष्ठि मण्डल आपोमय है—अतः वह ही समुद्र है (आन्तरिक्ष्य समुद्र–पुराण वर्णित क्षीर सागर) इस में ही वायु की उत्पत्ति होती है। सोम, आप और वायु ये तीनों एक ही पदार्थ होते हुए अवस्था भेद से तीन रूपों में व्यवहृत होते हैं। सबसे सूक्ष्म अवस्था सोम रूप है—वह भी अप् पद से कहा जाता है, उससे आगे स्थूल भाव में वही वायु कहलाता है, उससे स्थूल अवस्था जल नाम से कही जाती है—वह आप् है।

५. मनुस्मृति के वचन 'ऋषिभ्यः पितरो जाताः, पितृभ्यो देवदानवाः' के अनुसार ऋषिप्राण ही देव प्राण का जनक होता है। इस नियमानुसार ही भृगुनाम के ऋषि प्राण से वायु की उत्पत्ति बताई गई है, भृगुप्राण मातरिश्वा का जनक है। भृगु आदि का रहस्य महर्षि कुल वैभव ग्रन्थ में देखना चाहिये।

७. पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, परमेष्ठी इस मण्डल क्रम में चोथा नम्बर परमेष्ठी का है।

इस चतुर्थ लोक परमेष्ठि मंडल में जो अप् मय परमेष्ठि समुद्भूत समुद्र है–उस समुद्र को सब ओर से घेर कर व्याप्त होता हुआ यह मातरिश्वा वायु उस समुद्र में प्रतिष्ठित उसका आत्मा भूत जो प्रजापति नाम का प्राण है उसे भी चतुर्दिक् घेर लेता है। यह प्रजापति प्राण ही प्रसर्पण भाव में चाहे महान् हो चाहे लघु आकार का हो, यथा योग्य

परिमाणानुसार यह मातरिश्वा परिगृहीत अप् नय का निषेचन करता है। प्रमाण रूप में ऋग्वेद का मूल मन्त्र (ऋ० प० ।११४।४)।

'सुन्दर पंखों का अकेला पक्षी उस अप् समुद्र में प्रविष्ट हो गया, वह इस संपूर्ण भुवन का रचयिता है। समाधिगत मानस भाव में ही उसका सामीप्य प्राप्त कर अनुभव हुआ कि मातृ भावस्थ आत्मा इस मातरिश्वा को स्नेह से ग्रहण करता है, और यह भी अपने जनक में स्निग्ध रहता है"। पक्ष, पुच्छ, आत्मा रूप प्रजापति का स्वरूप पहले कहा जा चुका है, उस पक्ष पुच्छ सम्यता से ही सुपर्ण शब्द से कहा गया है। यद्यपि प्रजापति के अनन्त रूप हैं, तथापि 'महतो महीयान्' को लक्ष्य करके ही एकाकी पद का व्यवहार हुआ है। अथवा प्रत्येक प्रजापति रूप में भी एक एक कहा जा सकता है। माता ने स्निग्ध लेहन किया—इस कथन से अप् तत्वों का परस्पर संमिश्रण भाव दिखाया गया है। क्योंकि आप (अप् समुदाय) ही संपूर्ण सृष्टि का मातृ स्थानीय है। अप् तत्व का आगे कहे जाने वाला प्राण पुत्र स्थानीय है। यद्यपि ऐतरेय श्रुति में 'वाक् को माता और प्राण को पुत्र कहा है, तथापि इस श्रुति से इस कारण कोई विरोध नहीं आता कि सर्वादिवाक् से ही तो अप् तत्व की उत्पत्ति होती है—अतः वाक् रूप में उसका भी व्यवहार कर दिया गया है।

इस सुपर्ण की अन्य प्रकार की व्याख्या भी की जा सकती है। इस मातरिश्वा वायु को ही सुपर्ण समझना चाहिये, उसको आत्मा मातृ रूप से ग्रहण करता है—वह भी आत्मा में घुल मिल जाता है।

प्राणि शरीरों को उत्पन्न करने वाले उस अप् समुदाय रूप तत्व को आत्मा परिच्छिन्न कर लेता है, उस आत्मा में गतिमान (श्वयमान) यह मातरिश्वा वायु अन्य कहीं से यदि अप् तत्व को नहीं पा रहा हो तो अपने में संपरिष्वका अपनी संपत्ति रूप कुछ अप् अंशों को आत्मा में अवश्य वितरण करता है। मैथुन सृष्टि में अन्य निमित्त से अप् तत्व के सहज लाभ हो जाने पर तो प्राप्त अप् तत्वों का ही आत्मा में आधान करता है। निष्कर्ष यह है कि संपूर्ण विश्व सृष्टि के बीज भूत अप् समूह के अथवा वीर्यों के गर्भ—निषेक में निषेक करने वाला यह मातरिश्वा वायु ही है, यह समझना चाहिये।

३. ऐतरेय वचन में वाक् की मातृता कही और यहां अप् की मातृता बनाई जारही है इस विरोध के परिहार के लिए समाधान किया गया है।

४. प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न ये क्षर पुरुष की कला परस्पर संयुक्त रहती हैं—अतः नाम संकीर्णता भी व्यवहृत होती है।

५. आत्मा की मातृ स्थानीयता अभी ऊपर कही जा चुकी है।

६. जड़ पदार्थ वृक्ष आदि में अप् तत्व का लाभ बहुत जगह नहीं होता, चेतनों में तो शुक्र रूप अप् समूह जो पुरुष शरीर में अङ्ग भूत हैं उनको पा जाने पर लोकान्तर से समागत अपने रूप में आत्म रूप से यह मातरिश्वा संग्रह कर लेता है। अन्य लोकों से आने वाले आत्माओं के साथ भी चन्द्र मण्डल सम्बन्धी अप् समूह का संसर्ग होता है। सबके परस्पर योग से शरीर की उत्पत्ति

होती है। "रेतः सिग् योगाथ' (अ० ३ पा० १ सू० २६) और 'योनेः शरीरम्' इन दो वेदान्त सूत्रों में इस विषय का स्पष्टीकरण है।

७. शुक्र निषेक्ता मातरिश्वा—प्राण रूप से शरीरों में स्थित वायु ही प्रत्येक अङ्ग से वीर्य को खींचकर स्त्री योनि में निषेक करता है इस बात को शरीर तत्व वेत्ता जानते हैं। इस दृष्टान्त से ही सृष्टि के आदि में भी रेत (शुक्र–वीर्य) रूप अप् का निषेक करने वाला वायु ही है—यह वेद का संकेत है।

मातरिश्वा के निषेक्ता भाव का प्रमाण (यजु: सं० ४० अ०)—"इस मन्त्र में तीन पदों द्वारा आत्मा का लक्षण बताया गया है। परस्पर विरुद्ध धर्मों का आधार आत्मा मन्त्र द्वारा प्रतिपादित हो रहा है—यह 'अनेजद्' है अर्थात् निष्कम्य है, इसमें कम्पन नहीं होता। दूसरा पद 'मनसो जवीयः' कह रहा है आत्मा मन से भी तीव्र गति वाला है। देवता तक खोज करने पर भी इसको पा न सके—क्योंकि यह पहले से ही सर्वत्र विद्यमान है। तीव्र वेग के धावकों का यह अतिक्रमण कर जाता है। इस ऐसे आत्मा में ही मातरिश्वा अप् तत्व का निधान करता है"।

मन्त्र के तीन पादों द्वारा प्रदर्शित आत्मा का यह लक्षण आत्मा के प्रकरण में अन्यत्र खूब विस्तार से निरूपित हो चुका है—वह वहां हो देखना होगा। यहां तो केवल उस आत्मा में जो योनि स्वरूप है अर्थात् सर्वजनक है, उसमें सर्जन उपयोगी रेत का आधान रूप जो अप् संसर्ग होता है—वह मातरिश्वा वायु द्वारा किया जाता है, शह कहा जा रहा है।

८. अन्यत्र उपनिषत् हृदय आदि में 'अनेजद्' मन्त्र का विशद व्याख्यान है। उसका सार यहां दिखाया जा रहा है। "निष्कंप", 'मन से भी तीव्र गतिक', तिष्ठद्, स्थिर रहता हुआ दूसरे धावकों को अतिक्रमण करने वाला इत्यादि पदों के द्वारा विरुद्ध धर्म दिखाये गए। इससे स्पष्ट हो रहा है कि ईश्वर विरुद्ध धर्मों का आधार है। सर्वत्र व्यापक परमात्मा में किसी धर्म का कोई विरोध नहीं है—क्योंकि वह सब धर्मों का आधार है। और यह ईश्वर सर्वत्र व्यापक भी है, इस ही कारण इन्द्रियों के रूप में ये देवतागण खूब दौड़ लगाते हैं किन्तु जहां भी जाते हैं वहां ही ईश्वर को सामने पाते हैं। वह पहले ही वहां पहुंचा हुआ होता है, सर्वत्र गतिमान होने से। उस व्यापक आत्मा में ही मातरिश्वा अर्थात् सूत्रात्मा रूपवायु सृष्टि के उपयोगी अपः, अप् समुदाय, अर्थात् कर्म समूह का आधान करता है, उसके कारण ही उसकी सृष्टिकर्तृता होती है ऐसी मन्त्र व्याख्या प्राचीनभाष्यकारों की है। प्रकृत ग्रन्थ कर्ता ने तो वैज्ञानिक मार्ग का अवलम्बन करते हुए ही मन्त्र की व्याख्या की है। पुरुष संस्था में सर्वप्रथम अव्यय पुरुष पंचकला विशिष्ट पूर्व कहा जा चुका है, आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये पांच कला हैं, इनमें आनन्द, विज्ञान और मन ये तीन कला, मुक्ति साक्षिणी—विद्या रूपा कही जाती हैं, और मन, प्राण वाक् ये तीन का सृष्टि साक्षिणी अर्थात् प्रवर्तक रूप कर्म रूपता से तात्पर्य है। इस प्रकार ज्ञान—कर्म मय, रस और बल का समष्टिरूप, सारे जगत् का एक मात्र आधार सबको उत्पन्न करने

वाला वह अव्यय पुरुष ही 'अनेजत्' आदि मन्त्र के द्वारा निर्दिष्ट हुआ है। उस अव्यय पुरुष की विद्या (ज्ञान) रूप कला तो अविचल है अर्थात् स्थिर है। किन्तु, कर्मरूप कला गति शीला है अति तीव्र गामिनी हैं। अतः दोनों विरुद्ध धर्म इस अव्यय पुरुष में समुपपन्न होते हैं—वे ही विरुद्ध धर्म मन्त्र में आम्नात हुए हैं। यह अव्यय पुरुष ही व्यापक ईश्वर है। यद्यपि अव्यय पुरुष असंग कहा गया है, उसमें रेत रूप अप् समूह का संसर्गभाव उचित प्रतीत नहीं होता तथापि पूर्व प्रतिपादित वेदों का प्रादुर्भाव जब अव्यय से होता है तब ऋक् और साम के घेरे में आये हुए यजुर्वेद में रेत रूप अपों का संसर्ग होता है। ये अप् समूह अथर्व वेद रूप हैं, सुब्रह्म नामसे गोपथ ब्राह्मण में ये ऋक् आदि तीन अग्निवेदों के स्वेद (पसीना) रूप माने गए हैं। वे तीनों अग्नि वेद हैं, अथर्व सोम वेद है। कर्ममय अव्यय पुरुष की प्रथम विकास संस्था यजुर्वेद है, इसको अव्यय पुरुष भाव से ही मानते हुए मन्त्र में अव्यय पुरुष में ही मातरिश्वा द्वारा अप् का आधान बता दिया है, अर्थात् वास्तविक अप् संसर्ग यजुः में हो रहा है उसका आरोप अव्यय में किया गया है। (शत० ब्रा० १० का० ३ प्र० ५ ब्रा० १–२ क०) में यजुः इस पद को भी—यद्—जूः इन दो पदों से सम्पन्न किया है, यत् का अर्थ है गतिशीलता, जूः का अर्थ है स्थिति स्वभाव इन गति–स्थिति रूप दो पदों के संयोग से बने यजुः का अर्थ गति–स्थिति वाला यजुर्वेद है यह सिद्ध होता है। पहले वेद प्रकरण में बताया जा चुका है कि वायु और आकाश की समष्टि ही 'यजुः' है। आकाश स्थिर है—वायु गति शील है। आधुनिक विज्ञान में गति—स्थिति शील जो दो तत्व 'इलैक्ट्रोन' 'प्रोट्रोन' नाम के सारे जगत् के कारण रूप माने जा रहे हैं—इसकी विवेचना भी हो चुकी है।

१. मातरिश्वा—मूल में मातरिश्वा का अर्थ 'मातरि–श्वयति' मातृभावगत आत्मा में गतिमान होता है—यह सूचित किया है। वहां मातृ पद से आत्मा का ग्रहण है। ग्रन्थकार ने ही अन्य ग्रन्थ में मातृ पद से पृथ्वी का भी उल्लेख किया है। वहां पृथ्वी पद के द्वारा घन—बिरल—तरल भाव मय इस जगत् में जितने भी घनीभूत पिण्ड हैं—स्वयंभू पर्यन्त ने सब पृथ्वी शब्द द्वारा परिभाषित हुए हैं। अर्थात् स्वयंभू मण्डल से आरम्भ कर पृथ्वी पर्यन्त जितने भी घनीभूत पिण्ड हैं वे पृथ्वी शब्द से परिभाषित हुए हैं। प्रत्येक रूपेण अनन्त पिण्डों में व्यापक फैलता हुआ यह मातरिश्व वायु ही सारे पिण्ड (शरीर) को घेरे में लिये रहता है, पिण्ड को पूर्ण पिण्डता दिलाने में सहायक होता है तथा पिण्ड की रक्षा करता है। यह मातरिश्वा—भृगु रूप है। इस भृगु प्राण का जनक–मूल आत्मा ही है, इस ही लिए आत्मा का यहां मातृ पद से ग्रहण किया गया है। मन्त्रों के अर्थ अत्यन्त गहन होते हैं—अतः उनकी व्याख्या उक्त दोनों ही प्रकारों से की जा सकती है।

तत्र योऽयमात्मा योनिः आपो रेतः, ताभ्यामात्मन्यपां ग्रन्थिः प्रजापतिः, सा सृष्टिः॥ सैषा तत्रात्मनि प्रथमा सृष्टिः सृष्टीनां[२] मैथुनीनाम्। नाद्भ्यः पूर्वं योनिजा सृष्टिरासीत्। [१]त्रया विद्याया ब्रह्मणः प्रजापतिब्रह्मणि प्रतिष्ठाब्रह्मतयोपपन्नत्वात् प्रतिष्ठातः प्रागप्रतिष्ठिते प्रजापतौ सृष्टिव्यवहारायोगात्। अप्स्वेवैतास्वात्मसंसृष्टासूत्तराः सर्वाः सृष्टयो भवन्तीति सुनिभृतं विद्यात्॥ ये [२]तु (१) नाभानेदिष्ठो (२) बालखिल्या (३) वृषाकपि (४) रेवयामरुदित्येते चत्वारः सहचराः प्राणाः क्रमेण (१) रेतसे (२) प्राणाय (३) आत्मने (४) प्रतिष्ठायं चोपयुक्ताः श्रूयन्ते ते चेतनगर्भसंसृष्टिविषया वैशेषिकाः प्रतिपत्तव्याः। मातरिश्वा त्वयं प्राणवायुश्चेतनाचेतनसाधारणः सर्वसृष्टिविषयः सर्वविकारो-

पादानभूतानामपामालम्बनकर्मण्यात्मनि—संश्लेषणायोपयुज्यते । "आपो[3] ह वा इदमग्रे सलिलमेवास" (शत० ११।१।६) ता[4] आपो मातरिश्वनाऽनेनात्मनिहिताः प्रजापतिना परिच्छिद्यमानाश्छन्दसा परिगृहीताः पृथग् भूत्वा तस्यात्मनोऽङ्गत्वेनोपपद्यन्ते । अत एवैताभ्योऽद्भ्यो जायमाना सृष्टिस्तदात्मभक्तित्वेनाख्यायते । सृष्ट्युपादानभूतानामपां तदात्मभक्तित्वेनोपपन्नत्वाद् इत्यवधेयम् । सोऽयमेतावानुपक्रमः सर्वभूतसृष्टिसाधारणः प्रतिपत्तव्यः ।।

मातरिश्वा द्वारा आधान होने के अनन्तर वहां आत्मा रूप योनि और आपोमय रेत के संसर्ग से उस अप् समूह में परस्पर ग्रन्थि पड़ जाती है, यह ग्रन्थिबन्धन प्रकृष्ट जनन रूप है, यह सृष्टि है । मैथुनी सृष्टि में यह आत्मा में प्रथम सृष्टि होती है । अप् तत्व की उत्पति से पूर्व योनि से उत्पन्न होने वाली सृष्टि नहीं थो । ऋक्-यजुः-साम, अथवा उक्थ-अर्क-अशिति रूप त्रयी विद्या ब्रह्म रूपिणी है । व्यापक सर्वप्रजापति रूप ब्रह्म में यह त्रयी प्रतिष्ठा ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित होकर प्रजापति का केन्द्रीकरण करती है । इस प्रतिष्ठा प्राप्ति से पूर्व अप्रतिष्ठित (सीमा रहित) प्रजापति में सृष्टि सम्बन्धो व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता । इस अप् तत्व से ही जो आत्मा में संश्लिष्ट हो जाता है, आगे की सारी सृष्टि रचना होती है यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये । वेद में जो अवान्तर चार सहचर प्राण—(१) नाभानेदिष्ठ (२) बालखिल्य (३) वृषाकपि (४) रेवयामरुत्, नाम के बताये हैं और उनका उपयोग क्रमशः (१) रेत के लिये (२) प्राण के लिये (३) आत्मा के लिये और (४) प्रतिष्ठा के लिये माना गया है, वे चारों प्राण तो चेतन गर्भ की सृष्टि के सहायक विशेष प्राण हैं । यह मातरिश्वा वायु तो प्राणवायु के रूप में चेतन अचेतन सर्वसाधारण सृष्टि से सम्बद्ध है । इस विकारमयी सृष्टि के मूल कारण भूत जो अप् समूह हैं उनका आलम्बन क्रिया में आत्मा में संश्लेष के लिये मातरिश्वा का उपयोग होता है । (शत० ११।१।६) के द्वारा आप् का स्वरूप संकेत किया है कि "यह स्थूल सलिल आरम्भिक सूक्ष्म भाव में आपः रूप में ही था वह अप् समूहात्मक तत्व ही मातरिश्वा के द्वारा आत्मा में निहित होकर प्रजापति द्वारा परिच्छेद (सीमा) में ले लिये जाते हैं, वे छन्द रूप सीमा में पकड़ लिये जाते हैं, वे उस छन्द सीमा के कारण पृथक् होकर आत्मा के अङ्गभूत हो जाते हैं । इस हो कारण उस अप् समूह से जायमान सृष्टि आत्मा की सृष्टि कही जाती है—क्योंकि सृष्टि के साक्षात् मूल कारण भूत उस अप् समूह रूप तत्व का आत्मा के साथ अङ्गाङ्गी भाव बन जाता है यह ध्यान रहना चाहिये । यह जितना भी उपक्रम दिखाया गया है—यह सम्पूर्ण प्राणि सृष्टि में समान भाव से समझना चाहिये ।

२. संयोगज सृष्टि को मैथुनी सृष्टि कहते हैं । उन सृष्टियों में सर्वप्रथम आप तत्व की सृष्टि होती है । अतः भगवान् मनु ने स्मृति के प्रथम अध्याय में "अप एव ससर्जादौ" अर्थात् सबसे पहले अप् की सृष्टि हुई, यह कहा है । पुराणों में भी बहुत जगह अप् तत्व का सर्जन सर्वप्रथम बताया है । यह प्रथम भाव मैथुनी सृष्टि में समझना चाहिये । यह तात्पर्य है ।

१. अप् तत्व की सृष्टि से पहले तो ब्रह्म से जिन तत्वों का प्रादुर्भाव होता है—जैसे अव्यय, अक्षर, क्षर ये त्रिपुरुष संस्था, ऋक् आदि तीन वेद, भगवान् मनु ने स्वयम्भू मण्डल को वेदमय कहा है

सुब्रह्म नाम से कहा जाने वाला अथर्व वेद, भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषि, ये प्रजापति ब्रह्मा प्रतिष्ठा रूप हैं—अतः इन सबकी गणना ब्रह्म पद से ही होती है। सर्वप्रथम प्रजापति की प्रतिष्ठा त्रयी रूप वेद हैं। जब तक प्रजापति केन्द्रस्थ होकर प्रतिष्ठित न हो जाय तब तक वह सर्ग उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिये प्रजापति का रूप ब्रह्म स्वरूप में ही अन्तर्भावित हो जाता है। अप् सृष्टि के पहले के तत्व सृष्टि गणना में नहीं आते। वायु और आकाश की भी सूक्ष्म अवस्था ब्रह्म में ही अन्तर्निहित रहती हैं—यह पहले कहा जा चुका है। तेज—प्रकाश—अग्नि भी अङ्गिरा ऋषि प्राण का रूप है अतः तेज की सूक्ष्म अवस्था वेद के स्वरूप में ही अन्तर्भूत हो जाती है। कथन तात्पर्य यह है कि सर्व सृष्टि जनक अप् तत्व की सृष्टि ही सर्वप्रथम हुई यह श्रुति तथा स्मृति में अनेकत्र कहा गया है। महाभारत में—

"अद्‌भ्योऽग्निर्ब्रह्मणः क्षत्रमश्मनो लौह मुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति"।

इस कथन के द्वारा अप् से अग्नि की उत्पत्ति बताई है। ऐसे विचारणीय स्थलों में सर्वत्र ध्यान रखना चाहिये कि इस स्थूल जल की जो अति सूक्ष्म अवस्था अप् है—उससे अग्नि का उद्‌भव कहा गया है—अर्थात् उस सूक्ष्म तत्व से इस स्थूल पाँच भौतिक अग्नि की उत्पत्ति हुई—जो कि पंचीकृत है। भौतिक आकाश—वायु आदि का लक्ष्य करके ही तैतिरीय श्रुति में आकाश आदि की सृष्टि भूतावस्थ पंचीकृत जल से बताई है। और व्यवहार गत स्थूल जलों के अभिप्राय से ही भाष्यकारों ने आकाश से वायु, उससे अग्नि, उससे अप् और उससे अन्नादि की व्याख्या की है, वैज्ञानिक प्रक्रिया में सबका समाधान हो सकता है। मन्त्रार्थ का स्पष्ट भाव यह हुआ कि "मातरिश्वा वायु अत्यन्त सूक्ष्म अवस्थागत अप् समूह रूप तत्व को यजुः पुरुष रूप में आये हुए अव्यय पुरुष में धर देता है, अर्थात् सर्ग उत्पत्ति के लिये प्रेरित करता है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मुख्य अव्यय में ही अहित करता है, अर्थात् उत्पन्न करके स्थापित करता जाता है—क्योंकि अव्यय ही एक मात्र सबका आलम्बन है।

२. सहचर प्राण—ये नाभानेदिष्ठ आदि प्राण विशेष पुराणों में प्रसिद्ध हैं, इनका स्वरूप विस्तार के भय से यहां नहीं दिखाया जा रहा है और वे सर्व साधारण सृष्टि में उपयोगी भी नहीं हैं—अतः उनकी व्याख्या यहां नहीं हैं। वह जिज्ञासा शान्ति विद्या वाचस्पति जी के अन्य ग्रन्थों से करनी होगी।

३. "आपोहवा" आदि शत पथ मन्त्र से प्रमाणित कर दिया कि सूक्ष्म अवस्थागत अप् तत्व ही सारी सृष्टि का उत्पादक है।

४. यहां शङ्का यह होती है कि जैसे आकाश वायु आदि की ब्रह्म रूपता कही गई है वैसे ही अप् समूह रूप तत्व की भी ब्रह्म रूपता है ही क्योंकि सब ही ब्रह्म रूप हैं। तब अप् से आगे होने वाली सृष्टि ही सृष्टि है, यह कहने का क्या तात्पर्य है! इसके समाधान के लिये ही छन्द रूप आवरण का विवरण आया है, कालमात्राजी के सीमा बन्धन को छन्द कहते हैं। इसमें प्रमाण यजुर्वेद का "माच्छन्दः, प्रमाच्छन्दः, प्रतिमाच्छन्दः" इत्यादि मन्त्र है, इसकी व्याख्या ग्रन्थकर्त्ता ने छन्दः समीक्षा नाम के ग्रन्थ में छन्द निरूक्ति प्रकरण में कर दी। निष्कर्ष यह है कि जो पदार्थ छन्दमात्रा द्वारा पुथक् रूप से पकड लिये गये हैं अर्थात् व्यापकता से पृथक् भाव में अपनी

निज मर्यादा में प्रतिष्ठा पा जाते हैं, वे यद्यपि ब्रह्म के अङ्गभूत हैं, ब्रह्म ममता से सब की ख्याति भी है तथापि पृथक् मर्यादित हो जाने से उनकी सृष्टि पृथक् ही गिनी जाती है। उन स्व मर्यादित पदार्थों का केवल ब्रह्म से भक्ति सम्बन्ध है अर्थात् वे ब्रह्म के भाग वा अङ्ग माने जाते हैं। इस रीति से अप् समूह और उससे उत्पन्न होने वाली अन्य सृष्टि भी ब्रह्म की भक्ति रूप है। इस अप् तत्व की उत्पत्ति से पूर्व तो पूर्वोक्त रीति के अनुसार प्रजापति स्वयं प्रतिष्ठित नहीं है— अतः पृथक् मर्यादा बन्ध भी कोई न होने से, पूर्व के सब, वेद में ब्रह्मरूप ही कहे गये हैं, वे सृष्टिभाव में नहीं गिने जाते। जिनकी सृष्टि रूप में गणना है, उनकी ब्रह्म में एकरूपा भक्ति है क्योंकि जब तक लोक व्यवहार दशा है तब तक भेद रहता ही है। यह ही मायाबल का काम है। मायाबल का भेद कर देने पर वास्तविकता का विचार करने पर तो जगत् ब्रह्म से अभिन्न, ब्रह्म ही है।

अपां संसर्गाच्चायं प्रजापतिराप्यः प्राणो[1] भवति। प्राणस्वरूपोपपत्त्यर्थं चासामपामेवास्मिन् शरीरे भूयांसो भागा उपलभ्यन्ते। अद्भिरेवायमाप्यः प्राण आप्यायते। यावदस्य [2]निसर्गादुत्क्रान्तमङ्गं विश्लिष्टं भवति, तावदेवास्य पुनरद्भिरुपसंचिताभिरुपसंपादितमाहितं भवति॥ तेनायमात्मा प्रदीपार्चिरिव नोच्छिद्यते। "अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्।" इति हि भगवानुद्दालकः[3] पश्यति (छान्दो उप०)॥ स यदि शरीरी नापो लभते, तर्हि तस्यायमाप्यः प्राणः कनीयानिव भूत्वा विषीदति। अतश्च प्रजापतिरात्मा शरीरादुत्सीदति, सोऽद्भ्यच उपपन्नोयमान्तरिक्ष्यः[4] खल्वाप्यः प्राणः सर्वशरीरव्यापी व्यान इति नाम्ना निर्दिश्यते॥ "स एष इह प्रविष्ट आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः॥ यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्, विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये। प्राणन्नेव स प्राणो नाम भवति। वदन्[5] वाक्। पश्यंश्चक्षुः। शृण्वन् श्रोत्रम्। मन्वानो मनः। तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेद। अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति। [6]आत्मत्येवोपासीत् अत्रऽह्येते सर्वे एकी भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य[7] सर्वस्य, यदयमात्मा। अनेन ह्येतत्सर्वं वेद यथा ह वै पदेनानुविन्देत्।"—(शत० १४।३।२।१८)॥ सोऽयं मुख्यः प्राणः प्रादेशमात्रः[1] प्रादेशमात्रो भूत्वा सर्वां शरीरयष्टिमभिसंपद्यते। तत्रैतस्यात्मन आनाभेराकण्ठाद् द्वयोः प्रादेशयो[2]रुपांशुसवनमिति संज्ञा क्रियते॥ तस्मिन्नस्मिन्नुपांशुसवनग्रहे प्राणापानौ नामैतौ उपांश्वन्तर्यामग्रहौ संभवतः "प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी"—(मैत्रा० ब्रा० १।५।६)

इति मैत्रेयी[3] श्रुत्या ताविमौ प्राणापानौ द्यावापृथिव्यो रसौ विजानीयात्। तयोश्च प्राणापानयोः संख्यामाह भगवान् वार्कलिः॥ "अमादन्यत्र परिवर्तमानस्तिष्ठन्नासीनो यदि वा स्वपन्नपि॥ अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन कतिकृत्वः प्राणिति चापानिति॥१॥ शतं शतानि (१००००) पुरुषः समेनाष्टौ शतां (८००) यन्मितं तद्वदन्ति॥ अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चापानिति" इति॥ (शत० १२।१।१०।८)। तत्र अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति। (१४।३।३।१६) इति श्रूयते। तत्राद्भ्य इति चतुर्थलोकादित्यर्थः। "अस्ति वै चतुर्थो लोक आपः"—इति श्रुतेः॥ [4]पृथिवीचन्द्रमसं व्यावर्तयितुमद्भ्य इत्याह। [4]अम्भः—संज्ञानामपां व्यावृत्तये चन्द्रमसं इत्याह। तथा चोभयपदविशेषितोऽयं ब्राह्मणस्पत्यः सौम्यः प्राणः इह वैश्वानराग्नौ हूयमानो द्रष्टव्यः। तत्रापि सौम्यः

खलु पितृप्राणश्च भवति, दवः प्राणश्चेति कृत्वा प्रकृते पितृप्राणत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थं देवः प्राण इत्याह । सोऽयं देवः प्राणोऽपानं प्राणं च पर्यायेणाभ्याहन्ति, अन्योऽन्यं च पर्यायेणाभिभवति । प्राणोऽयं दैवो रसो ह्यपानेनाभ्याहन्यमाने । दिवमभि[1] प्रत्यावर्तते । प्राणमेवैतं प्रत्यावर्तितरूपं सन्तमुदानशब्देनाहुः । तावेतौ प्राणोदानौ दिव्यरसस्य मित्रावरुणौ विद्यात् । संश्रवो मित्रः । अपसरणं वरुणः ।। एवमन्यस्मिन् पर्यायेऽनेन प्राणेनाभ्याहन्यमानोऽयमपानः पृथ्वीमभि प्रत्यावर्तते । तत्र पृथ्व्या उपेत्य शरीरे संचरन्तमेतं समानशब्देनाहुः । प्रत्यावर्तितरूपं त्वेतमपानशब्देनैवाहुः । तावेतौ पृथ्वीरसस्य मित्रावरुणौ भवतः । समानो मित्रः । अपानो वरुणः । तदित्थं प्राणोदानौ समानापानौ च व्यानेन सह संभूय पञ्च प्राणा भवन्ति । तत्र प्राणापानाभ्यामेव जीवनयात्रां मन्यन्ते लोकाः । वस्तुतस्तु—"न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ" (कठो० ५ व० ५) यद्येष व्यानो न स्यान्नैतौ तर्हि प्राणापानौ शरीरे[2] स्थानं लभेयाताम् । व्यानावलम्बितावेवैतौ प्राणापानौ जीवनं निर्वाहयतः । सोऽयं व्यानः प्रजापतिः परमेष्ठिन्यप्स्वालम्बमानः प्रतितिष्ठतीति विद्यात् ।

मातरिश्वा द्वारा अपों का आधान हो जाने पर अपों के संसर्ग से यह प्रजापति आप्य प्राण प्रधान हो जाता है । (अप् सोम का एकीभाव पूर्व कहा जा चुका है आप् या जल का नहीं) ।

१. मूलभूत प्राण अव्यय की कला रूप से मन, प्राण, वाक् में पहले प्रतिपादित हुआ है, जिसका विकास अक्षर पुरुष हुआ । अब आगे की अवस्था में क्षर पुरुष की कलाओं में प्रथम कला रूप जो प्राण कहा है, वह भी आग्नेय, सौम्य, आप्य आदि भेदों से अनेक प्रकार का हो जाता है । उनमें आप्य प्राण की उत्पत्ति यहाँ बताई जा रही है । यह क्षर कला रूप प्राण भी जड़—चेतन सब में व्याप्त है । बल अर्थ में और धारण सामर्थ्य में प्राण और शक्ति का प्रयोग सामान्य रूप से होता है ऐसी ग्रन्थकार की मान्यता है । यहां तो शरीर में प्रतिष्ठित प्राण का विवरण किया जाता है ।

प्राण के स्वरूप परिचय के लिये तो इस शरीर में कई भाग अपों के ही हैं अप् समूह से ही उत्पन्न होने के कारण यह आप्य कहलाने वाला प्राण अप् समूह से ही तृप्त होता है—परिपूर्ण होता है अर्थात् अप् तत्व ही इसकी खुराक है । प्राकृतिक क्षेपणक्रिया से उसका जो अंश कम हो जाता है और उससे शारीर अङ्गों में जो कमजोरी आने लगती है उस ही समय पानी पी लेने से वह कमजोरी हटकर स्वस्थता हो जाती है, अर्थात् खली होने पर फिर तत्काल आधान भी हो गया । इस निरन्तर प्रक्रिया से दीप ज्योति के समान आत्म-ज्योति का उच्छेद नहीं होता । (छान्दोग्य०) में भगवान् उद्दालक श्वेत केतु से कह रहे हैं "हे सौम्य ? मन अन्नमय होता है—जैसा अन्न वैसा मन । प्राण आपोमय होते हैं । वाक् अग्निमयी होती है । यहां भी प्राण आपोमय ही कहे गए हैं । इस शरीरधारी प्राणी को पानी नहीं मिलता (जिस पानी में अप् तत्व आधारित है) तब यह आप्य प्राण अत्यन्त संकोच भाव में आता हुआ कष्ट पाता है—निर्बल सा हो जाता है और इसको निर्बलता के कारण

प्रजापति आत्मा शरीर से बाहर जाने लगता है तब अन्तरिक्ष सम्बन्धी आप्य प्राणों से वह श्रुति पाता है।

४. मूलतः यह आप्य प्राण अन्तरिक्ष में व्याप्त मातरिश्वा द्वारा समुत्पन्न हुआ है, यह पहले कहा जा चुका है। इस कारण ही यहां आन्तरिक्ष्य नाम से कहा गया है। यह आप्य प्राण शरीर में व्यान नाम से व्यवहृत है।

यह सर्व शरीरव्यापी व्यानप्राण आप्य है। प्रजापति—आत्मा आधार हैं। (शत० १४।३।२।१८) में आत्मा के विषय में कहा है "वह आत्मा इस शरीर में लोम-नख पर्यन्त अन्तर्निहित है"। दृष्टान्त दे रहे हैं कि जैसे छुरा—छुराधानी में रखा रहता है, या विश्व रूप कुलाय में जैसे विश्वम्भर रहता है, वैसे ही जब प्राणन (क्रिया) करता है तब यह प्राण कहा जाता है, बोलता है वाक् रूप, देखता है तो चक्षु रूप, सुनता है तो श्रोत्र रूप, मननकाल में मन रूप, ये सब इस आत्मा के कर्म नाम हैं।

५. भिन्न-भिन्न सारी इन्द्रियां इस प्राण के ही रूप हैं। यह प्राण ही सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर सब ही इन्द्रियों के रूप में प्रतिष्ठित है, स्वभावतः यह सब इन्द्रियों का सहकारी है।

उस आत्मा के विषय में शतपथ में अन्त में कहा कि ये जितने भी कर्म नाम हैं, उन में जो कोई एक-एक की उपासना करता है—वह वास्तविकता को नहीं जानता। कारण बताते हैं कि जो केवल एक के साथ संलग्न है—वह तो आत्मा का अकृत्स्न रूप है—कृत्स्न पूर्णतावाची है, अपूर्ण केवल एकोपासन में सफलता नहीं मिलती। अतः शतपथ वचन है कि सब इन्द्रिय, मन आदि का जो आत्मा अधिष्ठाता है, इस की ही उपासना करनी चाहिए—क्योंकि इस आत्मा में ही सारे देवतागणों का एकीभाव है।

६. प्राण ही व्यावहारिक आत्मा है। उसकी उपासना आत्मा रूप में ही होनी चाहिये, यह कहते हुए आत्मा मात्र की उपासना का विधान करते हुए—एक एक रूप भिन्न उपासना को निन्दित कहा है।

सर्वदेव एकीभाव के अतिरिक्त उपासना योग्यता बताते हैं कि आत्मा 'पदनीय है' अर्थात् पैरों से चलकर मिलने वाली है, स्पष्ट यह कि क्रम क्रमशः गति से प्राप्ति सम्भव है। यह इन मन, प्राण आदि का संचालक है—यह आत्मा है। यदि इस आत्मा के अन्वेषण में प्रवृत्त हो जाता है—तब तो उसने उस मार्ग को पा लिया जिनके लिए जीवन की कृतार्थता मान ली जाती है।

यह मुख्य प्राण एक प्रादेशमात्र परिमाण का है, यह प्रादेशमात्र रहता हुआ ही सारी शरीर यष्टि का संतुलन करता है। वहां इस आत्मा की नाभि से लेकर कण्ठपर्यन्त दोनों भागों में अर्थात् वामदक्षिण 'उपांशु सवन' संज्ञा को जाती है। इस उपांशु सवन रूप ग्रह में प्राण और अपान नाम के उपांशु सवन के अन्तर्याम ग्रह सम्भूत हो जाते हैं। (मैत्रे० १।५।६) के अनुसार 'इन्द्र और अग्नि ही प्राण और अपान हैं'।

१. प्रादेश—दश अंगुल परिमाण को प्रादेश कहते हैं—जो तर्जनी—अंगुष्ठ के फैलाव से बनता है। हमारे शरीर में एक एक प्रादेश स्थान के अनन्तर प्राण के आयतन मर्म स्थान हैं—गुदा, योनि, नाभि, हृदय, कण्ठ और तालु। इन ६ स्थानों में ही तन्त्रागम दर्शन में मूलाधारादिषट् चक्र प्रसिद्ध हैं। यह प्रादेश वाची दशांगुल परिमाण "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" इस पुरुष सूक्त वचन से प्रमाणित है, वहां अक्षर पुरुष की स्थिति प्राणरूप से शरीर से दश अंगुल ऊपर बताई गई है। प्राण की सब शरीर में व्याप्ति बताने के लिये प्रादेश शब्द मूल में दो बार कहा गया है।

२. उपांशुसवन – दर्श (अमावास्या) पौर्णमास—पूर्णमासी से सम्बन्धित अर्थात् प्रतिपत् से समारम्ध–अमा–पर्यन्त, तथा अमा से ही आरम्भकर पूर्णिमा पर्यन्त जो नित्य यज्ञ है—वहां उपांशु सवन संज्ञा होती है। यज्ञ विधानों की सकारणता दिखाने के लिये कहा गया है कि यज्ञरूप क्रिया का सम्बन्ध अध्यात्म और अधिदैव को जोड़ना है, वेद में यह बात अनेकत्र कही है।

'इन्द्र अग्नि ही प्राण और अपान हैं'—इस मैत्रेय वचन के अनुसार ये दोनों प्राण और अपान स्वर्ग और पृथ्वी के रस रूप हैं यह समझना चाहिए। प्राणन–ग्रहण, अपानन–परित्याग, इन दोनों की दिनरात में संख्या का परिमाण भगवान् वार्कलि (ऋषि) ने बताया है। पहले प्रश्न किया कि परिश्रम करते हुए इधर उधर गतिमान होने पर, खड़े रह जाने पर, बैठे रह जाने पर, या शयन अवस्था में भी दिनरात में मनुष्य कितने श्वास लेता है या छोड़ता है?

दूसरे पद्य में उत्तर दिया कि दश हजार आठ सो दिन में तथा उतने ही रात्रि में मिलकर इक्कीस हजार छह सो हुए। (शत० १२।१।१०।८) का यह उल्लेख है। आगे (शत० १४।३।३।२९) में यह भी कहा है कि अप् तत्व से तथा चन्द्रमा से वहां देवप्राण आविष्ट हो जाता है। वहां अपों से तात्पर्य चतुर्थ लोक परमेष्ठि मण्डल से है। 'चतुर्थ लोक आप् है' यह श्रुति का वचन है। (परमेष्ठि आपोमय है यह पहले कहा जा चुका है)। अप् समूह से यह कथन पृथ्वी और चन्द्रमा को पृथक् भावेन स्थिति रखने के लिए है। और अम्भस नाम से कहे जाने वाले अपों की व्यावृत्ति के लिए चन्द्रमा का उल्लेख है। इस प्रकार दोनों पदों से विशेषित यह ब्राह्मणस्पत्य नाम से कहा जाने वाला सौम्य प्राण वैश्वानर अग्नि में हवन किया जाता है। उस सौम्य प्राण में पितृ प्राण और देव प्राण रहते हैं अतः पितृ प्राण का विचार न उठे इस लिए देव प्राण का नाम लिया है। ये देव प्राण बारी-बारी से प्राण और अपान पर आघात करता है और बारी-बारी से एक दूसरे को दबाता है। यह देव प्राण रस रूप है—यह हृदय तक जाकर वहां से अपान के आघात से लौट कर द्यु लोक की ओर ही चल पड़ता है। इस लौटते हुए प्राण को उदान प्राण कहा जाता है। ये दोनों प्राण और उदान दिव्य रस के मित्र और वरुण समझने चाहिए। मित्र सम्मिलनात्मक हैं और वरुण अपसारक—हटाने वाला। इस प्रकार इस बदलाव की प्रक्रिया में इस देव प्राण से आहत होकर यह अपान पृथ्वी की तरफ लौट पड़ता है, पृथ्वी से उपगत होने पर शरीर में संचरण करते हुए इस प्राण को 'समान' संज्ञा मिलती है। पृथ्वी की ओर लौटते हुए तो तब भी इसकी 'अपान' संज्ञा ही होगी। ये दोनों पृथ्वीं के रस के सम्बन्ध में मित्र और वरुण का काम सम्मिलन और अपसरण करते हैं। समान सम्मिलन कारक 'मित्र' है। अपान

अपसरणकारक वरुण है। इस कथन का निष्कर्ष यह हुआ कि प्राण-उदान, समान-अपान, व्यान के साथ मिलकर पांच प्राण होते हैं। इन में प्राण और अपान के आधार पर ही जीवन सत्ता लोक में मानी जाती है। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है, (कठो० ५।५) में कहा है "कोई भी मृत्युलोक का प्राणी, प्राण और अपान के सहारे जीवित नहीं रहता, जीवन तो उसके आधार पर चलता है जिसमें ये दोनों आधारित हैं"। यदि व्यान प्राण न हो तो ये प्राण और अपान शरीर में सत्ता भी न पा सकें। व्यान का सहारा पाकर ये प्राण और अपान जीवन का निर्वाह करते हैं। यह व्यान प्राण ही प्रजापति है। यह परमेष्ठि मण्डल में आपोमय सोम के सहारे प्रतिष्ठित रहता है यह समझना चाहिए।

३. व्यान प्राण अप् तत्व से समुत्पन्न है यह पूर्व कहा जा चुका है। प्राण और अपान इन्द्र और अग्नि के रूप हैं यह मैत्रेय श्रुति में प्रतिपादित हुआ, इससे स्वर्ग और पृथ्वी के वे रस हैं यह स्वतः सिद्ध हैं। इन्द्र स्वर्ग का अधिष्ठाता है और अग्नि पृथ्वी का।

४. उच्छ्वास को प्राण कहते हैं, निःश्वास को अपान कहते हैं। इन दोनों की रातदिन में प्रवर्तमान संख्या श्रुति प्रमाण के आधार पर बताई जा रही है १०८०० उच्छ्वास और इतने ही निश्वास स्वाभाविक रूप में मनुष्य के होते हैं। आगमशास्त्र के उपासना क्रम में ये ही 'अजपा–जप' नाम से वर्णित हैं। इसही को आधार मानकर माला में १०८ मणिये रखे जाते हैं यह भी स्मरणीय है। सब मिलाकर २१६०० होते हैं।

५. चन्द्रमा—वेद में दो चन्द्रों का उल्लेख है, एक पृथिवी का समीपवर्ती और दूसरा परमेष्ठि मण्डल रूप चतुर्थ जनः नाम से विख्यात है। उनमें यहां परमेष्ठि रूप चन्द्र ही लेना यह मन्त्र में इन दो विशेषणों से बताया गया 'अप्न्य श्चैनं चन्द्रमसश्च' इत्यादि।

६. ब्रह्मणस्पति मण्डल—आप् के अनेक प्रकार हैं। सबसे मूल अवस्था में जो अम्भस हैं, वे यहां नहीं लिये जा रहे हैं अपितु यहां सोम लिया जाता है। इस सोम का खजाना—कोषागार ब्रह्मणस्पति मण्डल है, यह तात्पर्य है।

१. प्राण की ऊर्ध्व गति का हेतु कह रहे हैं। जो जिसका अंश है—वह अपने घन में जाता है यह प्राकृतिक नियम है। यह प्राणद्युलोक का अंश है यह लिखा जा चुका है अतः उसके ही अभिमुख होकर दौड़ता है यह भाव है।

२. शरीर में प्रथम व्यान प्राण की प्रतिष्ठा होती है, तदनन्तर प्राण और अपान शरीर में प्रविष्ट होते हैं यह तात्पर्य है। इससे व्यान की मुख्यता सिद्ध है। वह व्यान प्राण परमेष्ठि मण्डल से आया है, अतः परमेष्ठि मण्डल से हमारा मुख्य सम्बन्ध है यह स्पष्ट किया गया।

(१३) निर्विकाराधिकरणम्

(विकार शून्यता परिच्छेद)

३. अब तक किये गये त्रिपुरुष विवेचन में यह शङ्का उठती है कि रस जब अक्षर और क्षर रूप में आता है तब स्पष्ट ही उसमें विकार सिद्ध हो जाता है। रस के जो असङ्गता और निर्गुणता आदि धर्म हैं, वे अक्षर और क्षर अवस्था में नहीं देखे जाते। नवीन बलों के योग से और यज्ञ

प्रक्रियाओं से नया २ प्रादुर्भाव होना भी कहा गया है। ऐसी स्थिति में वेदों में और इस ग्रन्थ में रस पद से कहे जाने वाले ब्रह्म की निर्विकारता कैसे कही गई है ? इस संदेह की निवृत्ति के लिये ही इस अधिकरण का आरम्भ है। सत्ता, ज्ञान (चेतना), और आनन्द ये रस रूप हैं, और ये धर्म सर्वत्र व्यापकतया प्रतीति में आते हैं। ये सत्ता, चेतना, आनन्द सब अवस्थाओं में एक रूप ही प्रतीति में आते हैं। बल के द्वारा जिनकी उत्पत्ति होती है—वे नाम-रूप तथा कर्म मायाबल के परिणाम हैं, उनमें परिवर्तन होता है। वास्तव में परिवर्तन रूप विकार बल का ही होता है, रस तो सदा निर्विकार ही रहता है—यह ही प्रकरण का तात्पर्य है। सब अवस्थाओं में सत्ता का अनुभव 'सब कुछ है" इस रूप में होता है —अतः सत्ता नित्य है और निर्विकार है। इस ही प्रकार—जो भी कुछ अस्ति भाव में है उसे जाना भी जाता है—अतः ज्ञान भी व्यापक है और नित्य है, निर्विकार है। यदि यह कहा जाय कि संसार में बहुत कुछ ऐसा है जो ज्ञान में हमारे नहीं आता तब ज्ञान की व्यापकता कैसे मानी जा सकती है ? जो हमारे ज्ञान का विषय नहीं है वो किसी के भी ज्ञान का विषय नहीं है यह तो नहीं कहा जा सकता—कोई तो उसे जानता ही है तो ज्ञान की विषमता तो कहीं नहीं टूटती। कामनादि वृत्तियों से घिरे हुए पृथक् पृथक् पुरुष के ज्ञान में ही ये ज्ञात-अज्ञात रूप विकल्प होता है। एक वह मुख्य ज्ञान, जिसमें सारे जगत् का ज्ञान भाव सूत्रित हो रहा है वह तो रस रूप ही है—अतः वह सर्वत्र व्याप्त भी है, निष्कर्ष यह कि सत्ता में और चेतना में को अतिरिक्तता नही है। ये सत्ता और ज्ञान सबको ही प्रिय लगते हैं। प्रिय भाव ही तृप्ति है—यही आनन्द है। इस आनन्द की व्याप्ति संक्षेप में पहले कही जा चुकी है। विस्तृत विवेचन संशय तदुच्छेदवाद ग्रन्थ में ग्रन्थ कर्त्ता ने ही किया है। इस अधिकरण में रस की निर्विकारता दृष्टान्तों द्वारा विवरण में आ रही है।

[४]पुष्पस्य वस्त्रस्य च संनिकर्षे गन्धान्तरस्यानुदयोऽस्ति वस्त्रे।
निर्गन्धता लिङ्गमथाग्नियोगाद् गन्धोदयो वस्त्रविकारतः स्यात् ।।२०७।।

किसी स्वच्छ वस्त्र में यदि कोई सुगन्धित पुष्प समूह रख दिया जाय तो उस पुष्प की सुगन्ध वस्त्र में आने लगती है—वस्त्र में स्वयं कोई गन्ध नहीं है—क्योंकि यदि वस्त्र में भी गन्ध होता तब तो पुष्प गन्ध से टकराकर कुछ अन्य ही गन्ध होता केवल पुष्प गन्ध नहीं होता। अतः मानना चाहिये कि वस्त्र में गन्ध नहीं है किन्तु वस्त्र का अग्नि संसर्ग होने पर तीव्र गन्ध उठता है—वह वस्त्र का विकार रूप ही है।।२०७।।

४. वस्त्र में गन्ध है कि नहीं इस विषय में भगवान् कणाद ने पूर्वपक्ष—उत्तर पक्ष के रूप में दो सूत्र कहे हैं 'पुष्प वस्त्रयोः सति सन्निकर्ये गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभाव लिङ्गम्' अर्थात् पुष्प और वस्त्र के सम्पर्क से पुष्प गन्धातिरिक्त अन्य गन्ध प्रतीति में नहीं आता—यह वस्त्र की गन्ध शून्यता का सूचक है। जैसे दो भिन्न जातीय सुगन्धित पुष्पों के मसल देने पर एक अन्य गन्ध उदित हो जाता है—वैसा वस्त्र में पुष्प रखने पर न होकर उस पुष्प का ही गन्ध वस्त्र में संक्रांत हो जाता है—वस्त्र में गन्ध नहीं है—यह पूर्व पक्षीय सूत्र में कहा गया। आगे मानसिक विवेचना में वस्त्र में यदि गन्ध नहीं है तो आग से जलने पर स्पष्ट रूप से गन्ध सबके अनुभव में आता है यह गन्ध अग्नि का नहीं हो सकता क्योंकि भिन्न-भिन्न वस्तुओं के जलने में भिन्न

भिन्न प्रकार का गन्ध उठता है, यह सब विचार करके उत्तर सूत्र में कहा कि 'व्यवास्थितः पृथिव्यां गन्धः' अर्थात् पृथिवी मात्र में गन्ध है, अर्थात् वस्त्र भी पार्थिव ही है—उसमें भी गन्ध ता है किन्तु उत्कट गन्ध नहीं है, पुष्प का गन्ध उत्कट है वह वस्त्र गन्ध को दबा देता है, यह उत्तर दिया गया। इस प्रकार अग्नि सम्पर्क से जो गन्ध वस्त्र में पूर्व प्रतीत नहीं हो रहा था वह आ गया यह वस्त्र में विकार आ गया। रस में तो एक बल आता है—वह प्रसुप्त हो जाता है उस प्रसुप्त को नया बल आकर जगा देता है, अर्थात् अन्य अवस्था उपस्थित कर देता है, फिर भी रस के जो सत्ता आदि रूप हैं उनमें कोई विकृति नहीं आती अतः रस सर्वत्र निर्विकार ही सिद्ध होता है।

रसे तु यत्रोदयते बलस्य प्रणोदनादन्यबलं प्रसुप्तम्।
न तत्र दृश्येत रसे विकारस्ततस्तमाहुः किल निर्विकारम् ॥२०८॥

[1]मृदस्ति तूलं पुनरस्ति सूत्रं ततोऽस्ति वस्त्रं च पुनस्तनुत्रम्।
ततोऽस्ति कन्था पुनरग्नियोगात् क्षारं ततस्तत् पुनरस्ति सा मृत् ॥२०९॥

इत्थं यदेकं भवतीह नानारूपं तमेवात्र विकारमाहुः।
तद्रूपकर्मादिविशेषबीजं बलं यदस्तीति रसः स एकः ॥२१०॥

अथाङ्गुलीकम्पन एव तत्र प्रकम्पनं नाम विकारमाहुः।
[2]कम्पो बलं तत्क्षितिरङ्गुलीयं धत्ते बलं निर्विकृतिः स्वरूपात् ॥२११॥

ये ये विकाराः प्रथितास्तदित्थं बलस्य रूपाणि मतानि तानि।
विलीयते यत्र बलं ततोऽन्यच्चोद्भाव्यते यत्र स निर्विकारः ॥२१२॥

क्वचिद्विमोक्षः क्वचिदस्ति बन्धः क्वचिद्विकारः क्रमते विशेषात्।
सर्गानुसर्ग[3] प्रतिसर्गभेदात् क्वचिद्विसर्गः प्रलयः क्वचित्स्यात् ॥२१३॥

रस में पूर्व प्रसुप्त बल में नवागत अन्य बल की प्रेरणा से जो सर्गाभिमुख जागरण होता है, उससे रस में कोई विकार नहीं आता। अन्तर्निहित प्रसुप्त बलावस्था में भी वह निर्विकार था अब बल के सर्गाभिमुख रूप जागरण हो जाने पर भी वह निर्विकार ही है। अतः ऋषियों ने उसे निर्विकार ही कहा है ॥२०८॥

शरीर में जो वस्त्र धारण किया जाता है—उसकी अवस्थाओं पर विचार करने पर, सबसे पहले मृत्तिका रूप, फिर कपास रूप, फिर सूत रूप, उन सूतों का वस्त्र रूप—उसको काट-छांटकर तथा सीं कर पहनने योग्य वस्त्र जिसको तनुत्राण कहा गया वह बनता है—पुराना होने पर वह चीथड़े की शकल में आ जाता है, अग्नि संयोग से उसकी छार हो जाती है, फिर वह मिट्टी की ही शकल में आ जाता है ॥२०९॥

१. इस अनन्त विकारमय जगत् में एक रस रूपिणी सत्ता सर्वत्र व्याप्त हो रही है यह कहा जा रहा है। अस्ति, अस्ति इस अस्तित्व रूप प्रतीति के द्वारा सत्ता सर्वत्र मृत्तिका आदि में व्याप्त है। वह सत्ता एक ही है इस बात को वस्त्र के उदाहरण से ही समझ लेना चाहिए कि मृत्तिका आदि की भिन्न सत्ता रहने पर भी व्यवहार में केवल वस्त्र ही कहा जाता है—क्योंकि करण

की सत्ता ही कार्य में अनुवर्तित होती है, कार्य में कोई पृथक् सत्ता नहीं है। इस प्रक्रिया से ही अद्वैत सिद्ध होता है, इस ही कारण यह सिद्धान्त भी है कि सारे जगत् का मूल कारण एक ही है। विकार वा परिवर्तन का सम्बन्ध बल से होता है। रस तो सत्ता रूप में सर्वत्र अविकृत ही है।

एक मूल पदार्थ जब नाना भाव में परिवर्तित होता है तब विकार माना जाता है, वह विकार रूप, कर्म आदि की विशेषता के कारण बल में होता है, रस सदा एक रूप ही रहता है ॥२१०॥

दृष्टान्त रूप में अङ्गुली कंपन में विचार करने पर, कंपन विकार रूप होता है, कंपन बल स्वरूप है, उस कंपन की धरती (आधार) अङ्गुली है—वह उस कंपन रूप बल को निर्विकार रूप से धारण करती है ॥२११॥

२. कम्पन ही विकार रूप है, उस कम्प को यदि बुद्धि पूर्वक रोक दिया जाय तो अङ्गुली में कोई विकार नहीं होता। इस ही प्रकार बुद्धि द्वारा बल का पृथक् रूप से ग्रहण करने पर रस में कभी कोई विकार नहीं होता यह समझना चाहिये। कम्प रूप बल की क्षिति (आधार) अङ्गुली है, यह श्लोक का अन्वय है। अङ्गुली बल को धारण करती है। स्वयं अङ्गुली को बल से पृथक् करके देखने पर तो अङ्गुली निर्विकार ही है।

संसार में जितने विकार प्रसिद्ध हैं, वे सब बल के रूप माने जाते हैं। जिस रस में एक बल विलीन होकर अन्य बल प्रादुर्भूत होता है, वह रस निर्विकार ही रहता है ॥२१२॥

सर्ग, अनुसर्ग और प्रतिसर्ग भेदों में कहीं बल से विमुक्त भाव हो जाता है—जैसे प्रतिसर्ग अर्थात् प्रलय काल में, कहीं सर्ग काल में बन्ध संसर्ग रहता है तो कहीं अनुसर्ग काल में विशेष योग से विकारयुक्त बल रहता है। इस प्रकार कहीं विसर्ग और कहीं प्रलय ये बल के अवस्था भेद हैं ॥२१३॥

३. यथाक्रम विवक्षा नहीं रखी गई है। प्रतिसर्ग अर्थात् प्रलय में बल का विमोक्ष (बन्धनराहित्य) हो जाता है, सर्ग काल में बन्ध रहता है, अनुसर्ग में विकार होता है, इस प्रकार अन्वय करना चाहिये। बन्ध आदि संसर्गों की व्याख्या पूर्व हो चुकी है। सर्ग को ही विसर्ग पद से भी कहा गया है। सृष्टि में आगत दो पदार्थों के सम्मेलन से जो अन्य वस्तु की सृष्टि होती है वही विकार प्रतीति होती है। यह विकार बल में ही होता है, रस में कभी नहीं होता।

इत्थं रसे कर्मवशाद्विकारो दृष्टोऽपि नास्त्येव रसे विकारः।
[1]अकर्मणो लक्षणमस्ति कर्म तद्विक्रियालक्षितविक्रियोऽसौ ॥२१४॥

[2]योगो विभूतिर्यदि वास्तु बन्धो वृत्तित्वमेवास्तु तथापि मृत्युः।
रसेऽमृते स्यादुपसृष्टमुक्तोऽमृतं तु पूर्णं विभवत्यमुष्मिन् ॥२१५॥

[3]योषावृषाभ्यां तदिरानिराभ्यां यो बुद्बुदे फेनमृदात्मकोऽभूत्।
परस्परासङ्गवशाद्विसर्गः संकर्मणां कर्मसु सङ्ग दृष्टः ॥२१६॥

[४]यथा पुनः श्यामलपीतसङ्गतो विलक्षणं रूपमुदेति हारितम् ।
द्वयोर्विकारेण तथामृते पुनर्न मृत्युसङ्गेन विकार ईक्ष्यते ।।२१७।।

[५]दूर्वाग्रतः प्रातरनेकदिक्क्रमात् दृष्टोऽम्बुबिन्दू रविरश्मिसंगतः ।
रक्तः स दृश्येत हरित्तथाऽन्यथा तथाऽमृतं मृत्युवशात् पृथग्विधम् ।।२१८।।

यथा जलेऽस्मिन् विमले सितोपला बलेन रूपेण विकुर्वते स्वयम् ।
जलं विकुर्वन्ति च तेन तज्जलं न वस्तुतो विक्रियते तथाऽमृतम् ।।२१९।।

विशुद्ध[६]शुक्लस्य पटस्य रञ्जनाद् यथा हरिद्रोहितरूपता मता ।
स रङ्गसङ्गस्य तु भङ्गतः शुचिस्तथाऽवृतेऽस्मिन्नमृतेप्यसङ्गतः ।।२२०।।

[७]पृथक्स्थिता या न कदापि नश्यति प्रकाशते सा दिवसे न चन्द्रिका ।
यथाऽभिभूता तपनप्रकाशतस्तथाऽमृतं स्यात् तमसोऽतिशायने ।।२२१।।

यतः[१] स्वभावादमृतं निरञ्जनं ततस्तदासञ्जनमृत्युसङ्गतः ।
न सज्जते न व्यथते न लिप्यते तदावृतं केवलमीक्ष्यतेऽन्यथा ।।२२२।।

इस प्रकार रस में कर्म रूप बल के कारण विकार देखा जाता है, वास्तव में रस में विकार नहीं होता । रस स्वयं अकर्म रूप है उसका परिचायक कर्म रूप बल है – अतः बल में विकार होने से रस में उसकी प्रतीति होने लगती है ।।२१४।।

१. अकर्म रूप रस का लक्षण अर्थात् परिचायक कर्म रूप बल है । बल को ही हम देख पाते हैं, रस तो गूढ भाव छिपा रहता है । इस कारण ही बल के धर्मों को हम रस में मानने लगते हैं, यह भावार्थ है ।

योग, विभूति, बन्ध अथवा वृत्तिता कोई भी संसर्ग हो, तथापि यह मानना होगा कि मृत्यु रूप बल ही अमृत मय रस में संश्लिष्ट होता है, रस कहीं संश्लिष्ट नहीं होता, रस तो अपने आप में ही परिपूर्ण रहता है ।।२१५।।

२. योग आदि सम्बन्धों के भेद पूर्व कहे जा चुके हैं । सब जगह मृत्यु रूप बल ही रस से संसर्ग करता है । रस का तो बल से विभूति सम्बन्ध ही रहता है । विभूति सम्बन्ध में विकार नहीं होता, यह विभूति के लक्षण में बताया जा चुका है ।

स्त्री, पुरुष संसर्ग से जो जल और वायु के द्वारा बुद्-बुद्, फेन तथा घनभावापन्न मृत्तिका भाव बनता है, वह परस्पर आसक्तिवश विसर्ग रूप विकार सर्ग है । यह संक्रमित कर्मों का ही विकार है । कर्म में विकार रूप संग माना ही जाता है ।।२१६।।

३. यहां संदेह होता है कि एक ही मूल वस्तु के परिवर्तन में वस्त्र के दृष्टान्त में कपास, रूई, सूत, पट आदि अवस्थाओं में कारणानु गति से निर्विकारता मान भी ली जाय, किन्तु, जहां दो के संसर्ग से अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है, वहां तो आसक्ति वश प्रत्यभिज्ञा (पूर्व स्मृति) का भी अभाव रहता है, वहां निर्विकारता कैसे सम्भव हो सकती है ? । इस संदेह का निराकरण करने के लिये कहते हैं रस--(जल) अनिश (वायु) दोनों भिन्न धर्म वाले, एक श्लेषक दूसरा षोषक । योषा–वृषा शब्द स्त्री पुरुष के वाचक हैं । स्त्री–पुरुष रूप से दो का सम्बन्ध होने पर बुद् बुद्

ही फेन तथा मृत्तिका (घनभाव) का रूप लेता है। ये जो संसर्ग रूप सर्ग है, यह भी कर्मों के परस्पर आधान से ही होता है। सत्ता रूप में विराजमान रस तो वहां भी निर्विकार ही है।

दो वस्तुओं के मिलने पर दोनों का स्वरूप नष्ट होकर तीसरा विलक्षण रूप उत्पन्न हो जाय उसे भी विकार कहते हैं—जैसे काला और पीला रंग मिला देने पर विशिष्ट लक्षण वाला हरा रंग प्रादुर्भूत हो जाता है। उस अवस्था में दोनों विकृत हो जाते हैं। वैसा विकार भी अमृत में मृत्यु संसर्ग से नहीं होता—वह निर्विकार ही रहता है ॥२१७॥

४. विकार की परिभाषा कही जा रही है—जहां स्वरूप च्युति हो जाय--वहां विकार शब्द का प्रयोग होता है, जैसाकि हरित अवस्था में आ जाने पर श्याम और पीत रंग की च्युति स्वरूपतः हो गई। इस प्रकार रस की स्वरूप च्युति कहीं भी नहीं होती, अतः वह निर्विकार ही है।

प्रातः सूर्योदय समकाल में दूर्वाशिखर पर जल बिन्दु दिखाई देता है, उस बिन्दु को भिन्न दिशाओं से देखने पर सूर्य किरणों के योग से कभी वह रक्त वर्ण का प्रतीत होता है, कभी हरे रंग का, कभी अन्य किसी रूप का—यह प्रतीति सूर्य रश्मियों के योग से ही होती है—स्वयं बिन्दु में कोई भी रंग नहीं होता। वैसे ही अमृत भी एक रूप होता हुआ भी या नीरूप होता हुआ भी मृत्यु संसर्ग के कारण पृथक् नाना रूप में भासित हो रहा है ॥२१८॥

५. दुर्वा बिन्दु दृष्टान्त से भेद प्रतीति होने पर भी निर्विकारता दिखाई गई है।

जैसे विमल जल में सितोपला (समुद्री कंकरीली रेत) या मिश्री डाल दी जाय वह बल और रूप भाव से स्वयं विकृत हो जाती है और कुछ काल के लिये विमल जलाशय के जल को भी मलिन करती है, तथापि वह विक्रिया वास्तव में जल की नहीं होती—कुछ ही काल के अनन्तर जल अपनी विमल अवस्था में आ जाता है। वैसे ही विकार सब मृत्यु रूप बल में होते हैं, अमृत कभी विकृत नहीं होता ॥२१९॥

स्वच्छ सफेद वस्त्र को रंग देने पर हरा, लाल रंग वस्त्र का हो जाता है—वह वस्त्र का रंग नहीं है—क्योंकि वह आगन्तुक रंग खार आदि से हटा दिया जाने पर फिर वस्त्र स्वच्छ सफेद ही हो जाता है, वैसे ही बल से ढके हुए अमृत में भी मायाबल की संगति हटा देने पर अमृतमय निर्विकार शुद्ध ही रह जाता है ॥२२०॥

६. असङ्गता का दृष्टान्त बताया है--रक्त वर्ण आदि से रंगा हुआ वस्त्र भी वास्तव में सफेद ही होता है। इस कारण ही क्षार से धो डालने पर रंग हट जाता है, फिर वह श्वेत ही हो जाता है। वैसे ही माया बल के विलीन हो जाने पर रस अपने निर्विकार भाव में आ जाता है। अमृत मय रस असङ्ग ही रहता है, यह मानना चाहिये।

चन्द्रमा की चन्द्रिका पृथक् भाव से स्थित रहती है यह कभी नष्ट नहीं होती, किन्तु दिन में सूर्य के प्रकाश से दब जाने के कारण वह नहीं प्रकाशित हो पाती, वैसे ही तमोगुण की अतिवृद्धि हो जाने पर अमृत की प्रतीति नहीं हो पाती ॥२२१॥

७. आवरण हो जाने पर सत्ताभाव में भी प्रतीति नहीं होने का दृष्टान्त चन्द्रिका का दिया गया।

क्योंकि ग्रमृत स्वभावत: निरञ्जन है अर्थात् किसी में रंजित नहीं होता, ग्रत: वह ग्रमृत, मृत्यु के आसञ्जन रूप संसर्ग से स्वयं संसक्त नहीं होता, न रस में कभी व्यथा होतो है, न उसमें कोई लेप हो चढता है, केवल बल से ग्रावृत हो जाने के कारण उसकी ग्रन्यथा प्रतीति होने लगती है ।।३२२।।

१. इस प्रकार निर्विकारता प्रतिपादन का उपसंहार किया गया ।

(१४) ब्रह्म[2]दर्शनाधिकरणम्
(ब्रह्म प्रतीति परिच्छेद)

२. संसार में ब्रह्म की प्रतीति किस किस प्रकार होती है, वो कौन से ऐसे खास हेतु हैं जिनसे ब्रह्म की सत्ता ग्रवश्य स्वीकार करनी पड़ती है, यह इस प्रकरण में उप–पादन किया जाता है ।

ब्रह्मास्ति तत्प्रत्ययसाक्षिकं रसप्रदं च पात्रं च विर्वात लम्भनम् ।
ग्रालम्बनं चायतनं तथा मतं तद् ब्रह्म [3]कर्मण्युपयोगि सप्तधा ।।२२३।।
ब्रह्म त्यदः[4] प्रत्यग्रसाक्षिकं बलैः प्रतीयते द्रव्यवदुल्वणैर्गुणैः ।
भटद्रुमक्षेत्रजलार्चिरुच्चयैः सेनावनग्रामसरःप्रदीपवत् ।।२२४।।
ब्रह्मेति विम्बायतनं हि कर्मणां यथान्तरिक्षं मरुतामुदीरितम् ।
'ब्रह्मेति वालम्भनमुच्यते यथोर्म्मिचित्रबिम्बे जलकुड्यदर्पणम् ।।२२५।।

इस कर्ममय संसार में कर्म के उपयोगी रूप में सात प्रकारों में ब्रह्म का उपयोग होता है, उनसे ब्रह्म का ग्रस्तित्व स्वत: सिद्ध हो जाता है । ब्रह्म, प्रत्येक के ज्ञान का साक्षी है, रस (ग्रानन्द) प्रदान करने वाला है, ब्रह्म में पात्रता है, ग्रर्थात् जगत् जिसमें स्थिति पारहा है—वह पात्र ब्रह्म है, केवल जगत् का भास मात्र है, वास्तव में जगत् ब्रह्म का विवर्त है, ब्रह्म जगत् का वा बल का ग्रालम्भन मात्र है, ब्रह्म जगत् का आलम्बन है, ब्रह्म जगत् का ग्रायतन है । सातों भावों को ग्रागे खोलकर बताया जायगा ।।२२३।।

३. पद्य में कर्मणि पद का ग्रर्थ है–कर्म रूप दृश्य मान जगत् में सात प्रकार से ब्रह्म का उपयोग प्रतीति में ग्राता है । उन सातों का उप पादन ग्रागे किया जा रहा है । क्रम यहां नहीं रखा गया है । प्रथम इस पद्य में जिस क्रम से सात का संकेत हुग्रा है, ग्रागे प्रतिपादन में व्युत्क्रम रखा गया है । यह ध्यान रखना चाहिये ।

हमारे ज्ञान का साक्षी एकमात्र ब्रह्म है । गुणों की उल्वणता (चकाचौंध) के कारण अनेक धा प्रतीत होता हुग्रा भी यह एक रूप प्रतीत होता है—शतश: स्वर्ण ग्राभूषणों में जैसे एक स्वर्ण, वीरों के समुदाय के लिए एक सेना शब्द, वृक्षों के समुदाय के लिए एव वन शब्द, मकान-जल-पशु समुदाय के लिए एक ग्राम शब्द, जल समुदाय के लिए सरोवर शब्द, तेल-रूई-ग्रग्नि की सामुदायिक क्रिया के लिए एक दीपक शब्द । इस तरह अनेक में वह एक ब्रह्म रूप में ही विराजमान है ।।२२४।।

४. प्रत्यय साक्षिक –प्रत्यय नाम ज्ञान का है, बहुव्री ही समास का प्रयोग है, प्रत्यय है साक्षी जिसका वह हुग्रा प्रत्यय साक्षिक । उक्त प्रकार की ग्रनेकों में एकत्व प्रतीति निरालबिनी नहीं हो सकती–

सब में अनुगत उस मूल एक को दिखा रही है। यह जो सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् है—यह अनन्त बलों का समूह रूप है घट-पट आदि सारे पदार्थ विभिन्न प्रकार के बलों के समुदाय हैं, उनके विभिन्न अवयवों के भिन्न भिन्न नाम, भिन्न ही रूप, भिन्न भिन्न ही क्रियायें, ये सब उनमें सम्मिलित हैं। एक वस्त्र के ही कुछ उदाहरण देखे जाय तो एक वस्त्र भूमि को आवृत करने वाला है, उस पर रखे हाथ आदि के भूमि स्पर्श का प्रतिगातक है, आने वाली प्रकाश किरणों का निवारक है, और यही वस्त्र कहीं कुशल कारीगरी से सुन्दर रूप पाकर सबके उत्सुकता रूप ज्ञान का उत्पादक भी बन जाता है। इन विभिन्न अवस्था और भिन्न भिन्न उपयोगों में आकर भी संज्ञा तो सर्वत्र एक वस्त्र ही रहेगी। यह ही सब अवस्थाओं में अनुगत एकता को बता रही है, वह एकत्व वह अव्यय ब्रह्म ही है। माया बल द्वारा विभिन्न रूपों में आये हुए मूल तत्व की एक अवस्था में जितनी व्याप्ति एक आकृति में हो रही है वैसा ही एक एक तो अनेक हो रही हैं—संसार में, इसलिये सर्वत्र एकता की प्रतीति होती है। अन्य दृष्टान्तों को भी देखिये, सेना में सहस्रों वीर हैं, सब की भिन्न भिन्न स्थिति भिन्न भिन्न उपयोग किन्तु सबके लिये परिचायक शब्द एक सेना ही। विभिन्न पेड़, पौधे, लताजाल का समूह एक 'वन' शब्द से बोधित होता है। ग्राम, सरोवर आदि सारे ही दृष्टान्तों में एकत्व प्रतीति होती है। एक ही ज्ञान विषयता को लेकर ही बुध जन वहां एकत्व का व्यवहार करते हैं, वस्तु दृष्टि से ज्ञान अव्यय पुरुष की कला है—वह ब्रह्म स्वरूप ही है—यह एकत्व प्रतीति 'एकब्रह्म' प्रतीति होती है—इस विचारधारा से भी विचार करना चाहिये।

जैसे व्यापक वायु के लिए आधार अन्तरिक्ष है—वैसे ही कर्म, माया, बल आदि अनेक नामों वाली कर्मधारा का एकमात्र महा व्यापक ब्रह्म आश्रय है। आलम्भन भाव में भी ब्रह्म समन्वय होता है, स्पर्श होते हुए भी स्पर्श का प्रभाव नहीं इस अर्थ में आलम्भन का प्रयोग हो रहा है। उदाहरण रूप में जल में तरङ्ग, भींत पर चित्र, दर्पण में बिम्ब। सर्वत्र इनमें स्पर्श रहने पर भी स्पर्श प्रभाव किसी का किसी पर नहीं है ॥२२५॥

५. प्रथमतः सारे संसार के आधार रूप में सर्वत्र ब्रह्म प्रतीति करना मुख्य है। बल की परिणाम रूप क्रिया—चेष्टा ही तो सारे संसार में व्यापक रूप फैल रही है, भिन्न भिन्न आश्रम बनाकर—क्योंकि निराधार बल कुछ नहीं कर सकता तो बल की परिणाम भूत क्रिया किस आधार पर गति करेगी—अतः बल की आधारभूत ब्रह्म सत्ता को मानना ही होगा। यही आधार आधेय भाव यहां छह प्रकार से विभाजित करके समझाया जा रहा है—आयतन, आलम्भन, आलम्बन, पात्र, विवर्ति और रस प्रद इन शब्दों द्वारा आयतन उसको कहते हैं जहां आधार सत्ता होने पर भी अर्थात् आधार आधेय भाव होने पर भी आधेय का जहां स्पर्श भी न होता हो-वह आयतन का अर्थ है। जैसे अनन्त वायु का आधार आकाश है वायु कभी आकाश को स्पर्श नहीं कर पाता अतः आकाश आयतन है, आधार है। श्रीमद्भगवद् गीता में "यथा काश गतो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्। एवं सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय" इस श्लोक द्वारा आयतन भाव का ही संकेत स्पष्ट है।

१. जहां आधार में आधेय का स्पर्श भाव तो है तथापि आधार स्वतन्त्र ही है अर्थात् आधेय के हट जाने पर भी आधार के स्वरूप में कोई हानि नहीं होती, न कोई विलक्षणता आती है--उस

संसर्ग को आलम्भन कहते हैं । आ उपसर्ग के साथ लभ धातु स्पर्श अर्थ में प्रसिद्ध है । दृष्टान्तों में लहरों का या तरंगों का आधार जल है, चित्रों का आधार भींत है, प्रतिबिम्ब का आधार दर्पण है । बिम्ब शब्द प्रतिबिम्ब का बोधक है ।

[२]ब्रह्मेति वालम्बनमस्ति कर्मणां जलस्य बिन्दू रजसां मृदां यथा ।
[३]ब्रह्मेति पात्रं हि यथाम्बुनः पटस्तिलास्तु तैलस्य घृतस्य वा पयः ॥२२६॥

[४]केचित्पुनर्ब्रह्म विवर्तनं विदुः स्वप्ने हि विज्ञानगता यथाखिलाः ।
रथा रथी सारथिरश्वकाः पथस्तथा ननु ब्रह्मणि कर्मणां कलाः ॥२२७॥

रस[५] प्रदं ब्रह्म तु कर्मणि ध्रुवं निरात्मकं कर्म बलं न दृश्यते ।
आत्मा स सत्तारसमादधाति यः पुष्पस्य गन्धो लवणं यथाप्सु वा ॥२२८॥

अथवा ब्रह्म कभी का आलम्बन बनता है—जैसे जल में बहुत से रज के कण या मिट्टी डालने पर उनका आधार जल होता है । इस ही प्रकार पात्रता रूप से भी ब्रह्म सबका आधार, जैसे आर्द्र वस्त्र जल का आधार है, तिल तैल का तथा दुग्ध घृत का आधार होता है ॥२२६॥

२. जहां संश्लेष (जुड़ाव) हो जाता है और उस श्लेष से आधार के स्वरूप में कुछ विलक्षणता भी प्रतीत होती है––उसे आलम्बन कहते हैं । संश्लेष भाव में ही आलम्बन शब्द की प्रसिद्धि है । वहां दृष्टान्त में—जल बिन्दुओं में रज के कण अथवा घनीभूत मृत्तिका डालने पर जल उनका आलम्बन बनता है, वहां परस्पर संश्लेष होता है और जल में विलक्षणता की प्रतीति भी होती है, आधार रूप से जल की प्रतीति तो स्पष्ट ही है । इस ही प्रकार जगत् के उत्पादक कर्मों का या उन बलों का जो कर्म रूप होने जा रहे हैं तथा जो परिणत होकर जगत् भाव में आ जाते हैं उन सब का आधार ब्रह्म है यह देखना चाहिये ।

३. जहां आधार के आधेय विलीन होकर रहता है, पृथक् प्रतीति नहीं होती उसे पात्र कहते हैं, पात्र में वस्तु ढकी रहती है । दृष्टान्त में गीला वस्त्र जैसे जल का आधार है, तिल तैल के आधार हैं, दुग्ध घृत का आधार है, वैसे ब्रह्म जगत् का आधार है यह समझना चाहिये ।

कोई मनीषी ब्रह्म को विवर्त मानते हैं, अर्थात् अधिष्ठान रूप ब्रह्म में जगत् का आभास स्वप्न के समान होता है, जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं है—जैसे स्वप्न में विज्ञान बुद्धि के द्वारा रथ, रथी, सारथी, घोड़े, मार्ग आदि वस्तुतः न होते हुए भी दिखाई देने लगते हैं, वैसे ही ब्रह्म में कर्मों की कलाएँ दीख पड़ती हैं ॥१२७॥

४. जैसे सीप में दूर से चांदी का भ्रम होने लगता है, उस भास का आधार सीप होती है उस ही तरह जगत् की भासमानता का ब्रह्म अधिष्ठान है, ऐसा मानने वाले शङ्कर वेदान्त के विद्वान् विवर्त भाव में ब्रह्म को मानते हैं, वहां स्वप्न को दृष्टान्त कहते हैं, जैसे स्वप्न में भासित होने वाले रथ आदि का अधिष्ठान रूप आधार विज्ञान नाम से कही जाने वाली बुद्धि है, स्वप्न गत तत्तत् रूपों में परिणत बुद्धि का ही भास होता है, वैसे ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है । मूल श्रुति में कहा गया है "न तत्र रथा न रथ योगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते"

इस श्रुति का अर्थ रूप में अनुवाद यहां कर दिया है। अकारान्त पथ शब्द भी है—वह यहां पद्य में प्रयुक्त हुआ है।

विनश्वर बल में ब्रह्म रस प्रदान करता है यह ध्रुव सत्य है, अमृतमय आत्मा के बिना बल वा कर्म का कोई व्यापार नहीं होता, वह आत्मा ही कर्म में सत्तारूप रस का आधान करता है—जैसे जल में पुष्प गन्ध की अथवा लवण मिश्रण से क्षार रस की प्रतीति होती है, वैसे ब्रह्म रस से कर्म व्यापार चलता है ॥२२८॥

५. ब्रह्म की रस प्रदानता का विवरण करते हैं। यहां आधार आधेय भाव विपरीत है। रस, बल में प्रविष्ट होकर उसमें सत्ता का आधान करता है—अतः बल आधार बनता है और रस आधेय। रस रूप ब्रह्म बलम अपने स्वरूप में स्थित सत्ता रस को देता है, उसके कारण ही बल में सत्ता बनती है। बल में पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, यह पूर्व कहा जा चुका है। उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने का जिसका स्वभाव है—वह बल चिर काल तक जो सत्ता धारण करता है—वह रस की सत्ता के आधार पर ही कर पाता है। संसार में देखा जाता है कि प्राकृतिक नियम से नाश भाव में जाते हुए पदार्थों की जो स्वरूप स्थिति कुछ बनी रहती है, और यह वही पदार्थ है यह प्रत्यभिज्ञा रूप स्मरण भी बना रहता है, यह रस की ही महिमा है, सत्ता रूप में रस ही वहां अनुगत रहता है। बृहदारण्यक उपनिषत् में याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ में प्रवृत्त ऋषियों से याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया है "यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः। मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान् मूलात् प्ररोहति" (बृ० अ० ३। ब्रा) अर्थात् वृक्ष कट जाने पर जैसे जड़ में से फिर प्रादुर्भूत हो जाता है, वैसे ही मृत्यु लोक का प्राणी मृत्यु द्वारा नष्ट हो जाने पर किस मूल के आधार पर फिर जन्म ग्रहण करता है? इस प्रश्न के उत्तर में जब सारे ऋषि मौन रहे तो स्वयं ही उत्तर देते हैं "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्"। इत्यादि, इससे मृत्यु द्वारा नष्ट हो जाने पर फिर जन्म ब्रह्म से ही होता है यह स्पष्ट होता है। जगत् में प्रत्येक पदार्थ में जो शक्ति है, उसका आधान भी ब्रह्म से ही होता है। उस आधान में ही दृष्टान्त है कि जल में पुष्प निज गन्ध का आधान करता है, उससे जल सुगन्धित हो जाता है, अथवा जैसे लवण के रस आधान से जल नमकीन बन जाता है, वैसे ही रस की सत्ता से ही जगत् की सत्ता होती है। भगवद्गीता में भी "रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः" इत्यादि कथन द्वारा अपनी आधेयता भगवान् ने कही है।

ब्रह्मेत्यदः[1] प्रत्ययसाक्षिकं भवेदालम्बनं चायतनं च वृत्तितः।
पात्रं तु योगाद्रसदं तु बन्धनाद् विभूतितः स्यात्तु विवर्त्ति लम्भनम् ॥२२६॥
तदित्थमेतानि[2] मतानि चामृते विशिष्य ये ब्रह्मविदो विदुः पृथक्।
सर्वाणि तानीह यथार्थवत्तु ते पश्यन्ति पश्यामि हि सर्वथापि तत् ॥२३०॥
गतिः[3] स भर्त्ता प्रभुरेष साक्षी सुहृन्निवासः शरणं निधानम्।
स्थानं च बीजं प्रभवो लयश्च ब्रह्मेतदेषां जगतां निरुक्तम् ॥२३१॥

इन्द्रियातीत वह अमृत-ब्रह्म प्राणिमात्र के ज्ञान का साक्षी होकर प्रत्यय (ज्ञान) साक्षी रूप में, आलम्भन और आलम्बन भाव से सत्ता रूप में, चेतना योग से जगत् की सत्ता

है, इस योग सम्बन्ध से पात्रता रूप में, बन्ध संसर्ग से रस (आनन्द) देने वाले रूप में अथवा विभूति सम्बन्ध से विवर्त वा लम्भन रूप में विद्या का विषय बनता है ।।२२९।।

१. किस किस सम्बन्ध से कैसे कैसे रूप बनते हैं यह स्पष्ट किया गया। सम्बन्ध विवरण पूर्व हो चुका है।

अमृतमय ब्रह्म के विषय में ब्रह्मवेत्ता विद्वान् उक्त सात भावों में एक-एक को प्रधानता पृथक् रूप में दे रहे हैं। वे सब हो इस विषय में यथार्थ दर्शन कर रहे हैं, मैं स्वयं भी उस ही दृष्टि से विचार करता हूँ ।।२३०।।

२. ब्रह्म सम्बन्ध के ये सातों प्रकार विभिन्न दार्शनिकों तथा आचार्यों द्वारा एक एक को प्रधानता पृथक् रूप से देते हुए व्याख्यात हुए हैं। जैसे—विवर्तवाद श्रीशङ्कराचार्य का प्रसिद्ध है। आयतन भाव का अनुसरण योग दर्शन कर रहा है—'अपरामृष्टः पुरुष विशेषईश्वर' बल का किंचित भी स्पर्श अनुभव न करते हुए जो पुरुष रूप में बल को धारण करता है—वह ईश्वर है। उनका यह निरूपण आयतन भाव को मान्यता दे रहा है। सांख्य दर्शन आलम्बन रूप प्रतिबिम्ब वाद का अनुसरण करता है, ब्रह्म मय पुरुष में प्रतिबिम्ब रूप जगत् का यह कथन सांख्य का है "तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तु दृष्टयः इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तट द्रुमाः" अर्थात् किसी जड़े स्वच्छ दर्पण में तत् स्थानीय सारी वस्तुओं का प्रतिबिम्ब आ जाता है, या तालाब में किनारे के वृक्षों का प्रतिबिम्ब आ जाता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् प्रतिबिम्बित होता है। इस तरह जगत् का प्रतिबिम्ब रूप प्रतिफलन पुरुष में साँख्य द्वारा स्वीकार किया गया है। विशिष्टाद्वैत वादी तथा द्वैतवादी जो शरीर रूप प्रकृति और जीव की ब्रह्म व्याप्ति कहते हुए ब्रह्म की सर्व शक्तिता मानते हैं—वे रस प्रदत्ता रूप लक्षण के पक्षपाती देखे जाते हैं। सत्ता स्वरूप की ब्रह्म की तरह व्याख्या करने वाले, नैयायिक जो ईश्वर की सर्वत्र व्याप्ति बताते हैं वे भी रसप्रदभाव के अनुकूल से हैं। पौराणिक, आगमशास्त्रवादी तथा श्री बल्लभाचार्य की मान्यता में ब्रह्म अपने में अन्तर्विलीन जगत् को बाहर प्रकट कर देता है, यह मान्यता पात्रत्व वाद में निविष्ट होती है। द्वैताद्वैत वादी श्री भास्कराचार्य उपाधि भेद से ब्रह्म को भिन्न मानते हैं, स्वतः ब्रह्म में अभेद मानते हैं, ये आलम्बन वाद को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। यद्यपि इन सब की ही निरूपण प्रक्रिया में अनेक अंशों में इस प्रक्रिया की अपेक्षा भेद भी मिलता है, किन्तु संक्षेपतः संकेत रूप से प्रकृत प्रक्रिया का अनुवर्तन सर्वत्र हो रहा है यह प्रतीति विचार दृष्टि से अवश्य होती ही है। ग्रन्थकर्त्ता के विचार से तो सम्पूर्ण प्रक्रिया ब्रह्म में ही सम्भव होती है—अतः "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" इस वेदान्त सूत्र के अनुसार ही ग्रन्थकार का कथन है। बुद्धिभेद से निरूपण प्रक्रिया में तो भेद होता ही है, किन्तु ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है—यह मान्यता सर्वत्र समान है। कठिन विषय में प्रक्रिया भेद हटाया नहीं जा सकता इसलिये जैसा जिसका विचार हो तदनुसार सर्वथा ब्रह्म दृष्टि रखनी चाहिये ये ग्रन्थकार का आशय है।

संसार के ब्रह्म के साथ बारह सम्बन्ध होते हैं—जगत् की गति ब्रह्म है, भरण पोषण करने वाला ब्रह्म है, सबका स्वामी है, सबका साक्षी है, सबका मित्र है, सबका आधार है, सबका शरण दाता है, सारे जगत् का खजाना है, जगत् सत्ता रूप है, सबका मूल कारण है,

सबका उत्पादक है और अन्त में सबको अपने में लीन कर लेने वाला ब्रह्म है। ये जगत् के साथ ब्रह्म के भाव हैं ॥१३१॥

३. भगवद्गीता में कहे गए जगत् के ब्रह्म के साथ बारह सम्बधों का विवरण कर रहे हैं। भगवद् गीता में—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् । (अ० ६।१८)

इस प्रकार कहा है। पूर्व श्लोक से अंह और जगत् पद की अनुवृत्ति होती है उस से मैं जगत् की गति-भर्ता हूं इत्यादि अर्थ होता है। यहाँ छन्द के अनुरोध से ये सम्बन्ध कुछ उलट फेर से बताये गए है। इनकी व्याख्या आगे के पद्यों में की जा रही है।

बन्धस्य पर्यायविपर्यये वा प्रबन्धनोद्बन्धनयोः क्रमे वा।
मोकेऽपि वोदर्कमुपैति बद्धो यं भावमस्याहुरिमां गतिं[1] ज्ञाः ॥२३२॥ (१)
[2]सर्वं यदादानविसर्गशीलं विसृज्य गृह्णाति न चेत् स्वशक्त्या।
क्षीणं तदात्माभिमुखं यदि स्यात्तदात्मनः संभ्रियते रसेन ॥२३३॥
समृद्धिसम्पन्नतमोऽथवा यः सर्वात्मना क्षीणतमोऽथवा यः।
स्वां स्वां स्थितिं प्रत्यभिसंनिविष्टस्वान्तः स शान्तो भ्रियते रसेन ॥२३४॥
[3]रसः परः सन् स बिभर्ति चाक्षरं क्षरं बिभर्तीह तथैव चाक्षरम्।
न त्वेष मूर्तैर्भ्रियते बिभर्त्यसौ भर्ता ततो भूतभृदुच्यते च सः ॥२३५॥ (२)
[4]स्वरूपसंसृष्टबलेन भूयसाऽप्याक्रम्यमाणो न रसो विजीयते।
सदा रसस्यैव बले समुच्चिते प्रभुत्वमात्मा हि ततोऽभिजायते ॥२३६॥
शान्ते रसे क्षुब्धबलोदयो बलाद् भूत्वेव शान्तिं विनिहन्तुमीहते।
उत्थाय चोत्थाय पतत् स्वयं पुनर्विलीयते शान्तरसो न जीयते ॥२३७॥
बलानि[5] कुर्वन्ति यथा यथा जगत् स्वभावतः सा प्रकृतिर्निरुच्यते।
विज्ञानमस्मिन् पुरुषः कलास्ततो धर्मस्ततो व्यक्तिरियं विशिष्यते ॥२३८॥
[6]सा व्यक्ति सम्पत्कुरुते समा जगत् प्रकर्षमस्मात्प्रकृतिर्बिभिद्यते।
तत्पौरुषं यत् प्रकृतिः क्रमादियं समुन्नतिं लोकहिताय नीयते ॥२३९॥ (३)

बन्धन जगत् का रूप है, बीच-बीच में बन्धन से कुछ छुटकारा भी होता है—अतः प्रकर्ष रूप में बन्धन अथवा बन्धन का उल्लङ्घन इस क्रम में वा सर्वथा बन्धन से मुक्ति में जगत् की लीनता ब्रह्म में होती है। गति का रहस्य जानने वाले विद्वान् जानते हैं कि संसार अवस्था में अथवा मुक्ति में एकमात्र गति ब्रह्म में ही होती है ॥२३२॥

१. गम्यतेऽस्मिन्निति गतिः—इस व्युत्पत्ति के अनुसार—जिसमें जाया जाता है उसे गति कहते हैं। बन्ध अवस्था में वह गति जगत् रूप में होती है, मध्य-मध्य में बन्ध विपर्यय भी होता है, उस अवस्था में और मोके अर्थात् बन्ध मोक्ष हो जाने पर भी ब्रह्म में ही जगत् लीन होता है—अतः ब्रह्म जगत् की गति अर्थात् गन्तव्य स्थान है यह विचार परिधि है।

भर्ता रूप पोषण भाव—सारा संसार ग्रहण–त्याग शील है, त्याग करने के अनन्तर रिक्तता की पूर्ति के लिये प्राणी यदि अपनी शक्ति के अनुसार बाहर से अशिति ग्रहण नहीं कर पाता है तब वह क्षोण होकर यदि आत्माभिमुख हो जाता है अर्थात् चेष्टा विरत होकर शान्त हो जाता है, तब रसमय आत्मा अपने रस से उसका पोषण कर देता है, चेष्टा रहित शान्त अवस्था में आत्माभिमुख होकर बाहर से कुछ न लेने पर भी वह स्वस्थवत् हो जाता है ।।२३३।।

२. भर्ता अर्थात् पोषण करता —इस पोषण सम्बन्ध की व्याख्या तीन पद्यों से की जा रही है। रसप्रद पद की व्याख्या में हम इस की व्याख्या कर चुके हैं। आदान–विसर्ग (ग्रहण-त्याग) सर्वत्र प्रवृत्त हैं। जब त्याग अधिक हो जावे तो क्षीण होकर प्राणी आत्माभिमुख होता है—तब आत्मा उस का पोषण करता है। जैसे थका हुआ क्षीण-शक्ति पुरुष सब क्रिया-कलाप छोड़कर विश्राम करता हुआ आत्माभिमुख हो जाता है तो कुछ समय के अनन्तर वह फिर अपने आपको पुष्ट अनुभव करता है।

चाहे कोई समृद्धिशाली धनी पुरुष हो अथवा सर्वात्नाक्षीण दरिद्र हो, अपनी-अपनी स्थिति में दोनों को अभिनिवेश रहता है--अपने-अपने व्यापार से श्रान्त होकर वे शान्तभाव में विश्राम करते हैं—उस विश्राम अवस्था में रस द्वारा उनका पुन पोषण होता है। 'चिन्तन परम्परा शून्य विश्राम अवस्था में स्थिति ही आत्माभिमुखता है' ।।२३४।।

परनाम से कहे जाने वाला रसमय अव्यय पुरुष, अक्षर पुरुष का पोषक है और अक्षर पुरुष क्षर पुरुष का पोषक है। इस प्राणी को पंचभूत धारण नहीं करते, ये ब्रह्म—ही धारण करता है—यह उन पंचभूतों को भी धारण करता है—अतः 'भूतभृत्' नाम से ख्यात है ।।२३५।।

३. पर अर्थात् अव्यय पुरुष अक्षर का पोषण करता है अर्थात् अव्यय अपना रसदान अक्षर में करता है और अक्षर-क्षर पुरुष को रस दान करता है यह एक सुगम योजना है।

प्रभुः—बल यद्यपि रस के स्वरूप से संसृष्ट होकर पूर्ण शक्ति से रस को आक्रान्त करता है किन्तु रस को जीत नहीं पाता, बल समुदाय होने पर अर्थात् बलों का सुदृढ चयन हो जाने पर भी प्रभुत्व सदा रस का ही रहता है—इस कारण ही वह बलों का आत्मा बन जाता है ।।२३६।।

४. प्रभुत्व-समर्थता अर्थात् जयराजेयता होती है—उस प्रभुत्व का यहां चार पद्यों द्वारा व्याख्यान किया जा रहा है। रस सर्वत्र विजयी होता है—अतः आत्मा रूप विराजमान होता है—यह निष्कर्ष है।

रस की शान्त अवस्था में बल सन्निधान होता है, बल में अन्यान्य बलों के समुच्चय से परस्पर संमर्द रूप महाक्षोभ हो जाता है—वह क्षोभ रस की स्वभाव शान्त अवस्था को भङ्ग करना चाहता है, किन्तु उस निर्विकार अवस्था में वह बल नये-नये रूपों में उद्भूत होकर भी संमर्द भाव से नष्ट होकर उसमें स्वयं विलीन हो जाते हैं—उस शान्त रस पर विजय नहीं पाते। शान्त रस ही विजयी होता है ।।२३७।।

जहां-जहां जैसी कुछ संसार रचना हुई है या हो रही है—वह सब बलों का ही विधान है और यह विधान स्वाभाविक होता है—अतः इसे प्रकृति कहा जाता है। इस प्रकृति द्वारा समुच्चित बलों के उस आकार में विज्ञानात्मा पुरुष निगूढ भाव में मुख्य है—उस को ही आगे कला फलती हैं, तब वस्तुधर्म तत्व उदित होता है। इस प्रकार जहां से कलाओं का प्रसार हो रहा है वह पुरुष रूप व्यक्ति ही विशिष्ट है ॥२३८॥

५. पहले कहा जा चुका है कि मुख्य व्यापक रस से प्रादुर्भूत बल सीमाभाव स्वरूप परिच्छिन्न का भास कराता है। ये परिच्छेद गाया करती है-- यही प्रकृति है। इस परिच्छेद के अनन्तर कला-अंश उत्पन्न होते हैं, कलाओं से ही धर्म—(गुण) उत्पन्न होते हैं। ये कला और धर्म गौण ही रहते हैं, व्यक्ति रूप जो पुरुष है वह प्रधान है—वह ही प्रभु है, अर्थात् कला-धर्म आदि पर प्रभुता रस की ही रहती है।

बल-रस प्रकृति रूप से कहे जाने वाले तत्व के द्वारा जो व्यापक रस सीमाभाव में परिच्छिन्न हुआ वह ही भक्ति भाव है—वह ही जगत् उत्पत्ति में मुख्य तत्व है, किन्तु जगत् का कर्त्ता रूप प्रकृति को ही दिया जाता है। यहां प्रकृति शब्द का अर्थ बताया है—प्रकृष्ट-कृति-प्रकृति, प्रथा अर्थ उत्तम। अर्थात् प्रकृति सबके प्रति समान है—एक रूपिणी है—वह पुरुष की सम्पत्ति है। इस समान भाव में प्रकर्य के कारण तारतम्य भाव आता है और इस प्रकर्ष में कारणता रस की होती है। रस की प्रभुता में ही लोक का विकास रूप हित होता है, अर्थात् प्रकृति ही लोकहिताय उत्तरोत्तर विकसित होती है ।।२३९॥

६. प्रकर्ष अर्थात् उन्नत करती है—वह प्रकृति है। यह प्रकृति का निर्वचन है। प्रशब्द का अर्थ प्रकर्ष है। प्रकर्ष सम्पत्ति को कहते हैं—सिद्ध होता है कि प्रकृति सम्पत्ति रूप है। व्यक्ति रूप पुरुष की वह सम्पत्ति है। और प्रकर्ष रूप यह जगत् ही है। प्रकृति सबके प्रति समा—एकरूपा है। प्रकर्ष भाव में अवश्य तारतम्य हो जाता है। यह प्रकर्ष भाव रूपा प्रकृति और समा का भेद पुरुष सम्बन्ध से ही होता है—अतः मानना होगा कि प्रकृति का नेतृत्व पुरुष के अधीन है। इस नेतृभाव को ही प्रभुत्व कहा जाता है—यह तात्पर्य है। साक्षित्व और सुहृत्व (मित्रत्व) आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

क्षरोऽक्षरश्चैष परश्च कर्मात्मानो हि संहृत्य सदा त्रयोऽपि।
कर्माणि कुर्वन्ति फलस्य भोक्ता त्वेकः क्षरोऽन्यस्त्वफलोऽत्र [1]साक्षी ।।२४०।। (४)

बलप्रसर्गे हि बलप्रसर्गोऽनुकूलवत्स्यात् प्रतिकूलवत्स्यात्।
अथाप्युदासीनवदेव वा स्याद् रसस्तु सर्वस्य [2]सदानुकूलः ।।२४१।। (५)

यः कर्म[3]सन्तानकृतात्ममूर्तिर्भावः स हि श्राम्यति कर्म कुर्वन्।
तद्विश्रमायैष निवासभूतो यत्रैष विश्राममुपैति गत्वा ।।२४२।।

[4]नवोदितो जीर्णदशां क्रमाद् गतः शून्यत्वमैत् तत्र बलं रसोत्थितम्।
श्रान्त्वोपरन्तुं निपतत् क्रमाद्रसे शेतेऽन्ततस्तेन निवास उच्यते ।।२४३।।

[5]स्वप्नान्तबुद्धान्तपरिभ्रमेण श्रान्तोऽयमात्मा पुनरेति शान्तिम्।
निरस्तपाप्माभयमाप्तकामं स्वकं निवासं न हि यत्र शोकः ।।२४४।। (६)

जीवो[६] यदा शोकभयादिदुःखैराक्रम्यते तच्छरणै स याति।
आत्मानमेवैष स पृच्छतोत्थं कथंतरेयं किमिह प्रकुर्याम् ॥२४५॥

सत्यः स विज्ञानमयस्तदात्मा प्रकाशयेच्चेत्तरणेऽभ्युपायम्।
ध्रुवं स विज्ञानबलानुसाराद्रक्षामुपेयात् स भयात् पृथक् स्यात् ॥२४६॥ (७)

[७]क्षरं हि सर्वं व्ययमानमेतत् कथं प्रदृश्येत समस्तवीतम्।
यद्यव्ययं नैव रसप्रदं स्यात् तस्मादिदं ब्रह्मपरं निधानम् ॥२४७॥ (८)

[८]स्थानं प्रतिष्ठा न रसात्तदन्यत् रसप्रतिष्ठं बलमस्ति भाति।
बलं स्वभावप्रचलं स्थिरत्वं यत्रेति तत्स्थानमयं रसोऽस्ति ॥२४८॥

क्षर, अक्षर और पर पद से कहे जाने वाला अव्यय ये तीनों कर्म क्षेत्र के कर्मात्मा हैं, ये तीनों सदा साथ ही रहकर कर्म करते हैं, किन्तु कर्म के फल का भोक्ता केवल क्षर पुरुष ही होता है—अन्य दोनों का कर्म फल से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वे केवल साक्षीभूत ही रहते हैं ॥२४०॥

१. ये साक्षीभूत अक्षर और अव्यय पुरुष, क्षर पुरुष के प्रति ईश्वर है, अतः क्षर पुरुष के प्रति ईश्वर की साक्षिता रहती है।

जीवन में नित्य जो जगत् में देखा जाता है—वह बलों का सर्ग है—उस पर विचार करने पर स्पष्ट होगा कि एक बल पर जो अन्यान्य बल आते हैं, (बल, कर्म, क्रिया ये सब एक हैं यह तो ध्यान सदा रखना ही है) वे बल कभी तो अनुभूति में अनुकूल होते हैं, कभी प्रतिकूल होते हैं, कभी उदासीन भाव में तटस्थ ही रह जाते हैं—किन्तु अमृतमय रस तो सदा सबको अनुकूल अनुभूति में ही आता है ॥२४१॥

२. इस अनुकूलता से ही मित्र भाव का स्पष्टीकरण हो गया।

कर्म समूह से समुत्पन्न आत्मा का यह जो मूर्तिमान शरीर है, यह कर्म करते-करते जब थक जाता है तब इसके विश्राम के लिये निवासभूत यह रसमय आत्मा ही होता है, इस आत्मा रूप निवास में पहुंच कर पूर्ण विश्राम मिलता है ॥२४२॥

३. रसरूप आत्मा की निवासता का परिचय तीन पद्यों से दिया जा रहा है। सर्वप्रथम पंचभूतों से निर्मित मनुष्य आदि शरीर का दृष्टान्त है—पद्य का अन्वय इस प्रकार है कि कर्म करता हुआ थक जाने पर जहां जाकर विश्राम पाता है, वह विश्राम के लिये निवास माना जाता है। शरीरगत धातु कर्म छोड़कर विश्राम रूप शान्ति चाहते हैं, शान्ति ही ब्रह्म का रूप है—यह अर्थ है।

अन्य प्रकार से निवास भाव—सर्वप्रथम रस में जो नवीन बल का उदय होता है, उस बल का स्वभाव परिवर्तनशील होने के कारण—क्रमशः उसमें जीर्णता आ जाती है, उस जीर्णभाव में निश्चेष्ट होकर परम विश्राम के लिये वह रस में ही सो जाता है। जहां शयन किया जाय निःशङ्क—उसको ही निवास कहते हैं। अर्थात् बल जीर्ण होकर गिरते-गिरते रस में गिर पड़ता है और लीन हो जाता है ॥२४२॥

४. सृष्टि के आदिकाल में अधिदेव तत्व की निवासता बताई जाती है, उसका संकेत है कि—प्रसुप्त बल रस में प्रथम उदित होकर अपनी निज प्रतिक्षण चेष्टा वाली परिवर्तनशीलता के कारण जीर्ण होकर उसमें ही प्रविष्ट होकर वहां ही भीतर शयन करता है, अतः 'निवास' रसरूप ब्रह्म ही होता है। जल तरङ्ग के दृष्टान्त का यहां अनुसंधान कर लेना चाहिये।

जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्था अनुभूति में सर्वत्र आता है। जागना, काम करना, थक जाना, सो जाना, फिर जागने पर वही क्रम इसका नाम संसार है – इस जागृत्-स्वप्न के चक्र से घबराकर तथा ऊबकर जब वह आत्मा की शरण रूप सुषुप्ति में प्रवेश करता है, तब परम शान्ति लाभ करता है—क्योंकि रसमय आत्मा के पास पाप तत्व का प्रवेश नहीं है, वह परम अभय स्थान है—वहां जाकर सारी कामना परिपूर्ण हो जाती है, आत्मा वास्तव में ऐसा एक निज का निवास है—जहां शोक का प्रवेश नहीं है ॥२४४॥

५. अध्यात्मरूप निवास बोध कराने के लिये उपनिषत् रूप श्रुति का अर्थ रूप में अनुवाद कर दिया है। आत्मा शब्द का अर्थ यहां क्षर रूप व्यावहारिक आत्मा मानना चाहिये। इस क्षर आत्मा का जो मूल निज स्थान है अर्थात् जहां से क्षर आत्मा का उदय हुआ है—वह अक्षर तथा अव्यय सर्वथा पाप रहित है, अभय रूप है, सब कामनाओं से परिपूर्ण है—उस अव्यय पुरुष में सुषुप्ति अवस्था में सान्निध्य हो जाने से उसमें ही लीनता हो जाती है।

शरणभाव—जीव जब शोक, भय आदि दु:खों से आक्रान्त हो जाता है तो निरस्त होकर वह उस परमात्व तत्व की ही शरण लेता है, अपने आत्मा से ही यह इस प्रकार पूछता है कि मैं इस विपत्ति का संतरण कैसे करूं ? इस समय मैं क्या करूं ॥२४५॥

६. शरणरूपता का व्याख्यान दो पद्यों में।

सच्चे एकाग्रभाव से शरणभावापन्न होकर पूछने पर सत्य स्वरूप विज्ञानमय वह आत्मा यदि विपत्ति से पार हो जाने का पूर्ण उपाय बता देता है, सो निश्चय ही उस विज्ञान बल के अनुसरण करने से वह समागत भय से पृथक् हो जाता है। स्वयं सुरक्षा का अनुभव करता है ॥२४६॥

ब्रह्म की सर्व निधानता—दृश्यमान जगत् क्षरभाव में है—क्षर पुरुष में सदा व्यय होता रहता है—इसका रस व्यय होते-होते यदि सभी समाप्त हो जाय तो जीवन सत्ता ही कैसे दिखाई दे सकती है—इस से मानना होगा कि अव्यय पुरुष इसको रस दान करता रहता है—सिद्ध है कि यह अव्यय ब्रह्म सब का खजाना है ॥२४७॥

७. निधानता की व्याख्या कर रहे हैं – निधान—कोष-खजाने को कहते हैं, जहां से प्राप्त करके जीवनोपयोगी साधना चलती रहे। प्रकृति के द्वारा प्रतिक्षण क्षीयमाण यह क्षर पुरुष अव्यय पुरुष से रस पाकर ही जीवित रहता है। अतः अव्यय पुरुष निधिभूत है यह भाव है।

स्थान—स्थिति तथा प्रतिष्ठा रस से भिन्न नहीं है, रस की प्रतिष्ठा पाकर ही बल की सत्ता होती है तथा स्पष्ट भास होता है, बल तो स्वभाव से प्रचलनशील है—बल की यह चंचलता जहां जाकर स्थिरता प्राप्त कर लेती है—वह स्थान अमृतमय रस ही है ॥२४८॥

[1]रसेन युक्तं बलमेकरूपं भूत्वा विकुर्वद् भवतीह नाना।
बले विकृत्य विकृतं विशिष्टं बीजं भवत्यव्ययमुत्तरस्य ॥२४६॥
[2]परं मनस्तत्र न चेदुपेयात् प्रज्ञस्वरूपं न भवेत्तदानीम्।
मनोबलग्रन्थिविशिष्टसर्गे प्रज्ञे रसः सम्भवतीह बीजम् ॥२५०॥
रसे यदव्यक्तबलं प्रसुप्तं रसात् तदुद्भूय रसप्रतीकम्[3]।
प्रलीयते तत्र रसे पुनस्तत् तस्माद्रसोऽसौ प्रभवो लयश्च ॥२५१॥

ब्रह्म का बीजभाव—रस से संयुक्त होकर बल प्रथम एक रूप होकर फिर विकृत होता हुआ इस संसार में नानाभाव में आ जाता है, बल के विकार से बल में रहने वाले रस में भी विकार प्रतीति होने लगती है—वह बोजभाव में आगे परिवर्तित होता रहता है। स्पष्ट है कि आगे होने वाली सम्पूर्ण सृष्टि का बीज अव्यय पुरुष है ॥२४६॥

१. बीजत्व विवेचन - जैसे बीज क्रमशः बढता हुआ नाना शाखाओं में बदल जाता है—वैसे ही शयन से जागा हुआ वह एकरूप बल नाना भावों को धारण करता हुआ रस को भी विभिन्न शाखावाला बना देता है—इस कारण ही अव्यय से अक्षर और क्षर आदि का प्रादुर्भाव होता है। अतः सब का बीज—ईश्वर अव्यय पुरुष है।

पर पद से कहा जाने वाला जो अव्यय पुरुप है—जिसकी आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् ये पांच कला हैं, तत्सम्बन्धी मन के बल का क्रमशः आगे ग्रन्थि बन्धन होते हुए अक्षर और क्षर का विकास होता है—इस क्षर रूप मन में यदि अव्यय स्थित कला मन का संसर्ग न होवे, तो प्रज्ञ रूप मन जो प्रधानतः इन्द्रिय और शरीर का परिचालक होता है—वह अव्यय पुरुष के रस से ही होता है—वह सर्व संचालक बीज है ॥२५०॥

२. अध्यात्म भाव की बीज रूपता का व्याख्यान है—पुरुष निरूपण प्रकरण में जो अधिदेव रूप पांच कला व्याख्यात हुई हैं, उनके सार रूप से मनुष्य आदि शरीरों में पांच व्यावहारिक आत्माओं का प्रादुर्भाव होता है। स्वयम्भू मण्डल आदि से जो रस शरीर में प्रविष्ट होते हैं—उनमें प्रतिफलित चैतन्य ही आत्मा पद से व्यवहृत होता है—क्योंकि मूल मुख्य आत्मा चैतन्य रूप है, उसका ही प्रतिबिम्ब मनुष्य आदि का आत्मा है। ये व्यावहारिक आत्मा ही शरीर के परिचालक हैं, अनुगत मुख्य आत्मा तो निर्विकार, निश्चेष्ट ही है। स्वयम्भू मण्डल के रस को वहाँ अव्यक्त वा सूत्र कहा जाता है। उसमें प्रतिबिम्बित चेतन्य शान्तात्मा वा सूत्रात्मा कहा जाता है। परमेष्ठि मण्डल का रस महान्—वा महत्तत्व कहलाता है, उसमेंप्रतिफलित चैतन्य को महान् आत्मा कहते हैं। जिसको कठोपनिषत् में स्पष्ट रूप से 'बुद्धेरात्मा महान् परः' कहा है। सूर्य मण्डल का रस बुद्धि है—उस बुद्धि से सीमाबद्ध चैतन्य विज्ञानात्मा है। चन्द्र मण्डल का रस मन है, उससे सीमित चैतन्य प्रज्ञानात्मा हैं, इस को ही प्रज्ञ कहा जाता है। ये ही मुख्य रूप से इन्द्रियों का तथा शरीर का संचालक है। पृथ्वी का रस शरीर और इन्द्रियां हैं। उसमें प्रतिफलित चैतन्य प्राणात्मा वा शरीर आत्मा कहा जाता है। अन्य ग्रन्थों में इन आत्माओं के अवान्तर भेद, अठारह आत्मा निरूपित हुए हैं। इन आत्माओं का निरूपण कुछ प्रकार भेद से तैत्तिरीय उपनिषत् में भी हुआ है। उदाहरण के रूप में उन में से प्रज्ञ आत्मा में अव्यय पुरुष की बीज रूपता इस पद्य में दिखाई गई है। पद्य का भाव यह है कि—हमारा

मन जो चन्द्र रस से बना है, इस मनरूपी चन्द्र रसरूप प्रज्ञानात्मा में यदि पर मन अर्थात् — अव्यय कला रूप श्वांवनीयसु नाम से वेदों में प्रसिद्ध मन यदि संसर्ग न करे तो प्रज्ञानात्मा का स्वरूप संघटन ही न हो सके, चैतन्य से ही आत्मा की परिपूर्णता होती है। स्पष्ट यह हुआ कि बलों की ग्रन्थियों से अवस्था विशेष को पाया हुआ क्षर पुरुष का क्षर मन है, उस मन की प्रेरणा से जो सृष्टि की जाती है—उसमें बीज रूपता अव्यय पुरुष से आने वाले रस की ही है। इस प्रक्रिया से ही अन्य आत्माओं के विषय में भी विचारना चाहिये। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि—बल के उपस्थिति रूप मात्र संबन्ध से जो परिच्छेद रस में बनता है—वह अव्यय पुरुष का प्रादुर्भाव रूप है, बहुत से बलों का चयन हो जाने पर अक्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है और बलों में जब ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं—जिसको ग्रन्थि बन्धन कहते हैं तब क्षर पुरुष का विकार होता है।

प्रभवत्व तथा लयत्व बताया है—रस में जो अव्यक्त अवस्था में बल प्रसुप्त था, वह रस से पूर्णता लाभ कर जब उठता है तो रस का प्रतीक (सादृश्य) वा (प्रतिनिधि) बन जाता है, अतः चेष्टमान होता हुआ अति चेष्टा से परिश्रान्त होकर उस रस में ही पुनः लीन हो जाता है। इस प्रकार यह रस बल का प्रभव अर्थात् उत्पत्ति स्थान तथा लय स्थान दोनों रूप में हैं ॥२५१॥

३. उत्पत्ति और प्रलय दोनों एक ही पद्य में स्पष्ट बता दी गई। 'ब्रह्मविनय' नामक ग्रन्थ में तो गति, भर्ता इत्यादि भगवद्गीता के पद्य में कहे गये सम्बन्ध अक्षर पुरुष के और क्षर पुरुष के अव्यय के साथ बताये गये हैं, अव्यय पुरुष अक्षर की गति है, भर्ता है आदि। इस गीता के पद्य में गति, प्रलय इन दोनों की, निवास,शरण, स्थान, निधान इन पदों में और भर्ता, प्रभु, इन पदों की—प्रभव, बीज इन पदों में जो पुनरुक्ति का भास होता है—उसका समाधान अव्यय पुरुष की कलाओं के पृथक्-पृथक् सम्बन्ध द्वारा कर दिया गया। अव्यय पुरुष अपनी मन रूप कला के अवच्छेद से अक्षर पुरुष का प्रभव (जनक) है, प्रलय है, स्थान है और साक्षी है। वाक् और प्राण का भी उत्पत्ति प्रलय स्थान मन ही है—अतः उसके आधार पर प्रादुर्भाव पाने वाले अक्षर और क्षर का भी वह प्रभव और प्रलय है, उसके आधार पर ही अक्षर टिका है—अतः वह ही स्थान है। ज्ञान रूपता होने के कारण वही साक्षी है। वाक् रूप सीमा से वह बीज है, निधान (कोष) है। बीज पद से परिणत होने वाला कारण कहा जाता है, वाक् ही क्षर पुरुष रूपता को पाकर परिणामिनी होती है। इस परिणाम अवस्था में सत्कार्यवाद पद्धति के अनुसार अक्षर-क्षर आदि कार्य रूपों की पहले से ही स्थिति है—अतः वह ही निधान है। अपनी विज्ञान रूप कला के अवच्छेद से अव्यय सबका सुहृत् है और शरण्य है। जैसा यहां मूल में व्याख्यान हुआ है। प्राण के अवच्छेद (सीमा) से निवासता, प्रभुता और भर्तृता है। प्राण के आधार पर ही सब की सत्ता है, प्राण ही सबका पोषण करता है। वह सबको सब क्रियाओं में नियुक्त करता है—अतः प्रभु अर्थात् सबका स्वामी है। अपनी प्रथम कला आनन्द रूप अवच्छेद से तो वह सब की एक मात्र गति है। क्षर, अक्षर आदि सब आनन्द कला के सहारे ही ठहरे हुए हैं। (आनन्द के बिना सत्ता नहीं होती)। अव्यय ही ब्रह्म है। क्षर-अक्षर तो जगत् रूप हैं—इसलिये जगत् के ब्रह्म के साथ वे ही संबन्ध होते हैं, इसलिये कथन मात्र का भेद है, वास्तविकता में

कोई भेद नहीं है। यहां भी यदि पुनरुक्ति का आभास हो तो इस ही प्रकार से समाधान कर लेना चाहिये।

(१५) आत्माधिकरणम्

[1]सत्तारसं यः प्रददाति कर्मणे सदुच्यते कर्म यदन्वयादिह।
आत्मा स भूमा रस एव कर्मणो रसावतारोऽपि रसप्रदस्तथा ॥२५२॥
[2]सुप्तेयमव्यक्ततयास्ति शक्तिर्यस्मिश्च यस्मिन् समुदेति काले।
व्यक्ता यतस्ते विविधाश्च भावाः स्युर्यस्य भोगाय स उक्त आत्मा ॥२५३॥
[3]क्ष्मा ज्मा यथा ग्मा क्षमतेर्जमेर्गमेस्तथा तमेस्त्मा भवतीह काङ्क्षया।
यतोऽशनायात्र ततः स इच्छतीह व्याप्य चात्मेति मतस्ततः स हि ॥२५४॥

जो कर्म को सत्ता रूप रस देता है, जिसके संसर्ग से कर्म यहां सत् कहा जाता है, कर्म का रस आत्मा ही है, वह आत्मा रूप रस व्यापक है, वास्तव में कम में रस का ही अवतरण होता है—अतः उसे रसावतार भी कहते हैं, वह ही रस का दाता है ॥२५२॥

१. आत्मा के निरूपण में प्रथम आत्मा शब्द का अर्थ बताया है—जिसकी सत्ता से जो दूसरा सत्ताधारी बनता है, उस दूसरे को सत्ता प्रदान करने वाला आत्मा कहलाता है। बल की स्वतन्त्र निरपेक्ष सत्ता नहीं है, अपितु रस ही अपनी स्वरूप भूत सत्ता को—अर्थात् सत्ता रूप रस को कर्म वा बल में अर्पित करता है। इस कारण बल समुदाय रूप कर्म का रस ही आत्मा कहा जाता है। रस के योग से ही कर्म नाम से ख्यात बल सत्ताधारी बनता है। वह रसभूमा—अर्थात् व्यापक है। बल में प्रविष्ट रस रसावतार भी कहा जाता है—बल में अवतरण होता है इस कारण रस का ही बल में वा कर्म में प्रवेश होता है, अपने से अतिरिक्त किसी अन्य रस का दान नहीं करता, तथापि रसप्रदत्ता जो आत्मा की कही जाती है—वह लाक्षणिक रूप में कही जाती है।

आत्मा का दूसरा अर्थ—जिसमें यह शक्ति अव्यक्त भाव में प्रसुप्त रहती है, वह सृष्टि रचना काल में उदित होती है—उससे सांसारिक विविध भाव व्यक्त हो जाते हैं—वे विविध भाव जिसके भोग के लिये होते हैं—उसे आत्मा कहा गया है ॥२५३॥

२. आत्मा शब्द का अन्य अर्थ कहा है। विकारों में रहते हुए भी आत्मा अविकृत रहता है और आत्मा भोक्ता भी माना जाता है। बल का ही अपर नाम शक्ति है—वह पहले प्रसुप्त थी—रस संसर्ग से जागरित हो जाता है। जागने पर उससे विविध भावों की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार शक्ति की विभिन्न रूपता होने पर भी रस एक रूप ही रहता है। ऐसा होने पर भी शक्ति के विकारों का उपचार (भास) उसमें होने लगता है, इस तरह साक्षी रूपता से वह भोक्ता होता है—इस कारण भी रस आत्मा है।

जैसे क्षम धातु से ज्मा, जम धातु से म्मा और गम धातु से ग्मा शब्द वेद में प्रसिद्ध हैं, वैसे काङ्क्षा अर्थ वाले तम धातु से त्मा शब्द बनता है—उसके साथ व्यापक अर्थ वाला आङ् उपसर्ग लगने से आत्मा बनता है, वह आत्मा अशनाया (क्षुधा) के बल से विभुना

प्राप्ति की इच्छा से संचरण करता है, अर्थात् अपने मूल व्यापक भाव में प्रवेश चाहता है—उसे आत्मा मानने का निश्चित यह हेतु है ।।२५४।।

३. अब आत्मा शब्द का निर्वचन करते हुए अपना अभिमत तीसरा अर्थ बताते हैं—तुम काङ्क्षायाम्—इस आकाङ्क्षा द्योतक तम् धातु से उणादि गण का अन् प्रत्यय करने पर उपधा का लोप हो जाने पर त्मा शब्द बनता है। उसके साथ व्याप्ति अर्थ वाले आङ् उपसर्ग के योग होने पर आत्मन् बन जाता है। यह प्रक्रिया अन्यत्र भी देखी जाती है—इसलिये उदाहरण देकर बताया कि क्षम से क्ष्मा, जम धातु से ज्मा, गम् धातु से ग्मा शब्द बनते हैं, ये शब्द वेद में प्रसिद्ध हैं, वैसे ही तमु धातु से त्मा शब्द बनता है—यह भाव है। आङ् उपसर्ग के साथ तम धातु के काङ्क्षा अर्थ का समन्वय करने से—जो आकाङ्क्षा करता हुआ सोम रूप परिच्छिन्नता को त्याग कर व्यापक होने की इच्छा करता हुआ—अशनाया के बल से संचरण करता है, अर्थात् इच्छा करते हुए व्यापक होता है—वह आत्मा कहा जाता है, यह पद्य का अर्थ है। इसकी व्याख्या हमने पुरुष निर्वचन अधिकरण में कर दी है। यद्यपि पुरुष संस्था में ही यह प्रक्रिया होती है, तथापि अशनाया का आधार रस ही है—अतः शुद्ध रस में भी आत्मा शब्द का प्रयोग कर लिया जाता है।

[1]अतः स आत्मेति वदन्ति केचित् तच्छब्दमूलं न विदन्ति तेऽलम् ।
स पाणिनिः पश्यति शाब्दिकस्तं त्मानं यदा ह्युद्धृतपूर्वभागम् ।।२५५।।

[2]त्रिधाऽस्य लोके व्यवहार इष्यते स सर्वनामा सन्निरूपकश्च सः ।
संज्ञाऽथ वा सर्वविधे प्रयोगके न प्रत्यगर्थत्वमयं जहाति हि ।।२५६।।

[3]रसोऽयमात्मा बलमस्य शक्तिः शक्त्या विहीनो न रसः क्वचित्स्यात् ।
अव्यक्तरूपेण रसे बलं तत् प्रवाहनित्यं न कदापि नास्ति ।।२५७।।
विशेषरूपेण तु तद्बलं भवेद्व्यक्तं रसे कुत्रचिदस्ति नास्ति ।
[4]सहैव सर्वं बलमेकहेलया विलीयते नोदयते न दृश्यते ।।२५८।।
यदेव किञ्चित् क्वचिदस्ति वस्तु सा सर्वत्र शक्तिः परिदृश्यते ध्रुवम् ।
पृथक् पृथक्छक्तिरियं विभाव्यते [5]यस्मिन् स आत्मा स रसोऽनुभूयते ।।२५९।।

[6]आत्मा द्विधोक्तः प्रथमस्त्वखण्डः कर्मात्मसंज्ञस्तत्परश्च तत्र ।
शुद्धो रसः स्यात्तदखण्ड आत्माऽमृतोऽभयः शुद्धबलन्तु शक्तिः ।।२६०।।

कुछ विद्वान् सतत गमनार्थक अत धातु से आत्मा शब्द की निष्पत्ति बताते हैं, वे आत्मा शब्द के वास्तविक तत्व पूर्णतया नहीं समझते हैं, शब्द शास्त्र के आचार्य मुनि पाणिनी इस शब्द के रहस्य का ज्ञान कर चुके थे—अतएव आत्मन् शब्द के पूर्व भाग आङ् को लुप्त करने का सूत्र विधान किया ।।२५५।।

१. बहुत से आचार्य अत् धातु से आत्मन् शब्द का निर्वचन करते हैं, ग्रन्थकार का कथन है कि वह उचित नहीं है। मुनिवर पाणिनी ने 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (अष्टा० ६।४।१४१) इस सूत्र से आत्मन् शब्द के आदि भाग का लोप विधान किया है, उससे 'त्मन्' बच रहता है—अङ् उपसर्ग

का जो आ था उसका लोप हो जाता है तो वेदो 'त्मना' शब्द सिद्ध हो जाता है। इस विधान से यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् पाणिनी ने आत्मन् शब्द में आकार को आदि भाग के रूप में पृथक् स्वीकार किया है इसलिए मेरी कही हुई व्युत्पत्ति तम् धातु से निष्पन्न करने की ही उनको भी अभिगत थी यह तात्पर्य है। अत् धातु से आत्मा के विचार में तो आकार की आदि भागता सभव ही नहीं है। श्रुति में भी केवल 'त्मना' शब्द आत्मा के लिये देखा जाता है, वहाँ भी आ की पृथक्ता का संकेत मिलता है।

लोक व्यवहार में आत्मा का व्यवहार तीन विधाओं में होता है। आत्मा सर्वनाम है, आत्मा सनिरूपक है, तीसरा आत्मा ये संज्ञा है। इन तीनों प्रकार के प्रयोगों में आत्मा की मुख्यता यह हो रही है कि कहीं भी वह अपने अन्त: प्रवेश (भीतरी अभिमुखता) रूप गूढ भाव को नहीं छोड़ता ॥२५६॥

२. आत्मा शब्द का तीन प्रकार का व्यवहार दिखाया गया, सर्वनाम रूप में—अर्थात् आत्मा सर्वत्र व्याप्त है इस रूप में मृत्तिका रूप आत्मा, पत्थर रूप आत्मा इत्यादि व्यवहार में सर्वत्र ही आत्मा शब्द का प्रयोग होता है। दूसरा व्यवहार सनिरूपक—अर्थात् किस का आत्मा यह जिज्ञासा जहां होती है। तीसरा संज्ञारूप आत्मा शब्द जैसा कि न्याय में नौ द्रव्यों में गिना दिया गया। किन्तु इन सब में अपने अन्तःनिहित गूढ साक्षी रूप व्यापक भाव की ओर अभिमुखता रूप आकाङ्क्षा की बोधकता है, अर्थात् अपने आन्तर्भाव को आत्मा कभी नहीं छोड़ता, यह ही पहचान है।

रस रूप यह आत्मा है, बल इस की शक्ति है, शक्ति विहीन रस कहीं नहीं होता, जो दृष्टिगोचर नहीं है वह बल भी अव्यक्त रूप से रस में रहता है—बल में प्रवाह नित्यता है, वह कभी कहीं नहीं है ऐसा नहीं होता ॥२५७॥

३. मुख्य आत्मा शब्द रस में ही प्रयुक्त होता है यह कहा जा रहा है। बल और रस रूप आत्मा की मौलिक विशेषता यह है कि आत्मा सदा एकरूपेण नित्य है, बल में अनन्तता के साथ प्रवाह नित्यता है।

संसार स्थिति में सर्व सामान्य अवस्था और विशेष अवस्था दोनों होती हैं। इनमें विशेष अवस्था में आया हुआ मायाबल रस में कहीं व्यक्तभाव में रहता है—कहीं नहीं रहता, किन्तु सम्पूर्ण संसार भाव सामान्यतया एक ही झटके में समाप्त हो जाय और फिर उदित ही न होवे, ऐसा कभी नहीं होता—अर्थात् जन्म-मृत्यु की प्रवाह नित्यता सदा रहती ही है ॥२५८॥

४. व्यक्ति रूप से बल का उदय और विलय भाव होता रहता है किन्तु सब प्रकार के बलों का सर्व सामान्य रूप अभाव कभी कहीं नहीं होता—यह भाव है।

जो कुछ कहीं भी कुछ भी दृश्यमान है-वह सब सर्वत्र शक्ति का ही रूप परिदृश्यमान होता है—यह निश्चित सिद्धान्त है। पृथक्-पृथक् रूप में अनन्त भाव में ये शक्ति जिस तत्व में विशेष रूप से भावित हो रही है—अर्थात् आश्रय पा रही है—यह ही आत्मा है—वह रस रूपेण अनुभूति में आता है ॥२५९॥

५. शक्ति सर्वत्र पृथक्-पृथक् रूप ही होती है, जिसमें यह शक्ति रहती है—अर्थात् व्यक्त भाव पारही है—वह शक्ति का आश्रय माना जाता है।

आत्मा की दो विधा हैं, एक शुद्ध रस रूप-बल अवच्छेद से रहित अखण्ड आत्मा है—यह केवल अमृत रूप है, अभय स्थान है—अर्थात् मृत्यु भय वहां से व्याप्त नहीं है। दूसरा आत्मा रूप कर्मात्मा का है, यह संसरण रूप कर्म क्षेत्र का आत्मा है—यह सखण्ड है—अर्थात् सकल है—जिसकी कलाओं से सृष्टि होती है। पूर्वोक्त शुद्ध रस के साथ बल भी शुद्ध हो है—अर्थात् विकार प्रवृत्त नहीं है, उसको ही शक्ति कहते हैं ॥२६०॥

६. सनिरूपक आत्मा जो कहा गया उसकी व्याख्या करते हैं—शुद्ध रस सदा आत्मा पद का वाच्य है—"अर्थात् वह ही मुख्य आत्मा है"। सनिरूपक का अर्थ "किसका आत्मा" यह बताया था—वही बता रहे हैं कि बल विशिष्ट रस जो कुछ वस्तु आगे उत्पन्न कर रहा है—उसका वह आत्मा कहलाता है। यह सखण्ड (सकल) है, यह कर्मात्मा कूटस्थ नित्य नहीं है, यह कर्म विशिष्ट होने के कारण 'कर्मात्मा' कहलाता है।

[1]ततोऽतिरिक्ता इह चात्मशब्दाः, ये केऽपि कर्मात्मतया त इष्टाः।
स्वरूपतः कर्मवतां न तेषामात्मत्वमाप्तं व्यतिरिच्य कर्म ॥२६१॥
[2]परस्परान्वाहितरूपनानाकर्माणि चैकं क्वचिदिष्ट आत्मा।
शुद्धस्त्वभोक्ता च तथैव भोक्तेत्येवं त्रिधात्मा तदखण्डभिन्नः ॥२६२॥
[3]परो य आत्मा पुरुषः स शुद्धः शुद्धे रसे शुद्धबलप्रयोगात्।
बलैः कृतात्मापि न तत्र शक्तिस्तद्भोग्यमर्थं क्षरमादधाति ॥२६३॥
[4]यश्चाक्षरोऽयं पुरुषः स आत्मा स ईश्वरः सर्वनियोजकोऽपि।
नाश्नाति तत्कर्मफलानि यद्वन्न लिप्यतेऽर्कः किल बाह्यदोषैः ॥२६४॥
[5]क्षरस्तु भोक्ता किल कर्मभिस्तैः सम्पद्यमानः प्रतितिष्ठतीह।
कर्माणि नित्यं कुरुतेऽथ तेषां फलानि भुङ्क्ते सदसन्ति नित्यम् ॥२६५॥
[6]आत्मा रथी तत्र रथः शरीरं प्रज्ञस्तु सूतोऽथ षडस्य प्रज्ञाः।
स्युः प्रग्रहा इन्द्रिय वृत्तयोऽश्वा अथेन्द्रियार्था षडिमे प्रदेशाः ॥२६६॥

मूलभूत रस ही आत्मा है, उससे अतिरिक्त जहां भी आत्मा शब्द का प्रयोग होता है—वह कर्मात्माओं के लिये माना जाता है। सृष्टि में उपयोगी होने के कारण इन कर्मात्माओं को विशुद्ध आत्म स्वरूप तो नहीं कहा जा सकता किन्तु सर्व कर्म संचालक इन कर्मात्माओं में कर्म का प्रवेश नहीं होता, यह अविकृत भाव सर्वत्र होता है ॥२६१॥

१. रस से अतिरिक्त विषय में जहां कहीं भी आत्मा शब्द का प्रयोग किया जाता है—वह कर्म विशिष्ट कर्मात्मा के अर्थ में होता है यह समझना चाहिये। वहां आत्मा शब्द सनिरूपक ही होता है, 'किसका आत्मा' इस रूप में। बल विशिष्ट रस में भी बल को अपनी बुद्धि में अलग रखते हुए, बल से सीमित रस मात्र के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है यह दृष्टि रखनी चाहिये। कर्म रूप बल—आत्मा के स्वरूप में प्रविष्ट कदापि नहीं है।

जहां एक प्रथम आधारभूत कर्म पर क्रमशः अन्यान्य नाना कर्मों का चयन हो जाता है तो वहां उस आधारभूत प्रथम कर्म को भी कहीं आत्मा कह देते हैं। अखण्ड रस के अतिरिक्त इस कर्मात्मा के तीन रूप हैं। एक अभोक्ता-साक्षी। दो रूप कहीं भोक्ता, कहीं अभोक्ता। यह त्रिरूप आत्मा, अखण्ड आत्मा से भिन्न है ।।२६२।।

२. कहीं कहीं तो एक कर्म पर जहाँ अन्यान्य कर्मों की चिति होती है—वहां आधारभूत कर्म को भी आत्मा पद से कह दिया जाता है। परस्पर जुड़े हुए नाना कर्म उन सबका प्रथम कर्म आधार भूत-इस आधार भाव के कारण ही उस कर्म को भी आत्मा कहने का व्यवहार है। उस अवस्था में भी कर्म क्षेत्र में प्रविष्ट होकर भी शुद्ध रस अभोक्ता केवल साक्षी ही रहता है—उसमें बल का प्रवेश कभी नहीं होता। कर्म रूप आत्मा तो दो रूपों में है, कहीं भोक्ता है, कहीं अभोक्ता है। स्पष्ट यह कि मूल शुद्ध रूप सर्वत्र अनुगत एक और कर्मात्मा के दो रूप भोक्ता और अभोक्ता। ये तीन रूप कर्मात्मा के माने गये हैं।

पर आत्मा नाम से ख्यात जो अव्यय पुरुष है—वह शुद्ध निर्विकार है। उस शुद्ध रस में बल भी शुद्ध है—अर्थात् विकान्मुख नहीं है। यद्यपि अव्यय अनेक बलों का आश्रय है, तथापि उसकी निर्विकारता के कारण शक्ति उसके लिये कोई भी भोग्य क्षर पदार्थ उपस्थित नहीं करती है ।।२६३।।

३. पर आत्मा—अव्यय कहा गया है, उसके स्वरूप विचार में रस और बल दोनों शुद्ध हैं। बल विशिष्ट होते हुए वह अक्षर पुरुष और क्षर पुरुष का आत्मा है, ये सब होते हुए भी वह भोक्ता नहीं है। बल रूपिणी प्रकृति उसमें भोग्य पदार्थों का समर्पण करती ही नहीं है, जानती है कि ये निर्विकार पुरुष है। अव्यय पुरुष रूप रस में अनेक बल प्रविष्ट हैं—इसलिए वह भी कर्मात्मा ही है परन्तु भोक्ता नहीं है।

पर रूप अव्यय के अनन्तर जो अक्षर पुरुष है, मृत्युलोक के प्राणियों का यह साक्षात् आत्मा है, यही ईश्वर है और यह ही सबका सर्वत्र नियोजक है, किन्तु सर्व कर्म नियोजक होते हुए भी—वह कदापि कर्मफलों का भोक्ता नहीं बनता—साक्षी भाव मात्र है। जैसे सूर्य सर्वत्र अपनी प्रकाश किरणों से सम्बन्ध करता हुआ भी बाहरी किसी दोष से लिप्त नहीं होता वैसे ही सब करता हुआ भी यह अक्षर पुरुष अलिप्त ही रहता है ।।२६४।।

४. अक्षर भी भोक्ता नहीं कहा जाता। वह सबका नियोजक ईश्वर कहलाता है। परन्तु कभी भी कर्म फलों का उपभोग नहीं करता—अर्थात् विकार अवस्था में नहीं आता। सूर्य को दृष्टान्त रूप से कहा है।

कर्मफलों का भोक्ता तो क्षर पुरुष है, क्योंकि तत्तत् कर्मों से ही उसकी उत्पत्ति होती है—उन कर्मों के आधार पर ही वह संसार में सत्ता रूप प्रतिष्ठा पा रहा है। फलतः क्षर पुरुष सदा कर्मरत रहता है और उनके बुरे-भले फलों को भोगता है—यह नित्य नियम है ।।२६५।।

५. तृतीय क्षर पुरुष ही भोग करने वाला व्यावहारिक आत्मा है, भोग का तात्पर्य है कि उन कर्मों के द्वारा क्षर के विभिन्न रूप होते चले जाते हैं। क्षर पुरुष ही जीवात्मा के रूप में व्यवहृत होता है।

शरीर एक प्रकार का रथ है, इसके भीतर विराजमान आत्मा रथी है, प्रज्ञ नाम का विज्ञानात्मा सारथी है, छह प्रकार की प्रज्ञा—रास या लगाम है, इन्द्रियों की वृत्तियां अश्व हैं, इन्द्रियों के विषय इस रथ के भ्रमण प्रदेश हैं—वे भी छह हैं ।।२६६।।

६. कठोपनिषत्—आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेषतु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रिय मनो युक्तंभोकोत्याहु र्मनीषिणः" वेद वचन का अर्थ रूप में उद्धरण दिया है। केवल बुद्धिमात्र सारथी नहीं हो सकती—क्योंकि बुद्धि स्वयं अचेतन है—इस हेतु बुद्धि पद से बुद्धि द्वारा सीमित प्रज्ञात्मा यहां कहा गया है श्रुति में, अतः मूल में प्रज्ञ पद का प्रयोग हुआ है। विज्ञानात्मा ही यहां प्रज्ञ कहा गया है। मन की दो विधा हैं—एक तो सुख दुःखादि का ग्राहक इन्द्रिय रूप मन है और दूसरा सब इन्द्रियों का सहकारी है। इस सब इन्द्रियों की सहकारिता से छह प्रकार की प्रज्ञा उत्पन्न होती है। पांच इन्द्रियों से रूप ज्ञान, रस ज्ञान इत्यादि और इन्द्रिय रूप मन से समुत्पन्न सुख दुखादि की ज्ञान रूपा प्रज्ञा। इस भाव को ही श्रुति में प्रग्रह (लगाम–रास) कहा है। इन्द्रियों की गणना अश्वरूप में की गई है। इन्द्रियों के अभिलषित पदार्थ रूप रस आदि प्रदेश हैं—अर्थात् इन्द्रियों के गमन स्थान हैं—वास्तव में इन्द्रियों द्वारा बल विशिष्ट आत्मा के रूप—रस आदिभोग्य हैं—यह भाव है।

[1]आत्मा चिदाभास इति प्रसिद्धः प्रज्ञश्च षट्प्रज्ञ उतेन्द्रियाणि।
अर्थेतदर्थाश्च तदित्थमेकः पशुः स आत्मा भवतीह भोक्ता ।।२६७।।

[2]अखण्ड आत्मा हि तुरीयपादः परोऽक्षरो वा क्षर इत्यमी तु।
पादास्त्रयोऽन्ये तत एष आत्मा मतश्चतुष्पादयमेक एव ।।२६८।।

रसो विशुद्धस्तु परात्परो मतो य उत्तमः सोऽस्ति परोऽथ योऽक्षरः।
परावरः सोस्त्यवरः स यः क्षरः संज्ञाविशेषाः स्युरमी तदात्मनाम् ।।२६९।।

[3]परस्तुरीयः पृथगस्य पादोऽक्षरः क्षरोन्यः पशुरित्यमीतु।
त्रयोऽस्य पादास्तत एष आत्मा कर्मात्मसंज्ञोऽपि मतश्चतुष्पात् ।।२७०।।

षट्त्रिंशदारम्भककर्मजानि क्षरस्य वाक्प्राणमनांसि सन्ति।
तान्यक्षरे षड्वलितानि तद्वत् परस्य तान्येकबलानि विद्यात् ।।२७१।।

मात्राप्रवेशात् पृथगात्मशक्त्योः खण्डाः क्षरे त्वष्टशतं भवेयुः।
तथाक्षरोऽष्टादशखण्ड इष्टः परस्त्रिखण्डोऽथ रसस्त्वखण्डः ।।२७२।।

शरीर से सम्बद्ध क्षर आत्मा को चिदाभास कहा जाता है—यह वेदान्त में प्रसिद्ध है। विज्ञानात्मा रूप प्रज्ञ, षट् प्रज्ञ, इन्द्रियां और इन्द्रिय सम्बन्धी रूप, रस आदि विषय यह सब मिलाकर एक पशुभाव बनता है वह पशुभावापन्न आत्मा यहां भोग करने वाला होता है ।।२६७।।

१. वेद में यह जो इन्द्रिय-मन से सम्बद्ध भोक्ता ग्रात्मा बताया है, वेदान्त ग्रन्थों में इसका ही उल्लेख चिदाभास नाम से हुग्रा है । मन, इस पद से वेद में उपरोक्त षट्प्रज्ञ, बुद्धि का ग्रधिष्ठाता प्रज्ञात्मा ग्राह्य होता है । इन्द्रियों के विषय जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं—वे भी इन्द्रिय पद से ग्रहण कर लिये गये हैं । इस तरह यह इन्द्रिय-मन विशिष्ट भोक्ता रूप ग्रात्मा श्रुति तथा स्मृति में पशु पद से भी व्यवहृत हुग्रा है ।

परात् पर ब्रह्म नाम से कहा जाने वाला मूल रूप पृथक् भाव में चतुर्थ पाद है, यह ग्रखण्ड है—अर्थात् व्यापक है इसमें कोई विभाग नहीं है । अव्यय-ग्रक्षर ग्रौर क्षर ये सकल तीन पाद हैं । इस प्रकार यह ग्रात्मा एक रूप होता हुग्रा भी चतुष्पाद (चार पाद वाला) माना गया है ।।२६८।।

२. व्यावहारिक ज्ञान के लिये ये जो ब्रह्म की चार ग्रवस्था कही गई हैं, ये ही चार पद कहे जाते हैं । इससे ही ग्रात्मा चतुष्पाद कहलाता है । ग्रागे के पद्य में श्रुति तथा स्मृतियों रस के लिये व्यवहार में ग्राने वाली संज्ञा बताई जा रही हैं ।

माया ग्रवच्छेद से शून्य विशुद्ध रस 'परात्पर' संज्ञक माना गया है, उत्तम पुरुष-पर वा 'ग्रव्यय' पुरुष है, ग्रक्षर की 'परावर' संज्ञा है, क्षर की संज्ञा 'ग्रवर' है—कर्मातीत ग्रौर कर्म निर्वाहक इन सब ग्रात्माग्रों की ये संज्ञा हैं ।।२३९।।

ग्रव्यय वा परपुरुष जो कर्मात्माग्रों में प्रथम होते हुए भी निर्लेप माना गया है, वह भी चतुष्पाद माना जाता है वह बताते हैं कि चतुर्थ पाद तो स्वयं परपुरुष है । इसके ग्रन्य तीन पाद हैं—ग्रक्षर, क्षर ग्रौर पशु । इस प्रकार कर्मात्मा भी चतुष्पाद है ।।२७०।।

३. शुद्ध ग्ररूप निराकार मूल ग्रात्मा का पृथक् निवेश रखते हुए, कर्मात्मा को भी चतुष्पाद कहा जा रहा है । तीन तो ग्रव्ययादि पूर्वोक्त ग्रौर चौथा भोक्ता पशु रूप । पूर्व के चतुष्पाद क्रम में पशु को क्षर में ही ग्रनर्भावित रखा है, यहां पृथक् स्पष्टीकरण मात्र किया गया है—व्यक्ति भेद भाव नहीं है ।

सृष्टि समारम्भक कर्मों से समुत्पन्न क्षरपुरुष के वाक्-प्राण-मन छत्तीस विभागों में विभक्त होकर क्षर में रहते हैं, ग्रक्षर पुरुष से वो संख्या छह गुनी होती हैं, पर पुरुष में सारे बलों का एकीकरण होता है ।।२७१।।

आत्मा की ग्रखण्डता वा खण्डता का विचार यह है कि ग्रात्मा ग्रौर शक्ति इन दोनों का एकीकरण जिस-जिस मात्रा में होता है—उस मात्रा की कमी ग्रौर ग्रधिकता के कारण ग्रात्मा-शक्ति के खण्ड बनते हैं—क्षर पुरुष में ये खण्ड एक सौ ग्राठ तक होते हैं । इस ही प्रकार ग्रक्षर ग्राठारह खण्डात्मक माना गया है, पर जो अव्यय है—वह त्रिखण्ड माना गया है । मूल रस सर्वथा ग्रखण्ड है ।।२७२।।

(१६) [४]सिंहावलोकनाधिकरणम्

[५]ब्रह्म द्विधा दृश्यत ग्राभु चाम्वं, यन्निर्विशेषं प्रथमं तदाभु ।
ग्रवाङ मनोगोचरमस्ति तस्मादज्ञेयताऽनिर्वचनीयताऽस्य ।।२७३।।

४. अब तक जो पदार्थ विवेचना कर चुके हैं उसे बुद्धि में स्थिर करने के लिये तथा कहीं कहीं विशेष प्रतिपादन के लिये पुनर्वचन किया जा रहा है। सूक्ष्म तत्वार्थ बार बार प्रतिपादन से ही बुद्धि गम्य होता है—अतः ऐसी जगह आचार्यगण पुनरूक्ति दोष नहीं मानते। सिंह जैसे आगे बढता हुआ कभी कभी घूमकर पीछे देखता है—वैसे ही यह भी पीछे देखना जैसा है—अतः सिंहावलोकन नाम अधिकरण का लिया गया है।

आभु और अभ्व नाम से ब्रह्म के दो प्रकार देखे जाते हैं। प्रथम जो निराकार निर्विशेष परात् पर ब्रह्म है —वह आभु है—यह मन और वाणी से गम्य नहीं है—अगोचर है—इसलिये इसको अज्ञेयता तथा अनिर्वचनीयता मानी गई है ॥२७३॥

५. पूर्व कथित में कुछ विशेष बता रहे हैं—ब्रह्म को दो प्रकार से जानने का यत्न करना चाहिये—उनमें वेदोक्त दो संज्ञा कही गयीं—आभु और अभ्व, आभुनि भवं अभ्वम्—यह अभ्व की व्युत्पत्ति है। आभु शब्द—विभु का समानार्थक है—विभु (व्यापक) आभु भी नहीं। आभु में उत्पन्न होने वाला अभ्व। ये दोनों शब्द रस और बल के पर्याय हैं। बल भी ब्रह्मरूप ही है यह विशेषता वहाँ कही गई।

यद् दृश्यते कर्म च[1] रूपनामेत्यभ्वं तदुक्तं तदिह प्रवच्मि।
विश्वं तदभ्वं तदिह द्विधोक्तं व्यष्टिः समष्टिर्दहरोत्तरो वा ॥२७४॥

[2]भूमोत्तरः स्याद् दहरोऽणिमान्तः पुनः पुनस्तौ मितिरस्ति यावत्।
असीमभूमान्तमसीमरूपाणिमान्तमेकं प्रवदामि विश्वम् ॥२७५॥
[3]तमुत्तरं वा दहरं तथा वा द्विधा विभक्तैस्तदिहानुवीक्षे।
तन्त्रं बहिस्तत्परिचालकं तु क्रान्त्वा तदन्तः प्रथितं सुसूक्ष्मम् ॥२७६॥
तन्त्रं शरीरं परिचालकं चास्यात्मानमाहुः स शरीरधर्त्ता।
[4]शारीरकः प्रोच्यत एष एवायः किट्टवत् कल्पयते शरीरम् ॥२७७॥
तस्माच्छरीरं न तदात्मनः स्यात् पृथक् ततः प्रोच्यत एष आत्मा।
एकैक आत्मा दहस्तमन्यो व्याप्नोति तं चान्य इति क्रमोस्ति ॥२७८॥
एकैकमात्मानमिह त्रिभागं पश्यामि वाक्प्राणमनः प्रभेदात्।
[5]वागन्नमर्थश्च, बलं क्रिया च प्राणो, मनोज्ञानमुदेति विद्या ॥२७९॥

जो भी कुछ दृश्यमान है—वह सब नाम, रूप और कर्म भाव में है—इसको ही अभ्व कहा गया है, उसकी यहां खास विवेचना कर रहे हैं। यह सारा विश्व अभ्व है—यह वेद में व्यष्टि और समष्टि रूप से दो प्रकार का माना जाता है। इनको दहर भाव तथा उत्तर भाव भी कहते हैं ॥२७४॥

१. नाम—रूप—कर्मात्मक विश्व का रूप है। वह व्यष्टि समष्टि भेद से दो प्रकार का है। एक व्यष्टि—अल्प वा दहर। समष्टि—महान् वा उत्तर। समष्टि में व्यष्टियां प्रविष्ट रहती हैं।

उत्तर-दहर विचार में महान् भाव को उत्तर और अणु भाव को दहर कहते हैं। रस बल संसर्ग रूप विशेष अवस्था में ये भूमा भाव अर्थात् उत्तर और अणु भाव दहर सहस्रशः सीमाभाव में आते रहते हैं, अतः बड़े से बड़ों की संख्या की कोई सीमा नहीं है,

इसी तरह लघु अणुभावापन्नों की संख्या की भी कोई सीमा नहीं है--एक पद में इस नि:सीमता को ही हम विश्व कहते हैं ॥२७५॥

२. पूर्व कथित प्रकार से महान् होने के कारण समष्टि को भूमा नाम से कहा जाता है, और लघु होने के कारण व्यष्टि अणिमा नाम से ख्यात है। भूमा शब्द और अणिमा शब्द यद्यपि धर्म वाचक हैं तथापि धर्मी भाव पर आरोप कर प्रयोग हो रहा है। यह भूमा--अणिमा भाव सापेक्ष होता है। जो किसी की अपेक्षा महान् होता है--वह ही उससे भी बड़े की अपेक्षा लघु हो जाता है। जैसे अङ्गुली की अपेक्षा हाथ भूमा है तो शरीर की अपेक्षा वह अणिमा है। इस प्रकार यह भूमा–अणिमा भाव पुनः पुनः चलता रहता है। यह परम्परा परम महान् पर और परमाणु पर जाकर निवृत्त हो जाती है। परम महान् की अपेक्षा अन्य भूमा नहीं होती, तथा परम अणु की अपेक्षा अन्य अणिमा नहीं होनी यह आशय है।

ये उत्तर और दहर अणिमा और महिमा भाव से व्याकृत होकर यहां संसार अवस्था में तन्त्र और परिचालक रूप में देखे जाते हैं। बाहरी अवस्था तन्त्र है, बाहर के रूप का संचालक दूसरा भाव उसके भीतर प्रविष्ट होकर अति सूक्ष्म अवस्था में रहता है ॥२७६॥

३. दहर और उत्तर के फिर दो भागों में विभक्त हो जाते हैं, उनके नाम तन्त्र और परिचालक हैं। तन्त्र शरीर, परिचालक आत्मा। सर्वत्र जो भी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं—उन सब में सूक्ष्म रूप से आत्मा प्रविष्ट है। वह ही पदार्थ का विधारक प्राण रूप है, वह ही पदार्थ की वृद्धि-ह्रास, नवीनता-जीर्णता का प्रयोजक है।

विस्तारार्थक तन् धातु से बना तन्त्र शरीर का बोधक है, आत्मा को इसका परिचालक कहा है—आत्मा शरीर धर्त्ता है। यह ही शारीरक आत्मा नाम से प्रसिद्ध है। वह ही लोहे के किट्ट (जंग) के समान शरीर को कल्पित करता है ॥१७७॥

४. शरीर का अधिष्ठाता यह आत्मा शारीरक कहा जाता है, वेद, पुराण, स्मृतियों में यह प्राण नाम से भी व्यवहृत हुआ है। इसको कर्मात्मा समझना चाहिये। जैसे चिरकाल तक पड़े रहने पर लोहे पर किट्ट जम जाता है, वैसे ही प्राण ही किट्ट के समान शरीर को उत्पन्न करता है—अतः प्राण से समुत्पादित शरीर भी उससे भिन्न नहीं है, यह तात्पर्य है। प्रथम प्राण फिर उससे रयि रूप शरीर, ये ही वेद का सिद्धान्त है। इनमें दहर-उत्तर भाव जो अभी कहा गया था, उस का पुनः स्मरण करा दिया गया।

यह शरीर वास्तव में आत्मा की सम्पत्ति नहीं है, यही कारण है कि आत्मा शरीर भाव से पृथक् ही माना जाता है, विभक्त अवस्था में एक-एक आत्मा दहर (लघु) भाव में आता है, उससे बड़ा पूर्व को अपनी व्याप्ति में ले लेता है, उससे भी बड़ा उसे, कर्मात्माओं में ये क्रम चलता रहता है ॥२७८॥

सर्ग काल में एक-एक आत्मा के वाक्, प्राण, मन के भेद से तीन भाग हो जाते हैं। इनमें वाक्-अन्न- पदार्थ ये तोनों समानार्थक हैं। बल-क्रिया और प्राण ये तीनों समानार्थक है। मन-ज्ञान और विद्या ये समानार्थक पर्याय हैं। मन से ज्ञान का उदय होता है ॥२७९॥

५. वाक्-प्राण-मन की व्याख्या पूर्व हो चुकी है, उनमें विशेष संज्ञा बताई जा रही हैं। वाक्-अन्न-अर्थ (पदार्थ) ये परस्पर पर्याय हैं। बल-क्रिया-प्राण पर्याय हैं। मन-ज्ञान-विद्या पर्याय हैं। यद्यपि मन से ज्ञान का उदय होता है, यह भी व्यवहार है, किन्तु कार्य और कारण की एकता होने से सत् कार्यवाद सिद्धान्त में इनकी एकता ही मानना समुचित है।

[1]प्राणश्चवाक् चानुयुजौ मनश्चेत् संचारयेते तदुवेदरूपम्।
ऋक्सामयोरस्ति यजुर्निविष्टं सामेदमध्यूढमृचिप्रथिद्यात् ।।२८०।।
[2]चेद्वर्तनी वाक् च मनश्च युक्ते प्राणं तु संचारयतः स यज्ञः।
प्राणोऽन्नमूर्क् च त्रितयं त्रिषु स्याद् गृहीतमन्योन्य समुद्भवाय ।।२८१।।
[3]प्राणो मनश्चेत् सयुजौ तु वाचं संचारयेते स च लोक एषः।
उक्थोत्थितोऽश्नात्यणितोरिहार्को मृत्युर्यदर्चश्चरतीह सोऽर्कः ।।२८२।।
अथैष वाक्प्राणमनोमयोऽर्थोऽस्त्यात्मांशभूतो न तु पूर्ण आत्मा।
सत्ताचिदानन्दमयः स आत्मा, सत्ता स वाक् प्राणमनोमयोऽर्थः ।।२८३।।
[4]चिदत्रविज्ञानमिदं मनस्तः पृथक् तदस्ति ध्रुवमेकरूपम्।
यदन्यदन्यत् क्रमते मनस्तज्ज्ञानेऽस्ति संकल्पविकल्परूपम् ।।२८४।।

प्राण और वाक् मिलकर अर्थात् आगे पीछे रहते हुए यदि मन को संचरित करते हैं—(अन्तर्गभित मन है—उसके वाहन रूप प्राण—वाक् हैं) ऐसी अवस्था में वेदों का उदय होता है—वेद में भी ऋग्वेद और सामवेद के बीच में यजुर्वेद प्रविष्ट है। उस यजुः का ही ऋक् और साम वहन करते हैं। साम स्वयं ऋचा पर अधिरूढ है। मुख्य तत्व यत्-जू मिश्रित यज्जू—यजुर्वेद है ।।२८०।।

१. अव्यय पुरुष के कला रूप वाक्-प्राण-मन अर्थ-पदार्थ रूप हैं, उन अर्थभूत वाक्-प्राण-मन से ही आगे नवीन वेद रूप-यज्ञ रूप-लोक सृष्टि की व्याख्या करते हैं। इन मन, प्राण, वाक् का आपस में गौण-प्रधान भाव रहता है। जब प्राण और वाक् संयुक्त होकर मन को संचारित करते हैं, अर्थात् प्राण और वाक् वाहन मात्र बन रहे हैं और मन की प्रधानता है—इस अवस्था में वेद रूप का आविर्भाव होता है—अर्थात् वेद की सृष्टि होती है। वेदों में भी ऋक् और साम वाहन हैं, यजुः वहां अधिरूढ—मुख्य है। ऋक्-साम में भी साम ऋचा पर अर्थात् ऋक् पर अधिरूढ है। यह सम्पूर्ण विषय पुरुष प्रपञ्चाधिकरण में व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है।

जब वाक् और मन युक्त होकर प्रधान प्राण तत्व को संचारित करते हैं, अर्थात् मध्य गर्भावस्था में प्राण की स्थिति और मन-वाक् वाहन रूप होते हैं, उस अवस्था में यज्ञ की मृष्टि होती है। प्राण-अन्न-ऊर्क ये तीन प्रक्रिया यज्ञ की हैं। एक दूसरे की उत्पत्ति के लिये ये तीनों भाव तीनों में परस्पर संग्रहीत होते हैं ।।२८१।।

२. वाक् और मन युक्त होकर जब प्रधान प्राण को वहन करते हैं—तब यज्ञ सृष्टि होती है, अन्न, अर्क, प्राण वह उत्तरोत्तर भाव रूप—आगे-आगे की अवस्था ही यज्ञ का रूप है। अर्थात् जाठराग्नि में जिसका हवन किया जाता है—वह अन्न होता है। अग्नि सम्बद्ध होकर वह अन्न

अर्क रूप में परिणत हो जाता है। ऊर्क नाम ओज का है—जो अन्न और प्राण की मध्यगत अवस्था है। आगे वह ऊर्क प्राण रूप से परिणत हो जाता है। पुनः प्राण ऊर्क रूप में और ऊर्क अन्न रूप में आता रहता है। अर्थात् अन्न से ओज रूप शक्ति वृद्धि, उससे प्राण पोषण, परावर्तन में प्राण द्वारा शक्ति प्रेरणा (चेष्टा रूप) उससे अन्न समुत्पत्ति, ये क्रम सतत चलता रहता है। ये तीनों अन्न, ऊर्क, प्राण—मन-प्राण और वाक् में संग्रहीत हैं।

जब प्राण और मन संयुक्त होकर वाक् को वहन करते हुए संचारित करते हैं—अर्थात् प्रधान वाक् गर्भगत मध्य में स्थित हो और प्राण-मन उसके वाहक रहें—तब लोक सृष्टि होती है। इस अवस्था में प्रथम उक्थ-अर्क-अशिति उत्पन्न होती है--अर्थात् उक्थ से उठा हुआ अर्क अशिति खाता रहता है। मृत्यु रूप बल जो परिभ्रमण करता है--वह यहां अर्क कहा गया है ॥२८२॥

३. जब मन—प्राण मिलकर प्रधान रूप में स्थित वाक का वहन करते हैं—उस अवस्था में लोक सृष्टि होती है। यहां प्रथम उक्थ, अर्क, अशिति उदित होती है, जिनकी व्याख्या पूर्व वेद प्रकरण में हो चुकी है। उक्थ से उठा हुआ अर्क अशिति का भोजन करता है—यह पद्य का अन्वयार्थ है। मृत्यु नाम बल का है, अर्चन् चरित का अर्थ चारों ओर घूमते हुए चलना है—उसे अर्क कहा जाता है यह तात्पर्य है। इस चतुर्दिक् परिभ्रमण से ही पूर्व कथित अपों की उत्पत्ति होती है, उन अपों से ही सारीलोक सृष्टि होती है। जैसा कि बृहदारण्यक वचन है "अशनाया हि मृत्युः, तन् मनो कुरुत, आत्मन्वी स्यामिति, सोऽर्चन्नचरत्, तस्यार्चत आपोऽजायन्त। अर्चतेर्वै मे कममूदितितदेवार्कस्यार्कत्वम्" इस कम् का विवेचन आगे होगा। बृहदारण्यक में मन-प्राण-वाणी की ही लोक वेदादि रूपता होती है यह भी वचन समाम्नात है—"त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणो ऽ सौ लोकः। त्रयो वेदा एत एव, वागेवर्ग् वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः" इत्यादि।

ये जो वाक्-प्राण-मनोमय पदार्थ रूप विश्व है, ये आत्मा का अंश रूप है, पूर्ण आत्मा नहीं है, पूर्ण आत्मा सत्ता-चेतना-आनन्दमय है, जब कि वाक्प्राणमनोमय पदार्थ केवल सत्ता रूप हैं, चेतना और आनन्द अंश पृथक् ही हैं ॥२८३॥

चित् (चेतना) शब्द से यहां विज्ञानात्मा लिया जाता है—वह मन से पृथक् है, वह नित्य है और सदा एकरूप है परिवर्तनशील नहीं है। उससे प्रतिबिम्बित मन अन्यान्य भावों में परिवर्तित होता हुआ संकल्प-विकल्प रूप होता है ॥२८४॥

४. सत्ता, चेतना, आनन्द ये तीनों आत्मा के निज भाव हैं। उनमें मन प्राण वाणी से उदित होने वाला सत्ता रूप, आत्मा का एक अंश है, चेतना और आनन्द-उससे अतिरिक्त हैं यह पूर्व पद्य में कहा गया। उसमें सन्देह होता है कि—मन की परिणामभूत वृत्ति को चित् कहा जाता है—वह मन प्राणवाक् से पृथक् कैसे कही जा रही है? उसका ही उत्तर दिया है कि चित् पद से सदा विज्ञानात्मा का रूप संकेत होता है, मन में उसका प्रतिफलन होने से वृत्ति रूप ज्ञान उत्पन्न होता है, यह चिदाभास है, चित् नहीं है। मुख्य चेतना सदा एक रूपा है और ध्रुव-नित्य है,

मन की वृत्तियां जो ज्ञान रूप होती हैं वे सब परिवर्तनशील हैं—उनको ही संकल्प विकल्प नाम से जाना जाता है।

> य एष आनन्द इहोदितः स द्विधा रसोऽन्योस्ति बलं तथान्यत्।
> [1]भूमासमृद्ध्यास्ति बलात्मकोऽसौ रसात्मकः शान्तिघनः सभिन्नः ।।२८५।।
>
> [2]बलात्मकानन्दपुरोगमास्ते ज्ञानं मनः प्राण उतान्न मे ते।
> पञ्चापि कोशाः अथ तत्प्रविष्टो रसः स आत्मा स उपासनीयः ।।२८६।।
>
> रसाद् बलाढ्यादिदमत्र सिद्धं विज्ञानमन्यश्च सतः[3] स्वभावः।
> स एष वाक्प्राणमनोमयोऽर्थो न पञ्चकादन्यदिहास्ति किञ्चित् ।।२८७।।
>
> बहिर्बहिः [4]स्यात् क्रमशः शरीरं तदन्तरन्तः क्रमतोऽन्य आत्मा।
> पञ्चापि कोशा इह यच्छरीरं सोऽखण्ड आत्मा परमो रसः सः ।।२८८।।
>
> अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीदसीमनिःसङ्गरसो य आत्मा।
> तमाश्रिता अव्ययपञ्चकोशास्तदाश्रिता अक्षरधातवः स्युः ।।२८९।।

अव्यय पुरुष की कलाओं में सर्वप्रथम जो आनन्द है, वह दो प्रकार का है एक शुद्ध रस रूप केवलानन्द और एक रसबल समन्वित बलानन्द। भूमा समृद्धि—लौकिक बढोतरी रूप उन्नति पर उन्नति बलानन्द का रूप है। शुद्ध रस रूप आनन्द शान्तिघन है—उसमें विकारमयी सारी चेष्टा शांत हो जाती है--वह बलानन्द से सर्वथा भिन्न है ।।२८५।।

१. जैसे चिताभास और शुद्ध चित् रूप से ज्ञान के दो प्रकार कहे गये—वैसे ही आनन्द के भी दो प्रकार हैं—एक आत्मा रूप है, दूसरा बल के सम्बन्ध से समुदित होता है। कोई बना बनाया घर, बगीचा, भूमि आदि सम्पत्ति की प्राप्ति में विशेषवृत्ति रूप जो मन में अवस्था जागती है—वह भूमा-अर्थात् महत्व प्राप्ति रूप आनन्द है। वेद की तो स्पष्ट उक्ति है-सुख दुःख की परिभाषा करते हुए कहा गया है "यो वै भूमा तत् सुखम् यदल्पं तद् दुःखम्"। उस नवीन सम्पत्ति की प्राप्ति से मन का विकास होता है—अर्थात् मनः सीमा से सीमित जो अन्तर्निहित चैतन्य है वह उस नवीन आई हुई सम्पत्ति रूप वस्तु को अपने निज स्वरूप में प्रविष्ट कर लेता है। इसके ठीक विपरीत आत्मानन्द शान्ति रूप है, उस आत्मानन्द से सम्बन्ध पा जाने पर तो मन का स्वाभाविक चंचलता रूप क्षोभ भी निवृत्त हो जाता है। यह ही वह मुख्य आनन्द है। इसका प्रत्यक्ष निदर्शन देखा जाता है कि अपरिमित विलास सुख का भोग करने वाले धनिक वर्ग भी विश्राम रूप बेखबर निद्रा के अभिलाषी रहते हैं। इस निद्रा को ही सुषुप्ति कहते हैं, इसकी अनिवार्य आवश्यकता रहती है।

भूमानन्द--जिसमें बलात्मक आनन्द के साथ ज्ञान, मन, प्राण और अन्न सम्मिलित हैं। ये पांचों ही कोश रूप हैं। इन कोशों में जो अन्तर्निविष्ट है--वह रस है--वह ही आत्मा है--उपासना करने योग्य वही है ।।२८६।।

२. बल रूप जो भूमानन्द कहा गया है, वह मुख्य आत्मा का कोश रूप है। इसको प्रथम मानकर पांच कोश तैत्तिरिय उपनिषद् में व्याख्यात हुए हैं--आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय,

ग्रौर ग्रन्नमय। कोश शब्द का ग्रर्थ यहां ग्रावरण है, जैसे खड्ग का कोश (तलवार को म्यान)। ग्रन्नमय कोश सबसे ऊपर का ग्रावरण है, उसमें ग्रन्तर्निहित क्रमशः प्राणमय ग्रादि ग्रन्य कोश, सबसे ग्रन्तर्निहित रस नामक मुख्य ग्रात्मा है। वह ही प्रधान भाव से उपासनीय है। इस मुख्य ग्रात्मा में उपासकों के मन ग्रौर वाक् का निवेश सम्भव नहीं हो पाता इसलिए रस के प्रतीक रूप में भिन्न भिन्न उक्त कोशों की उपासना प्रचलित है। इसका ही विवरण श्रीशङ्कराचार्य ने ग्रानन्दमय ग्रधिकरण में किया है, जिसका वास्तविक तत्व न समझ कर तत्तत् सम्प्रदाय बर्ग मिथ्या कलह में पड़ते हैं। यद्यपि ग्रन्थकर्त्ता ने कोश शब्द का ग्रर्थ ग्रन्यत्र निधान बताया है— ग्रर्थात् ग्रव्यय कला संसार में प्राप्त होने वाले ग्रन्न, प्राण ग्रादि की निधानभूत है—यह स्पष्ट भी किया है, तथापि यहां प्राचीन ग्राचार्यों की रीति से ही कोश शब्द की व्याख्या की गई है। वैज्ञानिक विचार प्रक्रिया में दोनों प्रकार के शब्दार्थ करने पर भी कोई भेद नहीं पड़ता।

बल विशिष्ट रस जो विज्ञान रूप से सत्ता धारण कर रहा है, वह मूल रस से भिन्न ग्रवस्था है यह सिद्ध हो गया। ये जो वाक्-प्राणमय पदार्थजात हैं, इनमें से कोई भी पंचकोशों से भिन्न नहीं है ॥२८७॥

३. सत् के स्वभाव को सत्ता कहते हैं। सत्ता रूप से बल विशिष्ट रस का ग्राभास होते रहना यह विज्ञान है। समृद्धयानन्द कहने से सत्ता—चेतना—ग्रानन्द कोशों में ही ग्रन्तर्भूत हैं। ये रूप, बलविशिष्ट रस के हैं, शुद्ध रस के नहीं। शुद्ध रस में तो श्रीशङ्कराचार्य ने इनका ग्रभाव रूप से व्याख्यान किया है—वहां ग्रभाव भिन्नता को सत्ता, जड़ता के ग्रभाव को चेतना या चित् ग्रौर दुःख भाव—रूप क्षोभ शून्यता को ग्रानन्द कहा गया है।

ग्रानन्द से बाहर-बाहर के कोश क्रमशः पूर्व-पूर्व के शरीर माने जाते हैं--उन शरीरों में पूर्व ग्रन्य का ग्रात्मा बनता है--वह उन शरीर भावों में संक्रमण करता है। पंचकोश कहा जाय या शरीर संसार ग्रवस्था में दोनों एक बात है। परम रस रूप जो शुद्ध आत्मा है--वह तो ग्रखण्ड है, उसका कोई शरीर नहीं है ॥२८८॥

४. ग्रानन्दमय कोश विज्ञानमय का ग्रात्मा है, विज्ञानमय—मनोमय का, मनोमय—प्राणमय का ग्रौर प्राणमय—ग्रन्नमय का ग्रात्मा होता है। विशुद्ध, व्यापक, नित्य रस सबका मूल ग्रात्मा है।

वह ग्रमृतमय शुद्ध रस जो ऊपर नीचे सर्वत्र निःसीम रहता हुग्रा किसी से संपृक्त नहीं हो रहा है--सबका ग्रात्मा है, उसके ही आधार से ग्रव्यय के पंचकोश स्थिति पा रहे हैं ग्रौर उसके ग्राधार पर ही अक्षर की पांचों कला स्थिति पा रही हैं ॥२८९॥

[यहाँ निर्विशेष ग्रात्मा से ग्रारम्भ कर—'ग्रभ्व' पर्यन्त का कोष्ठक रूप में नकशा दिया है, उसमें ये उल्लेख भी है—दहर ग्रौर उत्तर के भेद से चतुर्विध शरीर प्रकार हो जाने से यह शारीरक ग्रात्मा भी चार प्रकार का होता है—१ भ्रूण, २ जीव, ३ ईश्वर, ४ परमेश्वर। फिर पंचभूतों से सम्मिलित होकर सात रूपों में विभक्त हो जाता है—भूतवर्ग, जड़, स्थावर, भ्रूण, जीव, ईश्वर, परमेश्वर। परमेश्वर में ग्रनेक ईश्वर हैं। ईश्वर में ग्रनन्त जीव है। जीव में भ्रूण हैं। भ्रूण में स्थावर हैं—स्थावर में जड़ हैं। जड़ में शरीर को ग्राकार देने वाले पंच महाभूत हैं। इसी तरह परावृत्ति में पंच भूतो में जड़, जड़ में स्थावर

स्थावर में भ्रूण, भ्रूण में जीव, जीव में प्रमुख ईश्वर, ईश्वर में परमेश्वर व्याप्त रहता है, वह ही सबका आत्मा है।

इस प्रकार से सम्पन्न सृष्टि का खण्डशः विभाजन—

१. पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य, आन्तरिक्ष्य आदि सप्त लोक जो भूः-भुवः स्वः महः-जनः-तपः सत्यम् नाम से ख्यात हैं।
२. पार्थिव लोक की सर्वत्र पार्थिव भाव से समानता होते हुए भी यज्ञों के भेद से जड़-स्थावर-चेतन रूप भेद होते हैं।
३. चेतन की सर्वत्र समानता होते हुए भी यज्ञ में चिति भेद से महान् नामक बुद्धि तत्व में भेद हो जाने से मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भेद होते हैं।
४. मनुष्यता के सर्वत्र समान होते हुए भी विज्ञान भेद हो जाने से स्वभाव रूप-शील में भेद हो जाता है। यदि कहीं शील भी समान हो जाय तब भी सुख-दुःख आदि वृत्तिभेद रहता है।

[1]ब्रह्मेन्द्रविष्णू अथ चाग्निसोमौ पञ्चाक्षरास्तत्र तमेनमग्निम्।
क्षरोऽग्निरन्यो वृणुतेऽथ तस्मिन् प्रवर्तते यज्ञ इति स्म सृष्टिः ॥२९०॥
संसर्ग [2]उक्तो द्विविधः स्वरूपं वृत्तित्वमप्यत्र रसे बलस्य।
स्वरूपसंसर्गवशादिहात्मा प्रजापतिः वृत्तितया तु शक्तिः ॥२९१॥
स्वरूपसंसर्ग इह त्रिधा स्याद् बन्धश्च योगश्च तथा विभूतिः।
अनुग्रहादेव भवेद् विभूतिर्यत्कौशलं[3] कर्मसु योग एषः ॥२९२॥
बन्धस्तु सङ्गातिशयादिह स्यादेभिस्त्रिभिः संस्क्रियते स आत्मा।
यत्र [4]ग्रहातिग्रहभावसिद्धिः सा वृत्तिता तत्र च भोग्यसिद्धिः ॥२९३॥
[5]त्रिभि स्वरूपानुगतैः प्रसर्गैरात्मा त्रिधा संभवति स्वतन्त्रः।
मनो विभूत्या भवतीह योगात् प्राणोऽथ बन्धादिह जायते वाक् ॥२९४॥
यत्सृज्यते तत् त्रिकमेव साकं ह्यन्नादमस्यावपनं तदन्नम्।
न क्षीयतेऽन्नं न निरन्नमन्नात् स्यात्तद्द्वयं चावपनप्रतिष्ठम् ॥२९५॥

अक्षर पुरुष की पांच कला—ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, अग्नि और सोम बताई गई हैं—उनमें स्थित अग्नि कला का अन्य क्षर अग्नि वरण करता है—उसमें जब अक्षर अग्नि आहित हो जाता है—तब उस अक्षराग्नियुत क्षराग्नि में यज्ञ प्रवृत्त होता है—यह ही सृष्टि की प्रक्रिया है—अर्थात् इससे सृष्टि हुई है ॥२९०॥

१. पुरुष प्रपञ्च में अक्षर कलाओं की व्याख्या हो चुकी है। वहां का अग्नि भूतों से समुत्पन्न भौतिक अग्नि नहीं है अपितु प्राण रूप है। इसका आधार पाकर ही क्षर रूप अग्नि प्रादुर्भूत होता है—वह इस अग्नि को चारों ओर से घेर लेता है। उसमें ही यज्ञ प्रवृत्त होता है, यज्ञ से ही सृष्टि होती है—यह सृष्टि उत्पत्ति का संक्षिप्त संकेत है। यह ही सब दिखाने को मानचित्र ऊपर दिया गया—उसके रूप की व्याख्या भी ऊपर की जा चुकी है। उसमें बताये गए भ्रूणों को आधुनिक विज्ञान में 'जर्म्स' कहा जाता है।

रस में बल का संसर्ग--स्वरूप और वृत्तिता रूप से दो प्रकार का बताया गया है--इसमें स्वरूप संसर्ग से प्रजापति रूप में आत्मा रहता है, उसमें वृत्तिता रूप एवं आत्मा का वास है ।।२६१।।

२. पूर्व कथित रस और बल के संसर्ग भेदों का स्मरण कराते हैं। स्वरूप संसर्ग से आत्मा के भेद होते हैं और वृत्ति संसर्ग से शक्ति के भेद होते हैं, अन्य व्याख्या पूर्व हो चुकी है।

बन्ध, योग और विभूति रूप से स्वरूप सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है। जहां अनुग्रह मात्र हो--अर्थात् किसी प्रकार का सम्पर्क भाव किये बिना ईक्षण मात्र हो--वह विभूति सम्बन्ध कहलाता है, कर्म प्रक्रिया को पूर्ण करने का जो कौशल है--वह योग कहा जाता है ।।२६२।।

३. योग: कर्मसु कौशलम्, ये भगवद् गीता का वचन इस प्रकरण के उपयुक्त होने के कारण यहां योजित किया गया है—कर्मों में कौशल का तात्पर्य है नवीन नवीन उत्पादन करने की शक्ति इसको योग कहते हैं यह अर्थ है। योग से ही नये पदार्थ होते हैं।

अत्यन्त दृढता से सम्बन्ध जुड़ जाने पर बन्ध हो जाता है, इन बन्ध, योग तथा विभूति संसर्गों से आत्मा का संस्कार होता है–पृथक्-पृथक् संस्करण बनते हैं। बल सम्बन्धी वृत्तिता संसर्ग में ग्रह–अतिग्रह–अर्थात् प्रधान गौण भाव होता है। इसमें ही भोग होता है। जो परतन्त्र-गौण होता है--वह भोग्य और स्वतन्त्र भोक्ता ।।२६३।।

४. संसर्ग हो जाने पर जहां एक का ग्रहण दूसरा कर लेता है, जो ग्रहीत होता है–वह परतन्त्र हो जाता है—वहां ग्रह–अतिग्रह भाव कहा जाता है। यह वृत्तिता सम्बन्ध होता है। इस संसर्ग में ही भोग्य–भोक्ता भाव होता है।

अपने स्वरूप के अनुगमन करने वाले इन तीन सर्गों से स्वतन्त्र आत्मा तीन रूपों में विभक्त हो जाता है, विभूति संसर्ग से मन रूप, योग संसर्ग से प्राण रूप और बन्ध संसर्ग से वाक् रूप होता है ।।२६४।।

५. मन, प्राण, वाणी की उत्पत्ति व्याख्या पूर्व हो चुकी है। इनकी समष्टि का नाम आत्मा है। ग्रन्थकर्ता ने संशयोच्छेदवाद ग्रन्थ में इस ही प्रकार शक्ति में भी तीन भेद होते हैं यह निरूपण किया है, यहां भी आगे कहा जायगा। जैसे यहां मन, प्राण और वाक् हैं और उनका समवाय आत्मा कहा गया है, वैसे ही बल सम्बन्ध में सत्व, रज और तम हैं और उनकी समष्टि रूप प्रकृति है। जैसे कर्मात्माओं में अव्यय, अक्षर, क्षर रूप अवस्था हैं, वैसे ही शक्ति में महान्, अहङ्कार और तन्मात्रा ये अवस्था हैं। आगे कहा जाने वाला पुरुष शक्ति का सम्बन्ध क्रम से ही जानना चाहिये। अव्यय की शक्ति महान् है, अक्षर की अहङ्कार और क्षर की तन्मात्रा शक्ति है। क्षर भी यहाँ पहले दो प्रकार का कहा गया है आत्मा रूप क्षर अभोक्ता और पशु क्षर भोक्ता। उनमें आत्माक्षर की शक्ति तन्मात्राओं का समुदाय है, और पशु क्षर की शक्ति पृथक् पृथक् पंच तन् मात्राएँ। ये ही वहां भोग्य उपस्थित करती है—यह सूक्ष्म अनुसंधान विवेचकों को करना चाहिये।

जो भी सृष्टि होती है—वहां अन्नाद-अन्न और आवपन (आधार) इन तीनों की साथ-साथ स्थिति रहती है, इनमें अन्न का कभी क्षय नहीं होता अतः अन्नाद (खाने वाला) कभी निरन्न नहीं रहता. ये अन्न और अन्नाद आवपन के सहारे प्रतिष्ठा पाते हैं ।।२९५।।

मनो भवेदावपनं वियत्त[1]त्प्राणस्तथान्नाद इति प्रसिद्धः ।
वागन्नमित्थं त्रितयं प्रतीयात् क्षरेऽक्षरे चाव्ययरे परेऽपि ।।२९६।।

[2]मनः खमाहुर्मनसि स्थितं तं प्राणं सहान्नं च कमाहुरेके ।
प्राणं मनःस्थं त्वमृतं तथाहुर्वाचं तु मृत्युं पुरुषेषु तेषु ।।२९७।।

प्राणं विदुः क्षत्रमथोविशं विदुर्वाचं मनो ब्रह्म विदुस्त्रिके गणे ।
प्राणो हि वाचः प्रथते नियोजकः प्राणस्य चेदं हि मनो नियोजकम् ।।२९८।।

ब्रह्माथ विट् क्षत्रमुपेत्य यद्वत् स्थितिं लभेतेह तथा मनो वा ।
वाग् वाश्रयं प्राणमुपेत्य नूनं स्थितिं लभेते स वसिष्ठ एषाम् ।।२९९।।

सहैव सर्वेप्युदयं लभन्ते सहैव सर्वेऽपि वसन्ति नित्यम् ।
नित्यं मनः प्राणमयं च वाचं तिष्ठत्यधिष्ठाय तदङ्गभावात् ।।३००।।

एषां त्रयाणां पृथगात्मनां मिथः सम्बन्ध उक्तः समवायसंज्ञकः ।
अन्योन्यतस्ते समवेतरूपिणो विनान्यतोऽन्यस्य न च स्थितिः क्वचित् ।।३०१।।

त्रयस्त्विमे ये पुरुषा निरुक्ताः प्राणो मनो वागिति संप्रतीताः ।
अन्योन्य साहित्यकृतैकमूर्तिस्त्रिपुरुषोऽन्यः पुरुषो मतस्तैः ।।३०२।।

स वाङमयः प्राणमयो मनोमयो य एक [3]आत्मास्ति सनातनः प्रभुः ।
त्रिविक्रमोऽसौ त्रिभिरेष विक्रमैर्विचक्रमेतज्जगदेतदुच्यते ।।३०३।।

य उत्तमो यः पुनरक्षरः क्षरस्ते विक्रमास्तस्य मता इमे त्रयः ।
एभिस्त्रिभिस्तैः पुरुषैर्विनाकृतं जगन्न किञ्चित् क्वचिदस्ति वस्तुवत् ।।३०४।।

[4]संसृज्यते तन्त्रिकमन्नमन्नात् सहैतयोरावपनं निविष्टम् ।
न क्षीयतेऽन्नं न निरन्नमन्नाद् द्वयं च तत्रावपने प्रविष्टम् ।।३०५।।

सारे जगत् के आधार आकाश के समान मन आवपन (आधार) है, प्राण अन्नाद-भोक्ता नाम से प्रसिद्ध है, वाक् अन्न रूप है। यह आवपन-अन्नाद-अन्न भाव, क्षर, अक्षर, अव्यय इन तीनों में व्यवहृत होता है ।।२९६।।

१. उक्त दोनों श्लोकों में मन–प्राण–वाक् के विषय में कुछ विशेषता बताई जा रही है। वाक् अन्न रूप है, प्राण अन्नाद है, मन ही आवपन है। आधार विशेष को आवपन कहते हैं—अर्थात् सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त रूप आधार। अन्न इस यज्ञ प्रक्रिया में प्रतिक्षण भक्षण में आता है तथापि उसका कभी क्षय नहीं होता, यज्ञ प्रक्रिया से नये नये अन्न की उत्पत्ति होती रहती है। मन उस रूप में आधार है जैसे जगत् का आधार आकाश है। ये तीनों भाव तीनों पुरुषों में व्याप्त हैं।

वेद की परिभाषा में मन को 'खं' कहा जाता है । अन्न सहित अन्नाद-प्राण जो मन में रहता है उसे विद्वानों ने 'कं' कहा है । मन में स्थित प्राण अमृत रूप रहता है, वाक् सदा मृत्यु रूपिणी है । ये तीनों पुरुषों में स्थिति है ।।२९७।।

२. वेद की परिभाषा बता रहे हैं कि वेद में मन को 'खं' कहा जाता है, अन्न–अन्नाद को 'कं' कहते हैं । जैसा कि छान्दोग्य उपनिषत् के चतुर्थ प्रपाठक में दशम खण्ड में उपकौशल को अग्नियों का उपदेश करते हुए कहा है "प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म, खं ब्रह्मेति । स होवाच विजानाम्यहं, यत् प्राणो ब्रह्म, कञ्चतु खञ्च न विजानामि, ते होचुः यदेव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति । प्राणं च हासौ तदाकाशं चोचुः' इति ! ये सब स्पष्टार्थ हैं ।

वेद में प्राण को क्षत्रिय संस्था में, वाक् को वैश्य संस्था में और मन को ब्राह्मण संस्था में माना जाता है । प्राण, वाक् का नियोजक है और प्राण का नियोजक मन होता है ।।२९८।।

जैसे ब्राह्मण वर्ग, वैश्य और क्षत्रिय वर्ग के सहारे समुचित प्रतिष्ठा पाता है । ऐसी ही अवस्था मन और वाक् की है, ये दोनों प्राण समवेत होकर स्थिति लाभ कर पाते हैं—अतः प्राण ही इन सब में मुख्य है—वसिष्ठ है—उन दोनों को नियंत्रित करता है—"अतः प्राण पर नियमन करने से उन दोनों का नियमन तो स्वतः सिद्ध हो जाता है" यह अभिप्राय भी अन्तर्गभित है ।।२९९।।

ये मन, प्राण, वाक् सब साथ-साथ उदित होते हैं और तीनों सदा साथ ही साथ रहते हैं, प्रकृति यज्ञ का यह स्वाभाविक प्रवर्तन है कि—प्रवाह रूपेण नित्य सर्ग काल में मन-प्राण से युक्त वाक् रूप शरीर को आत्मा अपना अङ्ग मानता हुआ तीनों में अन्तर्निगूढ होकर अधिष्ठित रहता है ।।३००।।

आत्मा रूप से मन-प्राण-वाक् का पृथक् सन्निवेश रूप में विचार किया जाने पर इनका परस्पर समवाय सम्बन्ध होता है, क्योंकि ये तीनों समवेत रूप में सदा साथ ही रहते हैं—यह ही समवाय का अर्थ है । इन में एक के बिना अन्य की स्थिति कभी नहीं होती, इनकी समवेत स्थिति का नाम ही संसार है ।।३०१।।

प्राण-मन और वाक् रूप तीन पुरुषों का निर्वचन हुआ है, ये ज्ञान के विषय बनते हैं । इन तीनों की समवेत रूप एक मूर्ति अन्य त्रिपुरुषात्मक पुरुष कर्मात्मा रूप बनता है, यह ऋषियों की मान्यता है ।।३०२।।

यह आत्मा वाङ्मय, प्राणमय तथा मनोमय स्वयं एक रूप है—यह सनातन है—सबका स्वामी है—स्वतन्त्र है । यह कर्मात्मा त्रिविक्रम है, इन तीन विक्रमण रूप संचरण का नाम ही जगत् कहा जाता है ।।३०३।।

३. मन–प्राण आदि तीनों की एक समष्टि को कर्मात्मा कहा जाता है—यह त्रिविक्रम है । अव्यय, अक्षर और क्षर ये ही इसके तीन विक्रमण हैं । इन तीन विक्रमों से ही सारे संसार की उत्पत्ति होती है—यह भाव है ।

उत्तम पुरुष, अक्षर तथा क्षर पुरुष ये कर्मात्मा के तीन विक्रमण हैं, इन तीन पुरुषों के बिना कहीं भी किसी प्रकार की जगत् रूप वस्तु सत्ता नहीं होती ॥३०४॥

अव्यय आदि तीनों पुरुषों में आवपन, अन्नाद, अन्न यह प्रक्रिया सर्वत्र रहती है, पूर्व कहा जा चुका है कि यज्ञ प्रक्रिया से अन्न का कभी क्षय नहीं होता—अतः अन्नाद कभी निरन्न नहीं रहता और ये दोनों आवपन रूप विशेष आधार में प्रविष्ट रहते हैं ॥३०५॥

४. तीनों पुरुषों में भी अन्नाद-अन्न, आवपन रूपता की व्याख्या करते हैं।

परं भवेदावपनं ततोऽक्षरं त्वन्नादमस्य क्षरमन्नमिष्यते ।
[1]अत्राक्षरे कर्मफलस्य भोक्तृता निषिध्यते न त्वियमन्नभोक्तृता ॥३०६॥

[2]द्वयं च तत्रामृतमुच्यते परं तथाऽक्षरं मृत्युरथ क्षरं भवेत् ।
स मृत्युरस्मिन्नमृते स्थितोऽमृतो न क्षीयतेऽनुक्षणभक्षितोऽपि सन् ॥३०७॥

स्वरूपसंसर्ग इहोदितो द्विधा संसृष्टयोश्चाऽपि विशुद्धयोरपि ।
संसृष्टयोरप्यथ स द्विधा मतः स ग्रन्थिकाग्रन्थिकभेदतः पुनः ॥३०८॥

सर्गैश्च संशुद्धनिरूपितैस्त्रिभिर्भवन्ति वाक्प्राणमनांसि यानि वै ।
तैरात्मभिर्यः प्रथमः प्रवर्तते परः स आत्मा पुरुषः स उत्तमः ॥३०९॥

सर्गैस्तु संसृष्टनिरूपितैस्त्रिभिः पुनस्तु वाक्प्राणमनांसि यानि तैः ।
अग्रन्थिकैस्तैरपरः प्रवर्ततेऽक्षरः स आत्मा पुरुषः स ईश्वरः ॥३१०॥

संसृष्टिसंसृष्टनिरूपितैस्त्रिभिः सर्गैस्तु वाक्प्राणमनांसि यानि तैः ।
स ग्रन्थिकैर्यः पुरुषः प्रवर्तते क्षरः स आत्मेति हि [3]विक्रमत्रयम् ॥३११॥

स्वरूपसंसर्गबलाश्रयेऽस्मिन् ध्रुवं भवेद् [4]वृत्तिमती ही शक्तिः ।
शक्तिः स्वरूपेण यदान्विता स्यात् तदा पुनः शक्तिरिहाभ्युपैति ॥३१२॥

परात्मनः शाश्वतिकीह शक्तिर्बलं तदन्वेति रसे परस्य ।
ततोऽक्षरं शश्वदुदेति तस्मिन् स्थितं परस्मिन् पुरुषोत्तमे स्यात् ॥३१३॥

पर पुरुष अर्थात् अव्यय पुरुष आवपन होता है, अक्षर, अन्नाद और क्षर अन्न माना जाता है। अक्षर पुरुष में कर्मफल भोग का निषेध किया गया है, जीवन सत्ता बताने वाली अन्न भोक्तृता का निषेध नहीं है ॥३०६॥

१. यहां संदेह होता है कि पहले अक्षर पुरुष को भोक्ता नहीं बताया है, तो अब उसे अन्नाद रूप से कैसे बताया जा रहा है? समाधान में कह रहे हैं कि कर्म फल की भोक्तृता का निषेध किया गया है। प्राकृतिक नियम से अन्न-अन्नाद भाव तो स्वाभाविक है—उसका निषेध नहीं किया जा सकता। यहां भक्षण रूप अन्नादता नहीं कही जा रही है क्योंकि सुख दुःख रूप भोग वहां नहीं होता अपितु यथेच्छ विनियोजन करके उसे अपने स्वरूप में आत्मसात् कर लेना ही अन्नादता है।

अव्यय और अक्षर दोनों अमृतमय पुरुष हैं, क्षर पुरुष मृत्युमय है । वह मृत्यु रूप क्षर अमृत में स्थित रहने के कारण अमृत भाव में बना रहता है । यद्यपि उस क्षर का प्रतिक्षण अक्षर भोजन करता रहता है– तथापि वह क्षीण नहीं होता । यहां ईक्षण ही अदन रूप माना गया है ।।३०७।।

२. पर और अक्षर पुरुष अमृत पद से कहे जाते हैं और मृत्यु पद से क्षर कहा जाता है । यद्यपि क्षर मरण धर्म वाला है तथापि अमृत में स्थिति पा जाने के कारण वह अमृत रूप ही हो जाता है । प्रतिक्षण क्षर अक्षर द्वारा भक्षित होता है—अर्थात् स्वरूप परिवर्तित कर आत्मसात् कर लिया जाता है—अर्थात् उसे स्व स्वरूप में समेट लिया जाता है । सोम अन्न रूप होता है—वह अग्नि द्वारा भक्षण किया जाता है—अर्थात् अग्नि स्वरूप में सम्मिलित होकर आत्मसात् कर लिया जाता है परन्तु सोम अपने निज रूप से कभी नष्ट नहीं होता, अग्नि द्वारा ही दूसरे प्रकार से सोम की पुनः पूर्ति हो जाती है । इसी प्रकार रयि नामक पदार्थ प्राण में प्रविष्ट हो जाने पर फिर परिपूर्ण हो जाता है । यह ही प्राकृतिक यज्ञ की प्रक्रिया है इस प्रक्रिया से ही जगत् की उत्पत्ति तथा स्थिति होती है ।

बल संश्लिष्ट रस और उपस्थिति मात्र से बल सत्ता रहने पर भी निर्विकार विशुद्ध रस, इस प्रकार स्वरूप संसर्ग की दो विधा कही गई हैं, उनमें बल संयुक्त की भी दो विधा मानी जाती हैं—बन्ध हो जाने पर सग्रन्थिक, अन्य संसर्ग में अग्रन्थिक ये दो भेद हो जाते हैं । एक जगह ग्रन्थि बन्धन हो जाता है, अन्यत्र नहीं होता ।।३०८।।

विभूति, योग और बन्ध संसर्गों द्वारा जो त्रिपुरुष निरूपण होता है उनमें विशुद्ध रस-बल के विभूति सम्बन्ध से जो वाक्-प्राण-मन का उदय होता है—आत्मा रूप इन तीनों से जो प्रथम पुरुष कर्मात्मा रूप से प्रवृत होता है–उसे पर पुरुष अथवा मुख्य आत्मा वा पुरुषोत्तम कहा जाता है । ये पुरुष संस्था सर्बथा ग्रन्थि रहित होती है ।।३०९।।

आगे रस बल की संसृष्ट अवस्था में उक्त संसर्गों से जो वाक् प्राण और मन उदित होते हैं–ये योग संसर्ग से होते हैं–ये भी ग्रन्थि शून्य होते हैं—इससे अक्षर की उत्पत्ति होती है—यह अक्षर आत्मा है—पुरुष है—ईश्वर है ।।३१०।।

सम्बन्ध पर सम्बन्ध इस प्रकार अनेकधा संसर्ग परम्परा होने पर—वाक्-प्राण-मन रूप जिस त्रिक का उदय होता है—वह संसर्ग परम्परा के कारण ग्रन्थि बंधन युक्त हो जाता है, इस सग्रन्थिक त्रिक से जो पुरुष रूप बनता है--वह क्षर आत्मा है—ये ही तीन विक्रम कहे जाते हैं ।।३११।।

३. शुद्ध रस और शुद्ध बल के सान्निध्य मात्र से जिन वाक्–प्राण–मन का उद्भव हुआ, इनकी इस समष्टि का नाम अव्यय पुरुष है । आगे जब रस–बल संसृष्ट–सम्बद्ध होते हैं और उनसे जिन वाक्–प्राण–मन का उदय होता है, उस समष्टि को अक्षर पुरुष कहा जाता है । इसको ही ईश्वर कहा जाता है । पुनः पुनः संसर्ग से गांठ बंधने लगती है (जिसे ग्रन्थि बन्धन कहते हैं) तब उस अवस्था में ग्रन्थि बन्धन युक्त रस–बल के द्वारा जिन वाक्–प्राण–मन का उद्भव होता

है, इस त्रिक रूप समष्टि को क्षर-पुरुष कहा जाता है। पहिले जिन तीनविक्रमणों का आख्यान हुआ है, वे तीन विक्रम ये ही अव्यय-अक्षर और क्षर रूप हैं।

स्वरूप संसर्ग से संस्थित बल के आधारभूत रस में शक्ति वृत्तिता संसर्ग से नित्य रहती है। जहां शक्ति भी स्वरूप सम्बन्ध से समन्वित होती है, वहां उस शक्ति विशिष रस संसर्ग से अन्य शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है ॥३१२॥

४. अव्यय आदि तीनों पुरुषों में रस और बल का स्वरूप संसर्ग होता है, आगे बल जब शक्ति रूप में परिणत होता है तब शक्ति का पुरुषों के साथ वृत्तिता संसर्ग होता है, किन्तु जब शक्ति का भी स्वरूप सम्बन्ध होता है, तब वृत्तिता सम्बन्ध से शक्ति विशिष्ट रस वा पुरुष में अन्य शक्ति का योग हो जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा अक्षर और क्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है यह आगे श्लोक में कहा गया है।

पर आत्मा नाम से ख्यात अव्यय पुरुष की शक्ति स्वाभाविक है, इस अव्यय रूप रस में जब बल अन्वित होता है तब नित्य भाव में अक्षर पुरुष का उदय होता है, यह अक्षर पुरुषोत्तम नामक पर पुरुष में पहले से ही स्थित रहता है, जो कि बल सम्बन्ध होने पर सहज भाव से उदित हो जाता है ॥३१३॥

> अथाक्षरस्यापि च येह शक्तिर्बलं तदन्वेति रसेऽक्षरस्य।
> ततः क्षरं यत्प्रभवेदनित्यं तदक्षरे नित्यमुपस्थितं स्यात् ॥३१४॥
>
> [1]स्वानन्तरस्य त्ववरात्मनो यतः सृष्टौ कृतार्थापरशक्तिरिष्यते।
> तेनात्मभोग्यानुदयाद्धि नैतयोः संभाव्यते कर्मफलस्य भोक्तृता ॥३१५॥
>
> क्षरस्य शक्त्या त्ववरः क्षरेतरो न कश्चिदात्मा पुनरत्र जायते।
> यज्जायते तत्क्षरमेव जायते तदस्य भोग्यं स भुनक्ति तत्सदा ॥३१६॥
>
> तच्छक्तिभेदात् पुरुषस्त्रिधेष्यते क्षरोऽक्षरो वा स परो निरुच्यते।
> पूर्वस्य शक्त्याऽवरपूरुषो भवंस्तत्रैव तिष्ठत्यपि शक्ति[2]वत् सदा ॥३१७॥
>
> परस्य शक्तिस्थितमक्षरं स्यात् क्षरं तथैवाक्षरशक्तिसंस्थम्।
> क्षरस्य शक्त्या तु भवन्ति भोग्यान्यस्याक्षरे वा न परेऽस्ति भोगः ॥३१८॥
>
> क्षराणि सर्वाणि तदक्षरे स्युस्तदक्षरं चापि परे निगूढम्।
> तेषां [3]ग्रहातिग्रहभावरूपः संसर्ग उक्तो न पृथक् क्वचित्स्युः ॥३१९॥
>
> [4]पश्यन्ति लोके तु विपर्ययेण क्षरेऽक्षरं तत्र परं निगूढम्।
> तृणे क्षरे सत्यमिहाक्षरं यत् तत्रामृतं स्यात् परमन्तरन्तः ॥३२०॥
>
> क्षरे[5] तु यो वाक् पुरुषोऽयमात्मा स त्रिः पुनर्विक्रमणं करोति।
> तेजस्तथा पश्च तथान्नमित्थं तेनायमेको बहुधेह दृष्टः ॥३२१॥

आगे पर पुरुष समन्वित अक्षर पुरुष की जो शक्ति है-वहां अक्षर के रस में जब बल का सम्बन्ध होता है तब अनित्य (नश्वर) भाव में क्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है, यह

क्षर भी पहले से अक्षर पुरुष में उपस्थित रहता है, बल सम्बन्ध से उदित हो जाता है ।।३१४।।

इस पुरुष त्रयी में क्रम यह है कि पूर्व का कारण रूप आत्मा आगे के आत्मा का प्रादुर्भाव करके कृतार्थ हो जाता है—अर्थात् प्राकृतिक यज्ञ प्रक्रिया में उसकी कृति पूर्ण हो जाती है—अन्य पुरुष का प्रादुर्भाव कर देना मात्र ही कारण पुरुष का लक्ष्य होता है—उसका अन्य कुछ भोग्य अंश नहीं होता अतएव अव्यय और अक्षर पुरुष कर्मफल का भोक्ता नहीं होता है ।।३१५।।

१. पर पुरुष की शक्ति अक्षर पुरुष को उत्पन्न करके कृतार्थ हो जाती है अन्य किसी भोग्य वस्तु को उत्पन्न नहीं करती, वैसे ही अक्षर की शक्ति क्षर को उत्पन्न कर कृतार्थ हो जाती है—अतः अव्यय और अक्षर भोक्ता नहीं माने जाते क्योंकि उनका भोग्य कुछ भी नहीं होता, आगे क्षर पुरुष की शक्ति किसी अन्य पुरुष को उत्पन्न नहीं करती अपितु भोग्य पदार्थों की उत्पत्ति करती है—क्षर पुरुष उन भोग्य पदार्थों का ही भोक्ता बनता है ।

क्षर पुरुष की शक्ति से क्षर से भिन्न किसी अन्य आत्मा का उदय नहीं होता—आगे जो भी उत्पत्ति होती है—वह क्षर रूप में ही होती है—वह सब इस क्षर की भोग्य होती है—अतः क्षर इनका सदा भोग करता रहता है ।।३१६।।

एक ही आत्मा के अव्यय-अक्षर और क्षर रूप तीन भेद शक्ति भेद के कारण ही होते हैं—इस प्रक्रिया में पूर्व पुरुष को शक्ति से दूसरे पुरुष का प्रादुर्भाव होता है उस अन्य प्रादुर्भूत पुरुष में पूर्व पुरुष अपनी शक्ति सहित सदा विराजमान रहता है ।।३१७।।

२. शक्तियां आधारभूत पुरुषों में ही रहती हैं—आगे आगे के पुरुष इन शक्तियों द्वारा ही उत्पन्न होते हैं । उन उत्पादक पुरुष रूप आधारों में ही आधेय भाव से सर्वत्र शक्ति का वास रहता है ।

पर पुरुष की शक्ति में अक्षर की स्थिति रहती है, वैसे ही अक्षर की शक्ति में क्षर की स्थिति होती है, आगे क्षर पुरुष की शक्ति से भोग्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है—जोकि क्षर के ही भोग में आते हैं, अक्षर और पर भोक्ता नहीं होते पूर्व लिखित का ही यह स्पष्टीकरण है ।।३१८।।

सारे क्षर भाव अक्षर में निहित रहते हैं और वह अक्षर भी पर पुरुष में निगूढ (अन्तर्हित) रहता है । इन तीनों का ग्रह अतिग्रह भाव रूप सम्बन्ध होता है—ये पृथक् नहीं रहते ।।३१९।।

३. जहां एक दूसरे के आधीन हो जाता है—वहां ही ग्रह-अतिग्रह भाव रूप सम्बन्ध होता है—यह कहा जा चुका है । ये तीनों पुरुष पृथक् कभी नहीं रहते यह तात्पर्य है ।

संसरण स्थिति में विपरीत स्थिति से क्षर भाव से प्रथम विचार किया जाता है कि क्षर में अक्षर निगूढ है और उस अक्षर में भी पर निगूढ रहता है । दूध के उदाहरण में तृण (घास) रूप क्षर भाव में, अक्षर रूप अमृत भाव निगूढ है वह सत्य है तृण असत्य है—असत्य में सत्य की स्थिति है—उस अक्षर में भी पर रूप सत्य निगूढ रहता है ।।३२०।।

४. इस प्रकार सृष्टि के उत्पत्ति क्रम की दृष्टि से अव्यय पुरुष सबका मूल आधार है उसमें अक्षर पुरुष निहित रहता है और उस अक्षर में क्षर निहित रहता है, क्षर में भोग्य पदार्थ निहित रहते हैं—यह क्रम होता है। लौकिक दृष्टि से देखने पर सर्वप्रथम क्षर ही दृष्टिगोचर होता है—उसमें अन्वेषण करने पर अक्षर का अनु प्रवेश ज्ञात होता है—उसमें भी अव्यय का अनुप्रवेश ज्ञात होता है। जैसे तिनकों को जो देखता है उसे तिनके का ऊपरी भाग क्षर रूप ही प्रथम भासित होता है—उसमें सत्ता रूप से अक्षर और अव्यय भाव की प्रतीति पीछे होती है।

क्षर में जो वाक् पुरुष रूप आत्मा है—उसके भी आगे तीन विक्रमण होते हैं, तब वह क्षर तेज, अप्, अन्न रूप से बदलता हुआ एक रूप होने पर भी नाना रूप में दृश्यमान हो जाता है ॥३२१॥

५. अब क्षर का भी तीन प्रकार का विक्रमण बता रहे हैं। जिस अवस्था में आकाशादि पंच भूत जागृत अवस्था में न होते हुए संमुग्ध भाव में हों उस वाक् के रूप को क्षर पुरुष कहा जाता है, यह आत्माक्षर है, इसके ही तेज-अप्-अन्न रूप तीन विक्रम होते हैं।

[1]पुनस्तृतीयेऽपि च पर्यये‌ऽसौ पूर्वैः समेतोऽन्नमयोऽयमात्मा।
त्रिविक्रमं विक्रमते ततः स्युर्भेदा जड़स्थावरचेतनानाम् ॥३२२॥
[2]एतावदेतज्जगदुच्यते तत् सर्वं क्रमेणेह विवेचयामः।
पूर्वं परन्तं च ततोऽक्षरं तं ततः क्षरं तं च निरूपयामः ॥३२३॥

॥ इति पर विद्यायां भूमिकाधिकारः प्रथमः ॥

"उपर्युक्त तेज-अप्-अन्न जो कि अग्नि-सोम और अन्न है, अग्नि तेज रूप में, सोम अप् रूप में, दोनों का समन्वय रूप अन्न" इनमें अन्तिम अन्न भाव का है। तीन तरह का फिर विक्रमण यज्ञ प्रक्रिया में होता है—इस विक्रम की विभिन्न अवस्थाओं के फलस्वरूप जड़–स्थावर–चेतन भेद होते हैं। इस प्रक्रिया में केवल अन्नमय आत्मा का ही मात्र विक्रमण नहीं होता अपितु तेज और अप् भी साथ रहते हैं—अतः समवेत आत्मा का यह विक्रमण है ॥३२२॥

१. द्वितीय विक्रमण जो अन्न कहा गया है—उसका ही फिर त्रेधा विक्रमण होता है। इस क्रमण में जड़–स्थावर–चेतनों की उत्पत्ति होती है। केवल अन्न ही नहीं अन्तः प्रविष्ट तेज और अप् भी साथ विक्रम करते हैं। पूर्व प्रक्रियाओं में भी सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये, विक्रम समवेत त्रिक का ही होता है।

ये त्रिविक्रमों का क्रम जिसमें अव्यय-अक्षर और क्षर रूप विक्रमों की प्रधानता है- इनमें अङ्गाङ्गी भाव भी है। यह त्रिविक्रम ही जगत् रूप से दृश्यमान है। इस विषय की क्रमशः विवेचना इस ग्रन्थ में की जा रही है। प्रथम अव्यय नामक पर पुरुष का तदनन्तर अक्षर पुरुष का—तदनन्तर क्षर पुरुष का निरूपण किया जा रहा है ॥३२३॥

२. इतना ही संसार है। इस जगत् की उत्पत्ति का क्रम समास रूप से इस भूमिका अधिकार में व्याख्यात हुआ है। इसका ही विस्तार से स्पष्टीकरण ग्रन्थ में आगे किया जायगा – यह तात्पर्य है।

॥ पर विद्या क्रम में प्रथम भूमिका अधिकार सम्पूर्ण ॥

(१७) [1]परधर्माधिकरणम्

आदौ परस्थानगतानि यानि धर्माणि वाक्प्राणमनांस्यमूनि ।
तानि प्रतिष्ठा विधृतिश्च तद्वज्ज्योतिस्तथेति क्रमतः प्रथन्ते ।।१।।
सा वाक्प्रतिष्ठाविधृतिस्तु तत्र प्राणो मनो ज्योतिरिति प्रक्लृप्त्या ।
[2]प्रतिष्ठितः कोऽपि रसोऽस्ति पूर्णो ज्योतिर्मयोऽसावणिमा च भूमा ।।२।।

प्रथम, पर पुरुष में धर्म रूप से स्थिति पाये हुए ये वाक्-प्राण-मन सर्ग काल में क्रमशः प्रतिष्ठा-विधृति और ज्योति रूप से प्रसिद्ध होते हैं। "यह दिव्य अवस्था है—इसका संकेत 'अमूनि' पद के द्वारा किया गया है" ।।१।।

१. यहां से वाक्-प्राण-मन का जगत् में विस्तार विवेचित हो रहा है। पर संस्था में जो वाक्-प्राण मन कहे गये हैं, वे जगत् अवस्था में प्रतिष्ठा, विधृति, ज्योति इन तीन रूपों से विकसित होते हैं।

वाक् का विकास प्रतिष्ठा रूप से, प्राण का विकास विधृति (अस्ति रूप सत्ता बोधक) रूप से, मन का विकास ज्योति रूप से प्रकृति द्वारा प्रकल्पित हो जाने पर, रस पूर्ण भावेन गूढ रहता हुआ प्रतिष्ठित हो जाता है। यह रस चाहे अणिमा (लघु) भाव में हो चाहे भूमा—(महान्) भाव में हो—सर्वत्र प्रतिष्ठा पाने से प्रतिष्ठित नाम से, प्राण विकास रूप विधृति से—पूर्ण नाम से, मन के विकास रूप ज्योतिर्मय होने से ज्योति नाम से विज्ञात होता है ।।२।।

२. संसार में सर्वत्र रस ही भिन्न भिन्न रूपों से भासित होता है, यह रस प्रतिष्ठित है—अर्थात् प्रतिष्ठा विशिष्ट है, पूर्ण है अर्थात् जीवन बोधक-विधृत है, ज्योतिर्मय है—अर्थात् ज्ञान प्रधान है—ज्ञान का ही विषय होता है, ये तात्पर्य है कि संसार में सारे पदार्थ प्रतिष्ठा के सहारे प्रतिष्ठित हो रहे हैं, और अपने स्वरूप से पूर्ण भाव में जाने भी जाते हैं। चाहे अणिमा रूप में छोटे से छोटा पदार्थ हो अथवा भूमा रूप में बड़े से बड़ा हो सर्वत्र प्रतिष्ठा, विधृति, ज्योति ये तीनों विख्यात अवश्य होते हैं।

(१८) ज्योतिराख्याने मात्राविकाशाधिकरणम्

[3]स्थानस्थमेवातिविदूरसंस्थं योग्यं यदक्षैः स्पृशति प्रतीत्य ।
स्पृष्ट्वास्य रूपेण विवर्तते यत् तज्ज्योतिरुक्तं तदयं विकाशः ।।३।।

[4]ज्योतिस्त्रिधा स्यात् क्षरभूतमेकं स्यादक्षरं ज्ञानमिह द्वितीयम् ।
परं तृतीयं यदयं विकाशः क्षरेऽक्षरं तत्र परं निगूढम् ।।४।।

यतो [5]विभातीति मतिः प्रवर्तते तज्ज्योतिरुक्तं न विभाति तत् तमः ।
ज्ञानं हि तज्ज्योतिरिदं विवक्ष्यते यद्भौतिकं ज्योतिरिहास्ति तत्पृथक् ।।५।।

[6]ज्योतिर्न तत्रास्ति तमो यदन्तरे न ज्योतिषा बा विकलं क्वचित् तमः ।
ज्योतिर्घनेऽप्यस्ति तमोन्तरान्तरे ज्योतिस्तथैवास्ति तमो घनान्तरे ।।६।।

उपरोक्त विवरण में ज्योति पद ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान की प्रक्रिया यह है कि—पदार्थ समीप में हो अथवा बहुत दूरी पर हो—ज्योति रूप ज्ञान किरणों की स्पर्श सीमा में वह आजाता है, उन ज्ञान किरणों से ज्योतिर्मय पुरुष उस पदार्थ का स्पर्श करता है और स्पर्श समकाल ही तद् रूप में परिवर्तित हो जाता है—अर्थात् अति दूरस्थ पदार्थ को भी जो अति समीप प्रतीति में ला देती है—वह ज्ञानमय ज्योति है—यह पर का 'विकास' रूप है। विकास इसकी संज्ञा है ॥३॥

३. ज्योति पद से ज्ञान कहा गया है—उसका स्वरूप बता रहे हैं कि ज्ञान मात्रा को कहीं जाना आना नहीं पड़ता वह अपने ही स्थान प्रतिष्ठित रहता हुआ अति दूर की वस्तु का भी स्पर्श करता है और उस ही वस्तु के रूप में स्वयं भी विवृत हो जाता है—अर्थात् तद् रूप हो जाता है, यह ही विकास कहलाता है। वास्तव में यह ज्योति रूप है। इसकी विकास संज्ञा रूप से भी व्यवहृत है।

अव्यय आदि पुरुष त्रयो में, यह ज्योति तीन भावों में विभक्त हो रही है। एक क्षर पुरुष रूप में ज्ञान, दूसरा प्राण प्रधान अक्षर पुरुष का ज्ञान, तीसरा अव्यय-पर अथवा विकास का ज्ञान। स्थिति क्रम में, क्षर पुरुष में अक्षर निगूढ है (गुहा स्थित-छुपा हुआ) और उस अक्षर में सत्र संचालक पर निगूढ है। "तीनों को सदा सह स्थिति तो पहले कही जा चुकी है" ॥४॥

४. ज्योति की त्रिविधता कही गई है। क्षर आदि तीनों पुरुषों में यह त्रिविध हो रही है। क्षर पुरुष में पंच भूत, उनसे सम्बन्धित नाम—रूप ज्ञान आदि, इस शरीर में अक्षर ज्योति ज्ञान रूप में काम कर रही है, पर रूप अव्यय ज्योति विकास रूप है।

अमुक पदार्थ भासित हो रहा है—यह बुद्धि प्रवर्तना ही ज्योति का रूप है। पदार्थ भासमान नहीं है—यह तम रूप अन्धकार है। यहां यह ज्ञान रूप ज्योति की विवेचना हुई है। पंचभूत सम्बद्ध ज्योति जो प्रकाश-दाह रूप से लोक में देखी जाती है—वह उक्त ज्योति से पृथक् है ॥५॥

५. जिससे प्रेरणा पाकर पदार्थ भासरूप बुद्धि का उदय होता है—वह प्रेरक ही ज्ञानमय ज्योति है। इसका रूप ज्ञान ही है। रस भाग और बल भाग का व्यावहारिक प्रतीति में भेद दिखाया जा रहा है कि "ये वाक्-प्राण और मन, रस और बल संसर्ग के ही रूप हैं—अतः रस-बलमय हैं—यह ज्ञान संसार दशा में रहना रस का भाग है—अमृत है। इस वास्तविकता का भान नहीं होना बल का भाग है-माया है-तम है-अज्ञान है। पहले बल को ही मृत्यु रूप कहा है यह नहीं भूलना चाहिये। जगत् में दृश्यमान भौतिक ज्योति तो प्रकाश रूप से प्रसिद्ध है ही।

संसार में कोई ज्योति (प्रकाश) अवस्था ऐसी नहीं मिल सकती जिसमें तम—अन्धकार सम्मिलित न होवे, इस ही प्रकार कोई तम—अन्धकार अवस्था ऐसी नहीं हो सकती जहां ज्योति साथ न हो—गहन अन्धकार में भी ज्योति रहती है। खूब समुज्ज्वल प्रकाश में भी उसकी आन्तर अवस्था में तम सदा रहता है। यह सार्वत्रिक नियम है ॥६॥

६. भौतिक ज्योति में प्रकाश और तम (अन्धकार) जो रस और बल के भाग हैं—ये सदा परस्पर सम्बद्ध रहते हैं, कभी भी कहीं भी इन दोनों का पार्थक्य नहीं होता। प्रकाश में भी अन्धकार सम्मिलित रहता है, इसही कारण थोड़ा प्रकाश, या अधिकाधिक प्रकाश यह तारतम्य प्रतीत होता है। महा प्रकाश में भी यदि अन्य दीपक और लाया जाय तो प्रकाश महत्ता पुनः अधिक बढ जाती है। दूसरी ओर विचार अन्धकार का करने पर देखा जाय तो चारों ओर दीपकों का समुज्ज्वल प्रकाश रहने पर भी एक तिनके की भी छाया अवश्य पड़ती ही है—यह छाया भी तो प्रकाश को आवरण करने वाला तम का ही भाग है, खूब प्रकाश में यह तिनके की छाया पड़ने से स्पष्ट अनुमान होता है कि उस प्रकाश अवस्था में भी तम का अंश अवश्य है। इसही प्रकार घोर अन्धकार में भी प्रकाश का अंश रहता है—अन्यथा तम की प्रतीति ही नहीं हो सकती। इस ही प्रकार ज्ञान भी कहीं अज्ञान के बिना नहीं रहता और अज्ञान में भी उसको भासित करने वाला ज्ञान रहता ही है, चार पद्यों में यह विवरण हुआ है।

यत् तारतम्यं तमसोऽस्ति तेन हि स्वल्पं महज्ज्योतिरिति प्रभिद्यते।
तथैव तज्ज्योतिषि तारतम्यतः स्वल्पं महद्वेति विशिष्यते तमः ॥७॥

ज्ञानं हि नाज्ञान विना कृतं यथा ज्ञानेन चाज्ञानमिदं न हीयते।
तथा प्रकाशो न विनाऽन्धकारतो न चान्धकारोऽस्ति विना प्रकाशतः ॥८॥

दिव्येऽपि तज्ज्योतिषि भौतिकेऽपि वा समानमित्थं तमसाऽनुविद्धता।
अज्ञानतो ज्ञानमिहावृतं ततो जना विमुह्यन्ति तमोऽनुसारतः ॥९॥

[1]ज्योतिः क्षरं सत्त्वमधिश्रितं सदा तदल्पमल्पेऽथ महन्महत्यपि।
तेनाल्पसत्त्वो भवतीह बालिशः सत्त्वाधिके ज्योतिषि दूरदर्शिता ॥१०॥

इति ज्योतिर्निरूपणम्

तम के अल्पता वा अधिकता रूप तारतम्य के कारण प्रकाश की अल्पता और महत्ता का भेद होता है। वैसे ही प्रकाश के स्वल्पता और महत्ता के तारतम्य से तम की स्वल्पता वा अधिकता रूप विशेषता हो जाती है ॥७॥

जैसे ज्ञान कभी अज्ञान के बिना नहीं रहता, ज्ञानमात्रा चाहे कितनी भी बढ जाय किन्तु वह अज्ञान का सर्वथा नाश या त्याग नहीं कर पाती। वैसे ही प्रकाश अन्धकार के बिना नहीं रहता तथा अन्धकार भी प्रकाश के बिना नहीं रहता ॥८॥

ज्योति दिव्य अवस्था में हो या भौतिक अवस्था में हो, तम का अनुवेध उसमें सर्वत्र समान होता ही है—संसार अवस्था में सदा अज्ञान से ज्ञान ढका रहता है—यही कारण है कि जितनी अज्ञान रूप तम की मात्रा होती है उतना जन संमोह अवश्य होता है। अर्थात् तम (अज्ञान) की घटा बढी के अनुसार ही मानव की माया मोह प्रक्रिया चलती है ॥९॥

क्षर पुरुष की ज्योति सदा दृढता रूप सत्व पर अवलम्बित होती है, अल्प सत्व पुरुष में दृढता अल्प होती है, महा सत्व पुरुष में दृढता भी महान् होती है। इस ही कारण

संसार में अल्प सत्व को बालक (अज्ञानी) कहा जाता है—जिसमें सत्व रूप ज्योति की अधिकता होती है उसे दूरदर्शी माना जाता है ॥१०॥

१. सत्व–दृढता को कहते हैं—जो हिम्मत नाम से प्रसिद्ध है। प्राणियों में यह हिम्मत क्षर ज्योति का रूप है।

ज्योति लक्षण परिच्छेद सम्पूर्ण

[२]ज्योतिर्विकाशस्त्रिविधः स इष्यते मात्रां च संस्थामपि दीप्तिमप्यनु ।
प्रत्येकमेते च पुनस्त्रिधा ततो ज्योतिः पदानीह नवैव चक्षते ॥११॥
[३]दिग्देशकालैरथ रूपभाव प्रसादनैरत्र यथा विकाशाः ।
प्रज्ञानचिद्भूतमयैस्तथान्ये त्रयोऽपि तानत्र निदर्शयामः ॥१२॥
[४]भूम्नो ह्यणिम्नः प्रतिबिन्दुतो रसो विकाशते सर्वमुखः स्वभावतः ।
अन्तर्बहिश्चोत्तरदक्षिणे पुरः पृष्टेऽध उर्ध्वं परितः स तिष्ठति ॥१३॥

जिस ज्योति की ज्ञानरूपता कही गई है—वह सर्वप्रथम पर पुरुष की ज्योति—जिसकी विकाश संज्ञा कही गई है—यह त्रिविध हो जाती है, मात्रा रूप में, संस्था रूप में और दीप्ति रूप में। फिर प्रत्येक में यह त्रिविधता होती हुई, नौ भागों में विभक्त हो जाती है—इस प्रकार केवल नौ ज्योति संस्था कही जाती हैं ॥११॥

२. प्रकाश की पर अवस्था अर्थात् अव्यय अवस्था जो विकाश नाम से कही गई है, वह विकास तीन प्रकार का है मात्रा विकास, संस्था विकास और दीप्ति विकास। उनमें मात्रा विकास का वर्णन ऊपर आठ श्लोकों द्वारा किया गया। आगे उसके विस्तार के लिये प्रत्येक की त्रिविधता कही जा रही है। सब मिलाकर ज्योतिनवधा है।

मात्रा विकास की त्रिविधता दिशा, देश और काल। संस्था विकास की त्रिविधता रूप, भाव और प्रसादन (प्रसन्नता)। दीप्ति विकास की त्रिविधता—प्रज्ञान, चित् और भूतमयता। इन तीनों का निदर्शन इस ग्रन्थ में कराया जायगा ॥१२॥

३. दिशा, देश, काल भेद से मात्रा का त्रिधा भाव, संस्था विकास का रूप, भाव, प्रसादन रूप से त्रिधा भाव, दीप्ति भाव का प्रज्ञान, चित्, भूतमय रूप से त्रिधा भाव, इस प्रकार नौ प्रकार का विकास होता है। पहले प्रदर्शित सामान्य ज्योति रूप भी इसमें ही अन्तर्भूत समझ लेना समुचित है।

पदार्थ चाहे भूमा (महान्) भाव में अथवा अणिमा—अणुभाव में हो, सबके प्रत्येक बिन्दु से रस विकसित होता है—यह विकास स्वभावतः सर्वतोमुख होता है—जैसे भीतर, बाहर, उत्तर, दक्षिण, आगे, पीछे, नीचे, ऊपर सब तरफ वह रहता है। यह रस का विकास रूप है। यह दिशा विभाग निर्देश है ॥१३॥

४. मात्रा विकास का विवरण करते हैं—बड़े से बड़ा पदार्थ हो अथवा छोटे से छोटा उसके प्रत्येक बिन्दु से रस का विकास होता है—अर्थात् प्रसार होता है। जैसा कि पहले ऋक्–साम के निरूपण प्रसंग में बताया जा चुका है।

[1]अणोरणीयान् महतो महीयान् रसो विकाश: प्रतिबिन्दु नित्य: ।
यं बिन्दुमात्मानमुपैति पाप्माऽणुर्वा महांस्तत्र तथा विकाश: ।।१४।।

ज्योतिष्मत: कस्यचिदत्यणोरणो ज्योतिर्विकाशोऽणुरुदेति वात्यणु ।
रवेर्विकाशो महतो महानयं विकाशते तन्नु विकाशलक्षणम् ।।१५।।

[2]परप्रकाश: पुरुषोऽपि लब्ध्वा महानणुर्वा परत: प्रकाशम् ।
स्वल्पावकाशेऽथ महावकाशे [3]विकाशते सेह रसोपपत्ति: ।।१६।।

अथाप्रकाशे पुरुषेऽपि भानो: स्पृष्ट्वांशवो यज्जनयन्ति रूपम् ।
तत्राऽपि रूपस्य भवन् विकाश: सोऽनुग्रहस्तस्य रसस्य मृत्यौ ।।१७।।

सूर्यादि तेज: किरणस्य यत्राभावो भवेत्तत्र तमो विकाश: ।
सोऽप्येवमेवानुदिशं प्रवृत्तस्तदिष्यतेऽनुग्रहणं रसेन ।।१८।।

[4]जलोत्थवीचेरथ शब्दवीचेर्विकाशते मण्डलवत्तु रूपम् ।
बलस्य नाभेश्चरतो रसेऽस्मिस्तदिष्यतेऽनुग्रहणं रसेन ।।१९।।

बीजाङ्कुर: सन्धिदलप्रसूनफलानि बीजं क्रमतो विकाशात् ।
सूक्ष्माद्बृहन्ति प्रभवन्ति रेतो बिन्दु: क्रमादद्र्ध चतुर्थहस्त: ।।२०।।

[5]सर्वत्र भूमन्यणिमाय उक्तो यत्नाच्चयं नात्र निभालयन्ते ।
स एव सर्वत्र विकाशयोगाद् भूमा भवत्यत्र बलानुसारात् ।।२१।।

एकोऽपि बिन्दुर्न रसस्य तादृश: क्वचिद्भवेद्यत्र गतस्य पाप्मन: ।
गतिर्विकाशानुगता न संभवेत् तत: सभूमैव विकाश इष्यते ।।२२।।

पदार्थ की भूमा—अणिमा वा महत्ता–अल्पता बल परिमाण के कारण होती है, रस के कारण नहीं, रस तो सर्वत्र व्यापक रहता है । कहा जा चुका है कि पदार्थ चाहे अणु से भी अणु हो, अथवा परम महान् हो उसमें रस विकास प्रति बिन्दु भाव से होता है—और वह नित्य रूप से होता है । व्यापक रस के जिस बिन्दु भाग को आत्मा रूप से पाप्मा अर्थात् बल वा मृत्यु अणु भाव में वा बृहद् भाव में सीमित करता है, रस वहां वैसे ही अणु—महान् भाव में विकास पाता है ।।१४।।

१. रस में अल्पता वा महत्ता रूप मात्रा क्रम नहीं होता–वह तो सर्वतोभाव से व्याप्त रहता है । पाप्मा नाम से कहे जाने वाले बल में मात्रा क्रम रहता है जितनी मात्रा में बल जहां पहुंच पाता है वहां उतना ही रस का विकास प्रतीत होता है यह तात्पर्य है । अग्रिम श्लोक में इसका ही विवरण है ।

ज्योति प्रदान करने वाले किसी बहुत छोटे से दीपक की ज्योति बहुत कम उदित होती, उससे छोटी जुगनू समान ज्योति अत्यल्प होती है—उससे विपरीत सूर्य का प्रकाश महान् से भी महान् विकास प्राप्त करता है । इस प्रकार बल का ही अणु—महान् भेद होता है । यह ही विकाश का लक्षण है ।।१५।।

अन्य से प्रकाश प्राप्त करके प्रकाशित होने वाले चन्द्रमा आदि पुरुष भावों में भी यह ही प्रक्रिया है कि वह पर—प्रकाश पुरुष भी अन्य स्थान से जितना अल्प वा महान् प्रकाश ग्रहण करता है, उस अल्पता वा महत्ता की परिधि के अनुसार छोटे प्रदेश में वा महान् प्रदेश में उसका विकास होता है, यह विकास भाव रस का होता है ॥१६॥

२. सांसारिक पदार्थ तीन भावों में विभक्त हैं—यह व्याख्या पहले की गई है। स्व प्रकाश—सूर्य आदि, पर प्रकाश—चन्द्रमा आदि, रूपमात्र प्रकाश—पार्थिव पदार्थ। चतुर्थ श्रेणि में वायु आदि हैं जो अज्योति (ज्योति विहीन) कहे जाते हैं। वैदिक परिभाषा में इन सबके लिये पुरुष शब्द का प्रयोग होता है—क्योंकि सब में ही पुर भाष रूप लोक सत्ता है। इन सब पुर भावों में अल्पत्ता-अणिमा, तथा महत्ता-भूमा भाव सर्वत्र समन्वित रहता है।

३. पदार्थ की अल्पता वा महत्ता,—अणिमा वा भूमा माया बल का कार्य है, उसमें चैतन्य विकास में रस कारण हैं। उसको केवल विकास पद से कहा गया है। अर्थात् सबका जीवन रूप विकास रस पर ही अवलम्बित है।

वे पुरुष भाव जो कि अज्योति-प्रकाश रहित कहे गये हैं उनमें भी सूर्य रश्मियों का स्पर्श होने पर रूप की उत्पत्ति होकर रूप का विकास होता है। ऐसे अज्योति पदार्थों के रूप विकास स्थल पर रस का स्वाभाविक अनुग्रह ही मृत्यु पर होता है। रस की व्यापकता के कारण अनुग्रह रूप कृपाभाव स्वभाव सिद्ध हो जाता है ॥१७॥

सूर्य आदि स्वतः प्रकाश पुरुषों की अथवा पर प्रकाश पुरुषों की तेजोमय किरणों का जहां अभाव रहता है—अर्थात् जहां रश्मियां नहीं पहुंचती वहां तम (अन्धकार-अज्ञान) का विकास होता है, वह तम भी इस ही प्रकार सब दिशाओं में व्याप्त होता हुआ प्रवृत्त होता है, इस तम के विकास में भी रस संसर्ग का अनुग्रह ही कारण माना जाता है। तम की प्रतीति में भी ज्योति की कारणता पूर्व कही जा चुकी है ॥१८॥

जलाशय में उठने वाली जल की तरङ्गों का विकास मण्डल रूप में होता है, वैसे ही शब्द तरङ्गों का विकास भी मण्डल क्रम से होता है। यह माण्डलिक आकार रस में संचरित होने वाले बल के नाभि केन्द्र से उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में भी रस का अनुग्रह ही माना जाता है ॥१९॥

४. जल में जब तरंग उत्पन्न होती हैं—वे मण्डलाकार होती हैं, इस ही प्रकार शब्द में भी मण्डलाकार तरङ्गें उठती हैं। यह माण्डलिक आकारभाव रस में विचरण करने वाले बल के नाभि केन्द्र से उत्पन्न होता है, ये भी एक मात्र रस का अनुग्रह माना जाता है।

वृक्ष गत बीज का विकास क्रमशः—बीज से अङ्कुर, फिर सन्धि भाग से दल विकास, तदनन्तर पुष्प, फिर फल इस क्रम से होता है, वैसे ही गर्भगत रेत (शुक्र) बिन्दु का सूक्ष्म भाव से बृहद् रूप में विकास होते हुए साढे तीन हाथ का शरीर बन जाता है। 'परिमाण संख्यान में यहां चोथा हाथ आधा कह कर, साढे तीन का संकेत है ॥२०॥

सर्वत्र जितने भी भूमा (बृहद्) भाव होते हैं, उन सबमें अणिमा रूप से बीज भाव रहता है, किन्तु किसी प्रयत्न से भी वह दृश्यमान नहीं होता, मायाबल के परिमाणानुसार वह बीज ही विकास योग से बृहद् भाव धारण करता है ।।२१।।

५. उपरोक्त बीज और शुक्र के उदाहरणों में महान् वृक्ष में अथवा जीव शरीर संस्था रूप पुरुष भाव में जो अणुभाव के बीज और शुक्र आदि हैं वे ही विकास प्राप्त करते हुए बृहद् भाव में आ जाते हैं—यह संपूर्ण बल का निर्माण होता है—किन्तु यह सब रस के अनुग्रह से ही हो पाता है, फलस्वरूप जितना बल का परिमाण होता है तदनुसार पदार्थ का विकास हो जाता है। यही विषय आगे भी स्पष्ट रूप से कहा जा रहा है।

सर्व व्यापी रस के जिस बिन्दु भाग का भी स्पर्श पाप्मा नाम से कहे जाने वाला बल करता है वहां उस बल की गति उस विकाश के अनुगत ही होती है, एक बिन्दु भी रस का वैसा नहीं होता—जहां बल की तदनुगता गति न होती हो—इस निदर्शना से विकाश रूप रस की व्यापकता स्वत: सिद्ध हो जाती है ।।२२।।

अथ[1] ब्रु वे देशविकाशकायं यज्ञाच्च वेदाच्च मतो द्विधायम् ।
अवेक्षते यज्ञमिहार्थसत्ता वेदानुरोधात्तु तदर्थं भातिः ।।२३।।
[2]संबध्यतेऽस्मिन्नमृते स मृत्युः खण्डोऽतिखण्डोऽतिमहान् महान् वा ।
दभ्रेप्यदभ्रेऽप्युरुविस्तृते वा स्थितोऽवकाशे न ततोऽन्यतः स्यात् ।।२४।।
[3]अनावृतोऽप्येष विदूरतावशान्न दृश्यतेऽथाणुपृथक्क्रमेण सः ।
दृष्टोऽणुतामेत्य पुनर्न दृश्यते यद् दृश्यते सोऽस्य विकाश इष्यते ।।२५।।
[4]संवध्यतेऽस्मिन्नमृते स मृत्युः खण्डोऽतिखण्डोतिमहान् महान् वा ।
खण्डेऽतिखण्डेऽतिचिरं चिरं वा स्थित्वा सकाले म्रियतेऽथ पश्चात् ।।२६।।
[5]नासीत् पुरस्तान्न पुनः परस्तान्मध्येऽपि मृत्युर्म्रियमाण आस्ते ।
तदस्ति नास्तीति विलक्षणत्वं मृत्युस्वभावोऽमृतगोऽमृतः सः ।।२७।।
नासीत् पुरस्तान्न पुनः परस्ताद् यावत्तु मध्येऽमृतगः स दृष्टः ।
प्रतिक्षणोच्छित्ति मतोऽपि सत्ता [6]सात्मन्विता सोऽस्य मतोविकाशः ।।२८।।

इति कालविकाशः

उपरोक्त प्रकरण से दिशा विभाग का परिचय दिया गया—अब देश विभाग रूप विकास क्रम बताते हैं। यह देश विकास रूप यज्ञ प्रक्रिया से और वेद प्रक्रिया से दो प्रकार का होता है। पदार्थ की जीवनसत्ता यज्ञ पर आधारित है और पदार्थ का भान वेद पर आधारित होता है। इस प्रकार अस्ति और भाति रूप देश विकाश द्विविध होता है ।।२३।।

१. अब देश विकाशकाय—अर्थात् विकास का रूप कहते हैं। यह विकास यज्ञ से और वेद से होता है यह योजना बताई है। अस्ति और भाति अर्थात् पदार्थ की सत्ता है यह एक स्थिति और पदार्थ भासित हो रहा है यह दूसरी प्रतीति ये दो विकास के स्वरूप हैं, इनमें अस्ति पद से कही

जाने वाली सत्ता यज्ञ सापेक्ष होती है, भूमिका में पहले ग्रहण और त्याग रूप से यज्ञ स्वरूप का विवरण किया गया है, उससे ही जीवन सत्ता सिद्ध होती है, वह ही सत्ता का स्वरूप समझना चाहिये। पदार्थ का भान तो वेदों के सहारे ही होता है। भूमिका प्रकरण में ऋक्, साम आदि वेद स्वरूप विवरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है, उन नैसर्गिक वेदों के द्वारा ही तत्तत् पदार्थों का भान होता है—यह वहीं देखना चाहिये। अस्ति—भाति का सुप्रसिद्ध भाति पद यद्यपि लिङन्त है तथापि ग्रन्थकर्ता ने 'भातिः' सुबन्त बनाकर उसका प्रयोग किया है—अर्थस्य भातिः अर्थभाति यह विग्रह किया है।

मूल अमृत तत्व एक रूपेण नित्य व्यापक है—उस अमृत में मृत्यु रूप बल लघु-खण्ड रूप में या अतिलघु खण्ड रूप में, महान् रूप में वा अतिमहान् रूप में रहता है। वह मृत्यु का आवरण छोटा हो, बड़ा हो, या अत्यन्त विस्तृत भी हो तो भी वह मृत्यु आवरण सावकाश स्थल पर ही होगा—निरवकाश में नहीं। "सीमीत आकाश को ही अवकाश कहा जाता है"। अर्थात् जो कोई साधना का सहारा लेते हुए अक्षर द्वारा अव्यय से सम्बद्ध हो जायगा— वह मृत्यु चक्र से बहिष्कृत हो जायगा—'न ततोऽन्यत:' से उसका ही संकेत किया गया है ।।२४।।

२. अमृत नाम से कहा जाने वाला रस तो व्यापक ही है। छोटा या बड़ा जो पदार्थ दिखाई देता है—उसका यह छोटा—बड़ा भाव मृत्यु नाम से कहे जाने वाले बल ने सम्पादित किया है—यह कार्य बल का ही है। मृत्यु जो बल रूप है—वह अमृत से खण्ड भाव में वा अतिखण्ड भाव में संपृक्त होता है—ये खण्ड और महान् भाव मृत्यु को ही विशेषित कर रहे हैं। अतः मानना होगा कि मृत्यु ही द्रभ्र—(अल्प स्थान में) अदभ्र—(महान्) स्थान में या कि अत्यन्त विस्तृत अवकाशावस्था में भी स्थिति पाता है। अवकाशावस्था से अन्यत्र मृत्यु की स्थिति नहीं है—इस कथन द्वारा बल का देशगत सीमा भाव वा परिच्छेद दिखा दिया गया।

अनावृत खुले स्थान पर रखा हुआ कोई पदार्थ देखते-देखते जब दूर होने लगता है तो प्रदेश की दूरी के कारण पहले वो बड़े से छोटा दिखाई देता है और अधिक दूरी पर अति लघु होता-होता फिर नहीं दिखाई देता, जितनी दूरी तक पदार्थ का भास होता है—वह भास ही इसका विकास है ॥२५॥

३. जब कोई पदार्थ दूर से देखने पर बड़े से छोटा होता हो तो और दूरी बढ जाने पर फिर नहीं दीख पड़ता जितनी दूरी तक वह दिखाई पड़ता है—उतनी दूरी तक उसका विकास होता है। साम के प्रकरण में इसकी विवेचना देखिये। अन्तिम साम पर्यन्त ही पदार्थ भास होता है।

बल या मृत्यु का काल परिच्छेद=अमृतमय रस में मृत्यु लघु खण्ड, अति लघु खण्ड रूप में अथवा महान् अति महान् रूप में जो सम्बन्ध प्राप्त करता है—वह काल के लघु अथवा अति लघु खण्डों की सीमा में अथवा चिर से भो चिरकाल की सीमा में स्थिति पाकर काल पूर्ण हो जाने पर स्वयं मृत हो जाता है ॥२६॥

४. रस से सम्बद्ध मृत्यु का जैसे देश परिच्छेद बताया गया—वैसे ही काल परिच्छेद भी होता है यह कह रहे हैं—काल के खण्ड जो दिन, मास आदि हैं उनमें, या अति खण्ड रूप घड़ी—तथा

क्षणों में, अथवा चिर से भी चिरकाल सैंकड़ों वर्षों तक के काल में जीवन पाकर भी फात्य परिपाकानन्तर मर जाता है--इस प्रकार काल का परिच्छेद भी सदा रहता है।

सृष्टि भाव से पूर्व मृत्यु सत्ता नहीं थी, न सृष्टि लीन भाव के अनन्तर मृत्यु सत्ता होती है, मध्य के ससार भाव में मृत्यु रहता है—वह भी मरणशील होकर रहता है। अतः मृत्यु का स्वभाव अस्ति-नास्ति इस विलक्षण रूप में माना जाता है—जब तक वह अमृत से सम्बद्ध रहता है—स्वयं भी अमृत रूप ही रहता है ॥२७॥

५. मृत्यु स्वयं मरण धर्मी-अर्थात् विनाश शील है--अतः मृत्यु का अस्ति, नास्ति स्वभाव कहा गया है। अमृत में स्थिति पाकर तो वह थोड़े काल तक अथवा लम्बे समय तक अमृत भाव से ही रहता है यह मृत्यु पर अमृत का अनुग्रह ही होता है। विभूति संसर्ग में वर्णित हो चुका है। आगे के पद्य में यह ही विवरण है।

मृत्यु रूप बल सत्ता पहले भी नहीं थी, लीनता के बाद भी नहीं रहती, मध्य काल में अमृत गत होता हुआ मृत्यु अमृत भाव में रहता है, यद्यपि उस बल का क्षरण स्वभाव वशात् प्रतिक्षण उच्छेद होता रहता है तथापि आत्मा की अनुगती के कारण उसकी सत्ता बनी रहती है— यह सत्ता भाव रूप भास ही उसका विकास माना जाता है ॥२८॥

६. मृत्यु को आत्मन्वी अर्थात् आत्मा का अनुगमन करने वाला कहा है। आत्मा स्वयं रसमय है—उससे सम्बन्ध पा जाने पर अर्थात् मृत्यु के आत्मन्वी हो जाने पर सत् रूप से उसका भास हो जाता है। यह यथा काल पर्यन्त भास ही उसका विकास समझना चाहिये। इस प्रकार यह काल विकाश कहा गया है।

[1]दिग्भ्यश्च देशेन च कालतश्च वा न चाऽमृतस्य व्यभिचार इष्यते।
तत्तद्विशेषार्थपरिग्रहात्त्वसौ मात्राविकाशः समुदीरितस्त्रिधा ॥२९॥

इति त्रिविधो मात्राविकाशः

दिशा, देश, अथवा काल के कारण अमृतमय रस में व्यभिचार-विकार-विभेद कभी नहीं माना जाता। मृत्यु का सम्बन्ध होने पर यह उन-उन विशेष पदार्थ रूपों में परिग्रहीत सा प्रतीत होता है। इस प्रकार यह मात्रा विकाश तीन प्रकार का बताया गया ॥२९॥

१. अमृत तो दिशा, देश, काल इस परिच्छेद से शून्य है। उसका मृत्यु के सम्बन्ध से तत्तत् पदार्थ अवस्थाओं में आकर दिशा, देश काल की परिधि में आकर भासित होने वाला यह विकास तीन प्रकार का कहा गया है, यह उपसंहार में पुनः स्मरण कर दिया गया। विकास और विकाश दोनों ही मान्य होते हैं।

॥ इति मात्रा विकासः ॥

(४६) संस्थाविकाशाधिकरणम्

विकासरूपं[2] यदिहास्ति सत्यं ज्योतिस्तदिष्टं त्रिविधं प्रसर्गे ।
माया दशा प्रत्ययभेदतः स्यादेकैकमेतत् त्रिविधं पुनश्च ।।३०।।
स नाम रूपं त्वथ कर्ममायाः प्रसादभावस्थितयो दशाः स्युः ।
जात्याकृतिर्व्यक्तिकृता प्रतीतिर्न वापि सत्याति विवेचयामः ।।३१।।
रसः स एकः स विशुद्ध आत्मा तद् ब्रह्म तस्मिन् बलमभ्युदेति ।
रसे[3] स्वरूपेण बलप्रवेशात् परः स आत्मापुरुषः स भूमा ।।३२।।
परे स्वरूपेण बलप्रवेशात् स्यादक्षरोऽन्यः पुरुषः स आत्मा ।
अथाक्षरेऽप्यन्यबलप्रवेशात् क्षरोऽन्यः आत्मा पुरुषोजगत्तत् ।।३३।।
क्षरे स्वरूपेण बलप्रवेशात् पुनः क्षरः स्याच्च पुनः क्षरः स्यात् ।
एकत्र तेषां पुनरन्वितानां बलैश्च संसर्गवशात् पशुः स्यात् ।।३४।।
तेषां[4] बलानां मुहुरन्वितानां कुतस्तदात्मन्ययमागमोऽभूत् ।
आत्मैव मन्येऽविरतं बलानि प्रोद्भावयत्याहरति स्वभावात् ।।३५।।

संस्था विकास को सत्य विकास नाम से कहा जाता है, यह सत्य रूप ज्योति माया, दशा तथा प्रत्यय भेद से त्रिविध हो जाता है, यह प्रसर्ग में अर्थात् नाना बल समन्वय में होता है, आगे वे माया, दशा, प्रत्यय भी प्रत्येक त्रिविध हो जाते हैं ।।३०।।

२. संस्था विकास विवरण—सत्य विकास संस्थाविकास का ही नामान्तर है । यह भी तीन प्रकार का है—मायाविकास, दशा विकास और प्रत्यय विकास । फिर ये तीनों भी प्रत्येक भाव से तीन तीन प्रकार के हैं । माया विकास के त्रिरूप हैं — नाम, रूप और कर्म । दशा विकास के रूप हैं—प्रसाद, भाव और स्थिति । जाति, आकृति तथा व्यक्ति ये तीनों प्रत्यय के विकास हैं ।

प्रत्येक का क्रमशः विवरण—नाम, रूप और कर्म रूप त्रिविध विकास माया विकाश हैं । प्रसाद (प्रसन्नता), भाव और स्थिति ये तीनों दशा विकास हैं । जाति (जन्म), आकृति और व्यक्ति ये तीनों प्रतीति के द्वार हैं—यह प्रत्यय विकास है । इस सत्य नाम के विकास के अतिरिक्त कुछ अन्य विवेचनीय नहीं है ।।३१।।

रस सदा एक रूप है, वह विशुद्ध है, आत्मा है, यह ही ब्रह्म है । इसमें बल का अभ्युदय होता है, इस अभ्युदय काल में बल स्वरूप सम्बन्ध से अर्थात् विकारोन्मुख न होते हुए स्वरूप स्थिति मात्र से संस्थित है—इस बल के सन्निधान मात्र से पर पुरुष वा अव्यय पुरुष भाव समुदित होता है जो विश्व का आत्मा है, यह प्रथम पुरुष भाव है किन्तु सर्वत्र व्यापक (भूमा) है ।।३२।।

३. बल को ही मायानाम से कहा जाता है, उसका कारण आगे कहा जायगा । बल के द्वारा संपादित पर, अक्षर, क्षर रूप पुरुष संस्था माया विकास है । इनमें नाम, रूप, तथा कर्म का परिवर्तन होता रहता है । प्रथम संस्था में बल का स्वरूप संसर्ग होता है । तीसरे क्षर पुरुष में जब अन्य

बलों का प्रवेश होता है तब भी क्षर रूप विकास ही होता है—उसमें नाम रूप परिवर्तन नहीं होता। यह स्मरण रहे कि ये तीनों पुरुष सदा समन्वित ही रहते हैं। इनमें जब संसर्ग नामक सम्बन्ध से बल का प्रवेश होता है—तब इन पुरुषों की भोग योग्य पशुभाव संस्था बन जाती है – जो क्षर के अनन्तर पशु पुरुष भाव पूर्ण कहा जा चुका है। आगे के तीन श्लोकों में इसका ही स्पष्टीकरण है।

इस पर पुरुष वा अव्यय पुरुष में भी वल स्वरूप सम्बन्ध से ही प्रवृत्त होता है—उससे अन्य अक्षर पुरुष उदित होता है—यह ही आत्मा होता है। इस अक्षर में भी जब अन्य बलों का प्रवेश होता है—तब क्षर रूप अन्य आत्मा समुदित होता है, यह क्षर पुरुष है-यह ही जगत् रूप है ॥३३॥

क्षर पुरुष में भी यदि स्वरूप सम्बन्ध से ही बल सन्निवेश होता है तो क्षर पुरुप का ही समुद्भव पुनः-पुनः होता है, यदि वहां अनेक बलों का एकत्रीकरण होकर संसर्ग होता है तो उन नाना बलों के कारण क्षर पुरुष पशुभावापन्न हो जाता है ।।३४।।

उन बलों का जो परस्पर संमिश्रित हो जाते हैं, इनका आत्मा में प्रवेश कहां से हो गया, यह स्पष्ट ज्ञात नहीं हो पाता, केवल अनुमान किया जा सकता है कि आत्मा ही अनवरत बलों का उद्भव करता रहता है फिर उनका संहरण भी स्वभावतः ही कर लेता है ।।३५।।

४. बलों को माया नाम से क्यों कहा जाता है—इसका प्रतिपादन यहां किया गया है। जिसकी उत्पत्ति का कारण न जाना जा सके, किसी प्रकार का निश्चय ज्ञान जिसका न हो सके लोक व्यवहार में उसको ही माया कहते है। इन बलों की उत्पत्ति का भी कोई निर्णायक समाधान नहीं है—अतः बलों को माया कहा जाता हैं। पहले जो 'मिति करणं—माया' अर्थात् सीमा भाव करने को माया कहते हैं यह माया पद का अर्थ कहा गया था—वह भी स्मरणीय है। उद्भव माया का नहीं ज्ञात हो पाता किन्तु रस का गिति करण माया से ही होता है यह तो सर्वशास्त्र निश्चय है।

[१]रसे विशुद्धे तु बलं विशुद्धं प्रोद्भूय तस्मिन् मुहुरन्वितं सत्।
विलीयते नित्यमुदेति चास्मिन् न हीयते तेन परो बलेन ।।३६।।

[२]अथोदियात्तत्र परे बलं यत् तदन्यजातीय बलं निरुक्तम्।
आत्मैव तस्य प्रभवः प्रतिष्ठा काले पुनस्तत्र विलीयते तत् ।।३७।।

तथाऽक्षरे वाथ तथा क्षरे वा तथा पशौ वा यदयं बलस्य।
स्व स्वात्मनः स्यादुदयः स तस्मान्मतो रसादेव स तद्विकाशः ।।३८।।

रसेऽवतारेऽथ बलेऽवतारे भूयोऽपि भूयोऽपि बलोदयेन।
रूपाणि कर्माणि तथैव तेषां नामानि भिन्नानि पृथग् भवन्ति ।।३९।।

ज्योतिर्निबद्धं बलमस्ति रूपं प्राणेन संबद्धबलं तु कर्म।
[३]स्यान्नाम संबद्धबलं तु वाचा माया बलानि त्रिविधानि तानि ।।४०।।

[४]अदृष्टपूर्वाण्युदयं लभन्ते तत्रैव भूयो बिलयं प्रयान्ति ।
असन्ति तस्मादनृतानि तानि भवन्ति सत्यानि सति स्थितत्वात् ॥४१॥

यतो[४]बलानामुदयेऽपि भूयो भूयोऽपि नात्मा स रसः क्षिणोति ।
न ज्ञायते तानि कथं बभूवुर्मायाविकासं तत एतमाहुः ॥४२॥

[१]अथो वदन्तीह निधिः परोऽयं तस्मादुपादाय रसान् बलानि ।
स शक्तिरात्मास्ति परोऽक्षरो वा क्षरोऽथ शक्त्यत्र भवेद्विकारः ॥४३॥

[१]अथापि यत्तत्र बलप्रसर्गे रूपं कुतश्चित्समुदेत्यपूर्वम् ।
क्व चापि तत्प्रैति न तद्विदुर्यन्मायाविकाशं तत एतमाहुः ॥४४॥

इति मायाविकाशः

विशुद्ध रस जो परात् पर निष्कल अखण्ड है, उसमें बल भी विशुद्ध है अर्थात् विकाराभिमुख नहीं अपि शान्त स्थित है, यह बल रस में से ही समुदित होता है—उसमें समन्वित—अर्थात् घुलमिल जाता है—ऐसी अवस्था में यथा काल स्थित रह कर, वहीं विलीन हो जाता है । यह उदय-विलय क्रम सतत चलता रहता है । परात् पर में होने वाली बल की इस प्रक्रिया से उस अदृष्ट गूढ पोषक तत्व का उदय होता है जिसे आगे का पर पुरुष बल रूपेण धारण करता है—और इस संप्राप्त बल के कारण वह अव्यय पुरुष कभी क्षीण नहीं होता, रिक्त नहीं होता ॥३६॥

१. बल क्षणिक और संख्याविभाग से अनन्त बन जाता है—इस स्वभाव वाला है—यह विषय पहले कहा गया है—उसका ही स्मरण कराया जा रहा है, एक एक बल क्षण क्षण में नष्ट होता है किन्तु तत्काल अन्य बल वहां प्रादुर्भूत हो जाता है—इस प्रक्रिया से बल से विहीन रस कभी नहीं हो पाता । इस शुद्ध रस—बल से ही अव्यय नाम के पर पुरुष का अवतरण होता है । परात् पर से पर यह अर्थ है ।

पर पुरुष या अव्यय पुरुष बल विशिष्ट हो चुका है, इसमें जब अन्य बल का उदय होता है निर्वचनानुसार वह भिन्न जाति का बल होता है इसका उदय भी मूल आत्मा परात्पर से ही होता है—वह ही सारे बलों का प्रतिष्ठा स्थान है, आगे यथा काल में वह बल फिर उस ही मूल रस में विलीन हो जाता है । यह क्रम सतत चलता है । यहां उदित अक्षर हुआ है ॥३७॥

२. अव्यय संज्ञक बल विशिष्ट रस में अन्य बल का उदय होता है—जिससे अक्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है । अव्यय पुरुष में पुनः उत्पन्न होने वाले इस बल का प्रभव—स्थान अथवा प्रतिष्ठास्थान शुद्ध रस—मूल आत्मा ही है । आगे की सृष्टि में भी सर्वत्र यह ही प्रक्रिया रहती है, आत्मा पद से सर्वत्र रस का ही उल्लेख होता है । रस में स्थिति पाकर बल भी धारावाहिक होता हुआ अन्य बलों की आधारता प्राप्त कर लेता है—उससे भी अन्य रूप उदित होता है यह अग्रिम श्लोक में बताते हैं ।

इस प्रक्रिया के अनुसार अक्षर पुरुष में तथा क्षर पुरुष में तथा पशु रूप पुरुष में भी ये जो बल का विकास होता है—उसका उदय अपने-अपने आत्मा से होता है और आत्मा शब्द से रस ही कहा गया है—अतः उस सारी विकास अवस्थाओं में मूल कारण रस ही है। रस से ही वह विकास हो पाता है। विकास का भूमा अणिमा भाव पूर्व वर्णित हो गया है। उसमें ही सारी बल संस्था समाविष्ट हो रही हैं। अतः विकास रस के अधीन है ॥३८॥

उक्त प्रक्रियानुसार बल विशेपित होने से रस का अवतरण हो रहा है और बल का अवतरण भी हो रहा है और आगे धारावाही रूप में नवीन नवीन बलों का उदय भी हो रहा है—इनसे ही इनके रूप में, कर्म में, तथा नामों में पृथक् पृथक् भेद हो जाता है—भेद भाव में सर्वत्र बल ही हेतु है ॥३९॥

नाम, रूप, कर्म का विवरण प्रकार यह है कि ज्योति सम्बद्ध बल रूप भाव से विकसित होता है, प्राण सम्बद्ध बल कर्मरूप में और वाक् सम्बद्ध बल नाम करण रूप से विकसित होता है। ये तीनों प्रकार के बल, माया बल हैं ॥४०॥

३. वस्तु मात्र का कुछ न कुछ नाम अवश्य होता है—क्षर में वाक् की प्रधानता होती है अतः वाणी से सम्बद्ध बल नामात्मक होता है यह योजना बताई है।

बल की सत्ता नित्य नहीं है—सर्ग के आरम्भ से पूर्व बल नहीं रहता, बलों का उदय रस में पश्चात् होता है और फिर उसमें ही विलय भी हो जाता है। नित्य न होने के कारण बलों को अमृत वा असत् कहा जाता है, नित्य सत् रूप रस में स्थिति पा जाने पर बलों को सत्य भी कहा जाता है अर्थात् रस सम्बद्ध बल सत्य माना जाता है ॥४१॥

४. बल स्वभावतः मिथ्या तथा अप्रतिष्ठित होते हुए भी अमृत में प्रतिष्ठा पा जाने से अमृत रूप ही हो जाते हैं, और सत् में रहने से सत्य भी माने जाते हैं।

रस में से बार बार निरन्तर अनन्त बलों का उदय होता रहता है फिर भी आत्मा रूप रस कभी क्षीण नहीं होता, ये भी ज्ञात नहीं हो पाता कि इन बलों का उद्‌भव कैसे हुआ है, इस अज्ञात भाव के कारण हो इसे माया विकास कहा गया है ॥४२॥

५. लोक में सर्वत्र यह देखा जाता है कि समवायीकारण कार्य को उत्पन्न करके स्वयं स्वरूपतः क्षीण होता है, बीज अङ्कुर भाव आदि में यह स्पष्ट देखा जाता है। यहां इससे विपरीत प्रक्रिया है, रस अनन्त बलों को उत्पन्न करने पर भी क्षीण नहीं होता। इस विलक्षणता के कारण ही बलों को माया नाम से कहा जाता है।

कहीं सिद्धान्त यह माना जाता है कि अव्यय ही सबका खजाना रूप प्रधान पुरुष है, सारे बल वहां से ही रस ग्रहण करते हैं। अक्षर और क्षर इस विचार परम्परा में शक्ति रूप माने जाते हैं—इनका आत्मा पर पुरुष है। क्षर शक्ति रूप है—इसमें विकार होता है ॥४३॥

६. भगवद् गीता आदि में पर अर्थात् अव्यय की ही पुरुषता मानी गई है। वहां अक्षर और क्षर भी निधि भूत अव्यय से ही रस लाभ करते हैं। अक्षर और क्षर स्वयं शक्ति भाव में रहते हुए विकार के हेतु माने जाते हैं।

बल के प्रयोग में उक्त विवेचना के अनन्तर भी यह कथमपि ज्ञात नहीं होता कि बल सृष्टि क्रम में यह अपूर्व 'रूप' कहां से उदित हो जाता है और कालानन्तर कहां चला जाता है। इस सर्वथा अज्ञात स्थिति के कारण ही इसको माया विकाश कहा है ॥४४॥

१. इस प्रकार बल का उद्भव कथंचित् प्रतिपादित हुआ, किन्तु बल के प्रयोग में जो एक अपूर्व रूप उदित होता है और विलीन भी हो जाता है, इसका उद्भव कहां से होता है यह ज्ञात नहीं हो पाता—इस कारण माया विकास ही मानना चाहिये।

इति माया विकास।

[२]संसृज्यते चेदमृते स मृत्युः सर्गः स भावोदयनोऽन्य मार्गः।
विमुच्यते चेदमृतास्स मृत्युर्मोक्षः प्रसादोदयनोऽन्य मार्गः ॥४५॥
अनारतोत्पत्तिविनाशधर्मा निर्धर्मकेस्मिन्नमृते स मृत्युः।
अज्ञातमूलः[३] प्रभवत्यकस्मादुद्भूय चोद्भूय विनाशमेति ॥४६॥
[४]ओं तत्र कृत्वा यदि कर्म संचरेद् ओं तत्र कृत्वैव निवर्ततेऽन्ततः।
उद्गीथमेतस्य तु सत्त्वचेतनं प्रवर्तते चक्रमिदं निरन्तरम् ॥४७॥
[५]उद्भूय चाकर्मणि कर्म सृज्यते न तत्क्षणादेव निवर्तते पुनः।
विवर्तते तत् क्रमतो घनीभवत् पुनर्विसर्गाद्ध्रसदेव नश्यति ॥४८॥
[६]ओंकारतो ग्रन्थिषु वर्धनं क्रमादुद्गीथपर्यन्तमिहोत्तरोत्तरम्।
ग्रन्थौ पुनर्ग्रन्थिपरम्परावशादणोः क्रमात् स्थूलतरत्वसम्भवः ॥४९॥
[७]अथो विसर्गात् प्रति संचरे भवेदुद्गीथतो ग्रन्थिनिवर्तनं पुनः।
उद्ग्रन्थितो ग्रन्थिविमोकतोऽन्ततो नैष्कर्म्यमायात्यमृतं प्रसीदति ॥५०॥

विकास विवरण में प्रसाद और भाव दशा रूप बताये थे उनका स्पष्टीकरण कर रहे हैं—अमृत में मृत्यु भाव जब संश्लिष्ट हो जाता है तब सृष्टि क्रम चलता है, पारिभाषिक रूप से यह "भावोदयन मार्ग कहा जाता है। "भाव–सत्ता–उसका उदय करने वाला मार्ग"। इससे विपरीत यदि अमृत से मृत्यु भाव सर्वथा विलग हो जाता है तो मोक्ष हो जाता है यह दूसरा मार्ग पारिभाषिक रूप में "प्रसाद उदयन मार्ग" कहा जाता है। "मृत्यु भाव के विलग हो जाने पर केवल आनन्द रूप रस ही रहता है—आनन्द को ही प्रसाद वा प्रसन्नता कहते हैं" ॥४५॥

२. भाव और प्रसाद का विवरण—अमृत में मृत्यु का संसर्ग ही भावोदय है (भाव–इच्छा)। मृत्यु का अमृत से पृथक् हो जाना ही अमृत का प्रसाद है।

बल अनवरत उत्पत्ति और अनवरत विनाश धर्म वाला है, यह बल जिस रस में उदित होता है—वह रस सर्वथा निधर्मक है—ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है। इस निधर्मक एक

मेव अद्वितीय में न जाने कहाँ से यह बल उदित हो जाता है और उदित होकर यथा काल विलीन हो जाता है ॥४६॥

३. बल के लिये यहां अज्ञात मूलः कहा है, नहीं जाना जाता मूल जिसका यह अर्थ है—बल भी वैसा ही है जिसके मूल का पता नहीं लगता।

कर्म रूप बल की रस में प्रवृत्ति ॐकार रूप परा वाक् स्वरूप से होती है, यह ॐकार करण पूर्वक कर्म का संचरण सर्जन का आरम्भक होता है, फिर यथा काल स्थिति के अनन्तर ॐकार करण के साथ ही वहां कर्म का विलय हो जाता है, कर्म का उद्गीथ–उद्गम सत्वविशिष्ट चेतन रूप में होता है—वहां से निरन्तर रस प्राप्ति होती रहती है—यह चक्र अनवरत चलता रहता है ॥४७॥

४. छान्दोग्य उपनिषत् में उद्गीथ से ही सृष्टि विधान का उल्लेख है। उद्गीथ, प्रणव, ॐकार, शब्द पर्याय हैं। किसी भी कार्य के आरम्भ का उपक्रम ॐकार से होता है—यह प्राकृतिक नियम है—यह तात्पर्य है" इस प्रक्रिया के अनुसार उस नित्य सिद्ध रस में बल की प्रवृत्ति रस का सहारा लेते हुए कर्म समारम्भ रूप उपक्रम में ॐकार करण पूर्वक होती है, और अन्त में ॐकार करण सहित ही उस रस में विलीनीकरण बल रूप कर्म का हो जाता है। इस बल का उद्गीथ अर्थात् उदय सत्व चेतन रूप होता है। यह प्रवृत्ति निवृत्ति क्रम सदा चलता रहता है।

अकर्म रूप रस में बल रूप कर्म स्वभावतः उद्भव पाकर तत्काल नष्ट नहीं होता, अन्यान्य बलों के साहचर्य से क्रमशः स्व स्वरूप में घन भाव में आ जाता है, कालान्तर में पुनः उसमें विसर्ग क्रम बढ़ जाने से क्रमशः ह्रास होते होते अन्त में नष्ट हो जाता है ॥४८॥

५. जिस अवस्था में बल उत्पत्ति कालानन्तर तत्काल नष्ट नहीं होता अर्थात् अमृत से संश्लिष्ट होकर धारावाहिक बन जाता है, वहां अन्य बलों के संसर्ग से क्रमशः वह घनभाव में आ जाता है, पुनश्च अन्यान्य विपरीत बलों के संयोग होने पर स्वाभाविक रूप से क्रमशः ह्रसित होता हुआ नष्ट होता है। इस प्रकार कुछ काल तक बल वा कर्म की सत्ता बनी रहती है। अनेक बलों के घनीभाव से विलक्षण रूपान्तर की प्रतीति होने लगती है। स्वरूप वही रहता है फिर भी रूपान्तरता सी प्रतीत होने लगती है—इसको ही विवर्त भाव कहते हैं—स्वरूप च्युति न होते हुए रूपान्तर की प्रतीति होने को ही विवर्त कहा गया है।

ॐकार करण का गहन रहस्य प्रकट करते हैं कि—ॐ का आकार स्वयं में ग्रन्थि आकार युक्त है—अतः ग्रन्थि करण इसका स्वभाव है, बलों के धारावाही हो जाने पर ॐकार रूप उपक्रम द्वारा बलों में ग्रन्थि पड़ते हुए क्रमशः बढ़ती चली जाती है, यह वृद्धि क्रम उद्गीथ पर्यन्त उत्तरोत्तर बढ़ता है। "गायन रूप में ॐकार का वितनन रूप ध्वनि प्रधान रूप उद्गीथ कहा जाता है"। इस प्रक्रिया द्वारा ग्रन्थि में फिर ग्रन्थि यह परम्परा चल पड़ने से अणु भाव क्रमशः स्थूल से स्थूल होता चला जाता है ॥४९॥

६ ॐ को उपक्रम अर्थात् आरम्भ कहा गया है। उपक्रम से ही क्रमशः दूसरे-दूसरे बलों का बलों से सम्बन्ध होने पर बलों में ग्रन्थि पड़ती है। जैसे गायन में आलाप रूप में स्वर का वितान करने पर वर्णों की ध्वनि रूप स्थूलता ही प्रतीत होती है, वैसे ही उच्च स्वर से गीयमान ॐकार या

प्रणव को उद्गीथ कहते हैं—इस उद्गीथ की सीमा पर्यन्त ग्रन्थि परम्परा चलती है। इस ही तरह बलों की ग्रन्थि परम्परा से ग्रणु की स्थूलता होती है।

ॐकार अपने आप में वैचित्र्य से भरा हुआ है—जहां यह बलों में ग्रन्थिकरण और ग्रन्थि वर्धन करता है, वैसे ही प्रति संचर भाव में—अर्थात् विलय प्रक्रिया में विसर्ग भाव की वृद्धि हो जाती है, ग्रहण भाव रुक जाता है—उस विसर्ग के कारण—उद्गीथ भाव से लौटते हुए शुद्ध प्रणव श्रुति पर आने तक यह ॐकार करण ही उन ग्रन्थियों को खोलने वाला बन जाता है—जिस क्रम से बन्धन उसके उलटे क्रम में मोचन। इस प्रति संचर क्रम में बार-बार उद्गीथ से प्रणव पर्यन्त की प्रक्रिया से गांठ पर गांठ खुलती जाती हैं, अन्ततः कर्मक्षेत्र से छुटकारा होकर नैष्कर्म्य हो जाता है, फलतः अमृत का प्रसाद हो जाता है। अर्थात् प्राकृतिक कर्म भाव की निवृत्ति ॐकार के प्रति संचर द्वारा हो जाने पर आनन्दमय अमृत प्रसन्नता से खिल पड़ता है—आवरण हट जाने के कारण। यह ही प्रसादोदयन है। 'स्पष्ट हुआ कि भावोदयन और प्रसादोदयन दोनों में ॐकार की प्रधानता रहती है" ॥५०॥

७. निसर्ग परम्परा आरम्भ हो जाने पर क्रमशः ग्रन्थियां खुलजाने पर पुनः स्थूल उद्गीथ से प्रणव पर्यन्त आने तक सूक्ष्मता होती चली जाती है। इस प्रकार के इस ग्रन्थि विमोक को ही अमृत का प्रसाद कहा जाता है।

[1]क्रमात् पुरस्त्वावरणं हि भुक्तये ततस्तदुच्छेदविधानभुक्तये।
क्रमो द्विधाप्यत्र रसे प्रवर्तते तत्सर्गमोक्षाख्य विकाशनद्वयम् ॥५१॥
पूर्वं विसर्गः परतो विमोक्षः पुर्नविसर्गः पुनरेव मोक्षः।
अनादि चानन्तमिदं हि चक्रं व्याख्यातमन्तर्यदि नान्तरायः ॥५२॥
नैसर्गिकं सर्गविमोक्षचक्रं चक्रेऽणुचक्रं पुनरत्र चक्रम्।
[2]अथेच्छतस्तु प्रतिमार्गमस्य व्यतिक्रमः संभवति क्रमस्य ॥५३॥
[3]यावन्निवर्तेत न कर्मपादपोऽश्वत्थाभिधो नित्यनवप्ररोहणः।
तावन्मनुष्यो न कदापि मुच्यते निर्मूल तच्छेदनतोऽमृतोदयः ॥५४॥

इति भावविकाशप्रसादविकाशौ

क्रमशः पुरों का आवरण भोग के लिए होता है अर्थात् सृष्टिक्रम को बढाने के लिये होता है। फिर पुरों के आवरण का परिच्छेद विधान मुक्ति के लिए होता है। ये दोनों प्रकार के क्रम रस में ही प्रवृत होते हैं—इस प्रकार सर्ग और मोक्ष दोनों प्रकार के विकास रस के होते हैं ॥५१॥

१. प्रथम क्रम से ग्रन्थि परम्पराओं से संसार रूप विकास होता है। ग्रन्थियों की विमोक (खोलना) परम्परा से मुक्ति रूप विकास होता है। ये दोनों क्रम रस में ही होते हैं अतः दोनों विकास रस के ही हैं।

प्रथम विसर्ग (सृष्टि), अन्त में मोक्ष, पुनः विसर्ग पुनः मोक्ष यह चक्र अनादि अनन्त चलता है यह ही वेद बताते हैं। तब तक चलता है जब तक कोई अन्तराय (रुकावट—अवरोध) नहीं आ जाता ॥५२॥

अन्तराय का स्पष्टीकरण—सर्ग और मोक्ष चक्र प्राकृतिक है, इस चक्र क्रम में सूक्ष्म से सूक्ष्म चक्र परम्परा चलती है, तथापि इस चक्र क्रम से उपरति हो जाने पर यदि मुक्ति की इच्छा जाग पड़ती है—तब प्रकृति के इस चालू क्रम में व्यतिक्रम (फेरबदल) हो जाता है—अर्थात् ग्रन्थि बन्धन की जगह ग्रन्थि विमोक क्रम आरम्भ हो जाता है। "उपरति पूर्वक मोक्ष इच्छा का जागरण ही नैसर्गिक चालू क्रम का अन्तराय कहा जायगा" ।।५३।।

२. जब मनुष्य मोक्ष की इच्छा करता है—तब मोक्षानुकूल प्रयत्न का अभ्यास करने से उस चक्र में विपर्यय (बदलाव) हो जाता है।

मृत्यु चक्र से सर्वथा मुक्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक कर्म रूपी अश्वत्थ नाम का पेड़—वृक्ष जिसमें नित्य नवीन-नवीन उद्गम होता रहता है—यह सर्वथा विलुप्त न हो जाय, अश्वत्थ की स्थिति पर्यन्त मानव कदापि मुक्त नहीं हो सकता, यदि अश्वत्थ को सर्वथा निर्मूल कर दिया जाय—अर्थात् बल, कर्म, माया आदि नामों से कहे जाने वाले तत्व से स्वयं को पृथक् कर लिया जाय तो शुद्ध अमृत उदित हो जाता है ।।५४।।

३. यह कर्माश्वत्थ गीता में "ऊर्ध्वमूलमधः शाखः" आदि रूप से वर्णित हुआ है। इस कर्माश्वत्थ को जड़ सहित उखाड़ फैंकना ही पुरुषार्थ है।

भाव विकास तथा प्रसाद विकास परिचय सम्पूर्ण।

[४]ओंकारतस्त्वेष यथा विवर्तः क्रमेण जातः स इहोच्यतेऽतः ।
तस्योत्क्रमादेव पुनर्विवर्तः परो भवेत् स स्वयमूहनीयः ।।५५।।

संबध्यते चेदमृते स मृत्युस्ततोऽक्षरं स्यात् त्रिविधं[५] क्रमेण ।
ततः क्षराणि प्रभवन्ति नाना विधानि भोग्यानि[६] सभोक्तृकाणि ।।५६।।

यदा[७]ऽमृते मृत्युविशेषबन्धो हृद्ग्रन्थियुक्तः क्रमते निसर्गात् ।
तदाक्षरादेव सतो भवन्ति ज्ञा प्राणभूतानि पुनः क्षराणि ।।५७।।

यदा तु कर्म क्रमते प्रकर्षात् प्रज्ञा तदा प्राणतयोदिता स्यात् ।
ग्रन्थौ पुनर्ग्रन्थिपरम्परायां प्राणोऽपि भूतत्वमुपैति पश्चात् ।।५८।।

आसीद्यदव्यक्तमतीव सौक्ष्म्याद् व्यक्तं पुनः स्थूलतरं भवेत्तत् ।
क्रमेण संबन्धविलक्षणत्वात् तत्तारतम्याच्च विसर्गभेदः ।।५९।।

गत परिच्छेद में ॐकार का परिचय दिया गया—अब ॐकार में जगत् रूप विवर्त भाव जिस क्रम से उद्भूत होता है—वह क्रम यहां से वर्णित होता है—आगे बल प्रवाह में जो उसका उत्क्रमण होकर पुनः दूसरे स्थूल विवर्त बनते हैं उनका विचार स्वयं कर लेना चाहिये ।।५५।।

४. बल के प्रयोग से प्रथम विवर्त से पुनः विवर्त उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार स्थूल स्थूलतर जगत् का उद्भव होता रहता है—यह विचारणा स्वयं कर लेनी समुचित है। यह भाव है।

जब अमृत में मृत्यु सम्बद्ध होता है, तब अक्षर पुरुष त्रिविध हो जाता है, अर्थात् ॐकार निवर्त में अक्षर की पांच कलाओं में से तीन कला कार्याभिमुख होती हैं—उनसे नाना प्रकार के क्षर रूप भोक्ता और भोग्य भाव उदित होते हैं—ये भोक्ता भोग्य सदा साथ होते हैं ।।५६।।

५. यद्यपि अक्षर की पांच कला पहले बताई गई हैं, तथापि यहां हृदय सम्बन्धित हृद्य कला ही ली गई हैं जिनको नभ्य भी कहा गया, पृष्ठ्य दो कला इस प्रकरण में अपेक्षित नहीं हैं। यहां ॐकार के कारण है—उसमें अ-उ-म् ये तीन ही अक्षर हैं, ये तीनों अक्षर की कलाओं के प्रतिनिधि हैं।

६. क्षर पुरुष में भोक्ता और भोग्य भाव रहता है—यह कहा जा चुका है।

जब अमृत में ग्रन्थि परम्पराओं से मृत्यु का विशेष बन्धन हो जाता है तब तब हृदय (केन्द्र स्थान) ग्रन्थियों से संयुक्त होकर स्वाभाविक संक्रमण करता है तब क्षर पुरुष, प्रज्ञा—प्राण और भूत रूप तीन क्षर अवस्थाओं में बदल जाता है ।।५७।।

७. क्षर पुरुष में ग्रन्थियों के कारण त्रिरूपता आजाती है, वे तीन रूप—प्रज्ञा—प्राण और भूत हैं। ये इनकी संज्ञा हैं। ये सब क्षर के ही भेद हैं, अर्थात् क्षर के ही रूप हैं। बल की प्रकर्षता होने से आकृति को यही रूपान्तर देते हैं। आगे के श्लोकों में स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

जब कर्म की धारावाहिकता में तीव्रता आ जाती है—तब प्रज्ञा प्राण रूप से उदित होती है, पुनः जब ग्रन्थियों में अन्य ग्रन्थि परम्परा चलती है तब प्राण भी पश्चात् भाव में स्थूल भूत अवस्था में आ जाता है ।।५८।।

इस प्रकार जो सृष्टि की आदि अवस्था में अमृत—ब्रह्म अति सूक्ष्म होने के कारण सर्वथा अव्यक्त (अदृश्य) अवस्था में था वह ही पुनः स्थूल से स्थूलतर हो जाता है। इस स्थूलता के क्रम में जो अणिमा—महिमा भावों का भेद पड़ता है—वह बल सम्बन्धों की विलक्षणता के कारण और दिग्-देश, काल के तारतम्य के कारण, विसर्ग भाव में भेद हो जाता है ।।५९।।

प्रज्ञैव तत्सत्यमभूदिहादौ सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं तदासीत्।
क्रमेण तु स्थूलतरत्वयोगादन्ते पुनः सा पृथिवीत्वमेति ।।६०।।

'भूरम्भसा तत्किल तेजसा तद्वातेन वाचैष तु सा बलेन।
तत्प्रज्ञया चावृतमेतदेवं सप्ताङ्गमेकैकमिदं प्रतीयात् ।।६१।।

एवं विसर्गक्रमसंचरोऽयं पृथ्वीपरा तत्र गतिर्निरुक्ता।
महानयं कर्मजयोऽवधेयो यद् ब्रह्म पृथ्वीत्वमुपेत्य शेते ।।६२।।

संभाव्यतेऽतः प्रतिसंचरेऽपि प्रज्ञात्वमायास्यति सैव पृथ्वी।
क्रमेण तद्ग्रन्थिविमोकयोगादन्ते पुनर्ब्रह्मजयो ध्रुवं स्यात् ।।६३।।

भावोदयो नाम य एष संचरो मतो विकाशः किल तत्र कर्मणः।
उपक्रमात् तत्क्रमतो महानसावभूद्विकाशः स पुनर्भविष्यति ।।६४।।

मुमुक्षु तत्कर्मविशेषतः पुनर्ग्रन्थिप्रमोके प्रतिसंचरो भवेत् ।
भूतात्मनो भौतिककर्मणः क्षये क्रमात्स नैष्कर्म्यगतः प्रसीदति ॥६५॥

[2]भूरम्बुतेजस्तदिदं तु वायुः स वाक् च सा प्राणतया मनः सः ।
मनो रसः स्यादिति कर्मनाशादयं प्रसादस्य मतो विकाशः ॥६६॥

[3]अहं त्वहः स्यां क्रमशस्तदों स्यादिति क्रमेणैष शरीरनिष्ठः ।
गत्वापरे तेजसि संप्रसादोऽमृतोऽभयः स्यात्समतो विकाशः ॥६७॥

इति भावप्रसादक्रमोदाहरणम्

सबसे आदि अवस्था में प्रज्ञा ही सत्यभाव में रहती है—उस अवस्था में वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर होती है—क्रम—क्रमशः स्थूल से स्थूलतर होती हुई वह प्रज्ञा ही पृथ्वी रूप में आ जाती है ॥६०॥

पृथ्वी जल से आवृत है, जल तेज से, तेज वायु से, वायु वाक् से अर्थात् शब्द से, वाक् बल से और बल प्रज्ञा से आवृत है, इस प्रकार सातों ये मिलकर एक अङ्ग रूप बनते हैं, एक-एक शरीर में यह व्यवस्था जाननी चाहिये ।।६१।।

१. कार्य भाव सदा कारण से घिरा रहता है—कारण के सहारे ही कार्य की स्थिति रहती है। और कारण कार्य को उत्पन्न करने के अनन्तर भी निज स्वरूप से भी रहता है। वह कारण का रूप कार्य को सब ओर से घेर कर रहता है। इस रीति से पृथ्वी जल से, जल तेज से, तेज वायु से, वायु वाक् से अर्थात् शब्द घन आकाश से, आकाश बल से—अर्थात् प्राण से, और प्राण प्रज्ञा से आवृत रहता है। ये सात आवरण पुराण आदि में प्रसिद्ध हैं। यह कर्म की विजय है—अर्थात् इस प्रक्रिया में कर्म की प्रधानता रहती है। इससे आगे प्रति संचर भाव अर्थात् मोक्षमार्ग कहा गया है।

इस प्रकार विसर्ग क्रम में अर्थात् सर्जन वृद्धि क्रम में यह संचरण होता है—इस की अन्तिम गति पृथ्वी भाव पर्यन्त होती है—यह निर्वचन है। इसको कर्म की महान् विजय मानना चाहिये कि साक्षात् ब्रह्म पृथ्वी रूप पाकर सो रहा है ।।६२।।

उपर्युक्त रीति के अनुसार यह भी सम्भावना की जा सकती है कि प्रति संचर क्रम में ये ही पृथ्वी प्रज्ञा रूप में आ जायगी, क्रमशः उन ग्रन्थियों से मुक्त होते होते अन्त में निश्चित रूप से ब्रह्म की विजय अवश्य होगी ।।६३।।

भावोदय नाम का जो यह संचर है—यह कर्म का विकाश माना गया है, यह ॐकार रूप उपक्रम से आरम्भ होकर क्रमशः महान् विकास में आ जाता है—अन्त में जाकर भी यह आ जावेगा ।।६४।।

कर्म क्रम से मुक्ति पाने की इच्छा रखने वाला मुमुक्षु पुरुष मोक्षानुकूल विशेष कर्म करता है, उस कर्म के प्रभाव से फिर वे ग्रन्थियां खुल जाती हैं तब प्रतिसंचर क्रम (स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण) आरम्भ हो जाता है। मोक्ष मार्ग रूप त्याग मार्ग में चले जाने पर

भौतिक शरीर में स्थित भूतात्मा के भौतिक कर्मों का क्षय हो जाता है—तब वह क्रमशः नैष्कर्म्य रूप ब्रह्मानन्द स्थिति में जाकर आनन्दमय हो जाता है ।।६५।।

उक्त आनन्दमयी अवस्था को प्राप्त करने का सोपान क्रम—पृथ्वी का जल में विलय (पार्थिव प्रधान भाव ही भेद द्योतक है—उसका जल में स्नेह भाव में विलय), जल का तेज में विलय, तेज का वायु में विलय, (अर्थात् वायु सर्वबन्धु होता है—उस भाव में तेज का विलय), वायु का वाक् में—शब्द घन आकाश में विलय, इस वाक् का प्राण में विलय, प्राण का मन में विलय, और मन का रस में विलय हो जाने पर—कर्म परम्परा का नाश हो जाने से यह रस प्राप्ति रूप विकास माना गया । यह ही परम आनन्दमयी नित्य स्थिति है ।।६६।।

२. अब कर्म धारा के निवृत हो जाने पर—प्रसाद अर्थात् रसाभिमुख क्रम क्रमशः कहा जा रहा है, ग्रन्थि खुल जाने पर पृथ्वी जल रूप हो जाती है—वह जल तेज रूप हो जाता है—इस क्रम से रस पर्यन्त प्रसाद क्रम चलता है, वास्तविक विचार से तो भाव प्रसाद भी रस विकास ही हैं ।

शरीर निष्ठा में अति आवेश 'अहं' भाव है, इस संकुचित सीमाभाव के हट जाने पर जगत् को आत्मा रूप से देखना अहं भाव है, जब जगत् को स्थूल अवस्था से भी उठकर सूक्ष्म में प्रवेश हो जाय तब ओम् अवस्था होती है, मानव कर्तव्य है कि अहं दृष्टि को अहः में परिवर्तित करे फिर 'अहः' को 'ओम्' में, इस ओम् भाव में प्रवेश, सूक्ष्म तेज अवस्था में प्रवेश होता है-यहां पहुँच जाने पर अमृत तथा अभय रूप आनन्दमय प्रसाद अवस्था हो जाती है—यह ही विकास माना गया है ।।६७।।

३. वाक्य का आशय यह है कि—अं, अः ये दो स्थिति हैं । दोनों में सारे वर्णों का मूल भूत अकार सारे जगत के मूल ब्रह्म का प्रतिनिधि है । उसका सहचारी बिन्दु माया की सूक्ष्म अवस्था का प्रतिनिधि है— यह बिन्दु भाव आगम ग्रन्थों में स्पष्ट व्याख्यात हुआ है । अः इस अवस्था में विसर्ग अवस्था स्थूल जगत भाव का द्योतन कर रही है । ये स्थूल अवस्था और सूक्ष्म अवस्था विचार भेद मात्र है वास्तव में कोई भेद नहीं होता यह प्रकट करने के लिये दोनों को संयुक्त कर दिया जाता है । उन दोनों में हम सांसारिक प्राणियों की दृष्टि सर्वप्रथम स्थूल जगत अवस्था को देखती है—तदनन्तर सूक्ष्म पर दृष्टि जाती है, इसलिये अः— इस विसर्गान्त का प्रयोग पहले होता है । विसर्ग का अर्थ सृष्टि अवस्था है, विसर्ग की लेखन प्रक्रिया में बिन्दु द्वित्व रूप से लेख में आता है—यह द्वित्व घनभाव का द्योतक है—जब इनका योग किया जाय तो अः + अम् ये स्थिति बनती है, इस अवस्था में विसर्ग को स्थूल रूप से यदि सुरक्षित रखा जाय तो विसर्ग का हकार रूप से उच्चारण होता है – उसका अम् के साथ योग हो जाने पर 'अहम्' रूप बनता है । यदि विसर्ग की स्थूलता को विलीन कर दिया जाय तो आगे अकार होने के कारण वह विसर्ग ओकार भाव में आ जाता है—यह प्रक्रिया व्याकरण में प्रसिद्ध है व्याकरण वेत्ता इसे जानते हैं पाणिनीय शिक्षा में निर्वचन है —

ओ भावश्च निवृत्तिश्च श ष सा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्माच गतिरष्ट विधोष्मणः ।।

वर्णों को उत्पन्न करने वाले वायु गत धर्म को ऊष्मा कहते हैं । उसका प्रकट भाव हकार द्वारा होता है—यह आठ रूपों में उपलब्ध होता है व्याकरण की प्रक्रिया के जानने वालों के लिये यह

स्पष्ट है। बहुधा शब्दों का परिवर्तन इस ऊष्मा से ही होता है, यह ऊष्मा ही सारे वर्णों की सृष्टि करता है—यह भारतीय भाषाविज्ञानाभिमत है। यह विषय यहां अप्रकृत है। प्रकृत विचार में 'अ+अम्' इसके योग के 'अहम्' और 'ओम्' में ये दो उच्चारण होते हैं, 'अं' इस अवस्था में जो अकार के ऊपर बिन्दु है—उसका कहीं नकार के रूप में या कहीं मकार के रूप में व्यवहार होता है। जब नकार रूप होता है वह बिन्दु तब 'अहन्' रूप ले लेता है। ये अहन् शब्द जगत् के प्रतिनिधि भूत सूर्य का बोधक है। सूर्य सम्बन्ध के कारण ही दिन के प्रकाश काल में अहन् शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार 'अहः' शब्द स्थूल जगत् का बोधक है। इस प्रस्तुति से स्पष्ट यह हुआ कि 'ओम्' 'अहन्' 'अहम्' ये तीनों प्रकार का उच्चारण एक का ही है। पृथक् विश्लेषण यह है कि—जिस अवस्था में यह जगत् अव्यक्त या प्रलीन रहता है, तब माया की अति सूक्ष्म अवस्था से विशिष्ट ब्रह्म का बोधक 'ओम्' इस रूप से कहा जाता है। स्थूल जगत् रूप विशेषता प्राप्त किया हुआ "अहः" शब्द के द्वारा कथित है। यह ही अध्यात्म संस्था में स्थूल शरीर विशिष्ट होकर 'अहम्' कहलाता है। ये तीनों—"ओम्' अहः, अहम्' वास्तव में एक रूप हैं, अवस्था भेद मात्र होता है, 'अहम्' से विचार आरम्भ करने पर शरीर में रहने वाला परिच्छेद भाव में घिरा हुआ जीव 'अहम्' शब्द का व्यावहारिक विषय बनता है—यह जीव रूप 'अहम्' ज्ञान ज्योति द्वारा जब शरीर परिच्छेद रूप सीमाभाव से मुक्त हो जाता है—तब 'अहः' रूप, अर्थात् सर्वजगत् रूप स्वयं हो जाता है। परिच्छेद हटते हटते जब स्थूल अवस्था मात्र से विमुक्त हो जाता है तब वही 'अहम्' 'ओम्' इस पर ब्रह्म रूपता में आ जाता है। इस प्रकार उस अमृत मय पर तेज में जीव का विलीन होकर स्थिति पा जाना—यह जीव की पूर्ण आनन्दमयी स्थिति कही है—यह ही अमृत है—यह ही अभय है। सबसे परम विकास यही है।

भाव प्रसाद क्रम उदाहरण सम्पूर्ण।

आपः पृथिव्यां रसरूपतः स्थिता धूमात्मनापः पृथिवीत उत्थिताः।
श्रद्धान्तरिक्षे दिवि याति सोमतां पर्जन्यमागत्य च याति वृष्टिताम् ॥६८॥

वृष्टिर्भवत्यन्नमिहोर्वरान्तरे तत् पुंसि रेतः स पुमान् वधूदरे।
शिशुर्युवा स स्थविरो वियद्गतः क्षितिं गतोऽप्येति [1]रसोत्मनान्ततः ॥६९॥

रसः पृथिव्युत्थित उद्भिदाङ्कुरः स्कन्धः प्रशाखा विटपो दलोच्चयः।
पुष्पोद्गमः श्रीविगमः फलोदयः शोषोऽतिजीर्णः क्षितिमेत्यसौ रसः ॥७०॥

स यत्र पश्यामि यदेव किञ्चित् प्रदृश्यते तत्र विकाश एषः।
न चेद्विकाशोऽत्र भवेत्तदानीं सतोऽपि भूम्नो न रसाज्जगत् स्यात् ॥७१॥

भावोदये वाप्यमृतोदये वा यदित्थमन्तः स्थितयो विभिन्नाः।
तास्ता अवस्थाः प्रथितास्तदित्थं दशाविकाशः कथितस्त्रिधाऽयम् ॥७२॥

जगत् चक्र संचालन में जल की भूमिका—भूमि में जल सदा रस रूप से स्थित रहता है भूमि गत अग्नि के संपर्क से वह जल धूम रूप में पृथ्वी से ऊपर उठता हुआ अन्तरिक्ष में आकर श्रद्धा रूप में परिवर्तित हो जाता है—आगे द्युलोक में वही जल सोमरूप में आकर पर्जन्यलोक से वर्षा का रूप लेकर बरस पड़ता है ॥६८॥

वर्षा का जल उपजाऊ भूमि में अन्न रूप ले लेता है, वह अन्न पुरुष शरीर में जाकर रेत (वीर्य), रूप बनकर स्त्री के शरीर में आ जाता है, वहां जाकर शिशु रूप धारण करता है, फिर युवावस्था में से होता हुआ वृद्धावस्था में जाकर क्षीण होकर फिर अन्ततः भूमि में मिलकर रस रूप ही हो जाता है ।।६९।।

१. सुगमता से जानकारी के लिये जगत् चक्र के कुछ उदाहरण दे रहे हैं । सब से पहले जल का उदाहरण बता रहे हैं । पृथ्वी में रस रूप से सूक्ष्म अवस्था में स्वभाव से स्थित जल अग्नि के संयोग से धूम रूप में आकर ऊपर गमन करते हैं । अन्तरिक्ष में जाकर वे जल श्रद्धानाम से व्यवहृत होते हैं यह छान्दोग्य उपनिषत् का लेख है । आगे द्यु लोक में जाकर वे ही जल सोम रूप हो जाते हैं । फिर वे ही पर्जन्य रूप में आकर वर्षा के रूप में पुनः पृथ्वी में आजाते हैं । वृष्टि से अन्न, अन्न से पुरुष में वीर्यरूप, फिर स्त्री के गर्भाशय में निषेक होने पर वह ही शिशु रूप हो जाता है, शिशु क्रमशः बढता हुआ अवस्थाओं को पार करता हुआ क्षीण होकर मर जाता है अर्थात् पृथ्वी में ही लीन होकर फिर रस रूप ही हो जाता है । ये जगत् चक्र का एक उदाहरण है । आगे रस का बीज-वृक्षादि रूप से चक्र कहा जा रहा है ।

रस जो भूमि के अन्तर्गत है वह भूमि से उठकर भूमि का उद्भेदन करके अङ्कुर रूप में बाहर निकल आता है—फिर एक स्कन्ध, फिर कई शाखा, फिर कोमल विटप (टहनी) फिर कोमल पत्ते, फिर पुष्पों का विकास, वृक्ष की सुन्दर शोभा, फिर फलों का उद्गम, फिर उस वृक्ष के अति पुराने हो जाने पर सूख जाना, टूट कर फिर उस रस का भूमि गत ही हो जाना, यह भी पूर्ववत् चक्र है ।।७०।।

संसार में जो कुछ हम देखते हैं, या जो भी कुछ दिखाया जाता है वहां सर्वत्र यह विकास भाव ही प्रधान है । यदि यह विकास भाव नहीं होते तो रस के सर्वत्र व्यापक रहने पर भी—रस से जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती ।।७१।।

चाहे भावोदय रूप सृष्टि विकास हो अथवा अमृतोदय रूप ब्रह्म भाव प्राप्ति रूप विकास हो—दोनों में अन्तराल में विभिन्न अवस्था होती हैं—वे अवस्था ही ख्याति में आती हैं । इस क्रम से यह तीन प्रकार का दशा विकास कहा गया है ।।७२।।

[1]भावोदये सा पृथिवी यथेयमयोऽश्मफेनो हिरण्यभेदात् ।
नाना विधास्तत्र तदश्मभेदाः पुनर्विभिन्ना इति ता अवस्थाः ।।७३।।

द्विधा विकाशः पुनरेष दृश्यते कर्मप्रवृत्तेरनु तन्निवृत्तितः ।
रसो विदूरे भवति क्रमाधिका वृत्तेः प्रवृत्तौ स तदन्यथाऽन्यथा ।।७४।।

स जायते कर्म विकाश आदौ ततः पुनर्ब्रह्म विकाश एति ।
प्रवृत्तिमार्गः स चतुष्पदः स्याच्चतुष्पदः सोऽपि निवृत्तिमार्गः ।।७५।।

हिंकार[2] एव प्रथमं द्वितीयः प्रस्ताव आदिस्तु पदं तृतीयम् ।
उक्थात् प्रवृत्तस्य परागतिः स्यादुद्गीथ उक्ता परतो निवृत्तिः ।।७६।।

पूर्व प्रतीहार उपद्रवोऽन्यत्पदं तृतीयं निधनं ततोऽन्ते ।
परायणोऽप्येति परागतिः सा यदुक्थमासीत् प्रभवः प्रतिष्ठा ॥७७॥
[3]स्थितेर्विकासः प्रभवत्यवस्थया बलस्यभावोदयने विकासः ।
रसप्रसादोदयतो विकासोऽमृतस्य सोऽन्यस्त्रिविधो विकासः ॥७८॥

इति विकाशद्वयपरिभाषा

अवस्थाओं के रूप—जैसे पृथ्वीभाव की अवस्थाएं—भावोदय (सर्जन काल) में प्रथम जल में—फेन अवस्था, फिर पङ्क, शर्करा, सिकता, प्रस्तर, लोह, सुवर्ण अवस्थाएं, फिर पत्थरों के भी रत्नों के रूप में अनेक भेद—ये सारे रूप अवस्था कहे जाते हैं ॥७३॥

१. जल से पृथ्वी की उत्पत्ति में—आप, फेन, मृत्स्ना (चिकनी), सिकता, प्रस्तर, लोह और हिरण्य (स्वर्ण) ये आठ अवस्था शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित हैं। उनमें से ही कुछ यहां कही गई हैं। क्रम की अपेक्षा नहीं की गई है। इतना विकास हो जाने पर पुनः विकास होता है—उससे रत्नों के रूप में प्रस्तरों की बहुत विधा हो जाती हैं। 'नव रत्न तो प्रसिद्ध हैं—उपरत्न भी अनेक हैं'।

कर्म की प्रवृत्ति तथा कर्म की निवृत्ति, इस प्रकार से विकास की दो विधा देखी जाती हैं। प्रवृत्ति रूप सर्ग व्यवहार में रस का मौलिक स्वरूप बहुत दूर हो जाता है और मायाबल से रस के अन्यान्य विभिन्न रूप हो जाते हैं ॥७४॥

सर्वप्रथम कर्म का विकास हुआ करता है, तदनन्तर भोग उपरति काल में ब्रह्म विकास प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति मार्ग के चार चरण होते हैं—वैसे ही निवृत्ति मार्ग के भी चार चरण होते हैं ॥७५॥

प्रवृत्ति मार्ग के चार पादों में प्रथम हिंकार, द्वितीय प्रस्ताव, तृतीय आदि नामक तथा चतुर्थ उद्गीथ होता है। प्रवृत्ति का आरम्भ उक्थ (प्रारम्भिक मण्डल) से होकर आदि नाम के तृतीय पाद पर पूर्ण हो जाता है, पर भाव मे निवृत्ति का आरम्भ चतुर्थ चरण—उद्गीथ होता है ॥७६॥

२. इस से पहले श्लोक में जो प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग के चार-चार पाद कहे गए हैं, वे ही छान्दोग्य उपनिषत् (२ प्रपा० २-८ खण्ड में) सात प्रकार की साम उपासना मे हिंकार आदि शब्दों से कहे गए हैं—उनका ही संकेत यहां किया गया है। प्रथम पाद हिंकार कहा जाता है, दूसरा प्रस्ताव और तीसरा आदि नाम से व्याख्यात हुआ है, इस तीसरे 'आदि' पर्यन्त प्रवृत्ति होती है, अन्त में निवृत्ति के आरम्भ रूप से चोथा उद्गीथ कहा गया है। निवृत्ति मार्ग में उद्गीथ, प्रतीहार और उपद्रव ये तीन पाद पूर्ण होकर अन्त में कर्म परम्परा का निधन (समाप्ति) हो जाता है। यह विषय छान्दोग्य उपनिषत् के अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकता है, यहां केवल संकेत मात्र है।

निवृत्ति में प्रथम उद्गीथ, फिर प्रतीहार, फिर उपद्रव और अन्त में कर्म का निधन हो जाता है। जो उक्थ—कर्म का उदय वा प्रतिष्ठा रूप आरम्भ में बना था, निधन उसकी अन्तिम गति है—वह ही प्रधान आधार है, परागति है ॥७७॥

स्थिति भाव का विकास अवस्था रूप में होता है, भावोदयन (सर्गरूपता) में बल का विकास होता है। रस के प्रसाद रूप उदय से अमृत का विकास होता है, वह विलक्षण रूप में अन्य प्रकार का होता है, इस प्रकार विकास तीन तरह का है ।।७८।।

३. इस श्लोक में कहे गए प्रकार के अनुसार विकास की त्रिविधता मानना युक्ति संगत है—यह कथन तात्पर्य है।

दो प्रकार की विकास परिभाषा समाप्त

(२०) दीप्तिविकाशाधिकरणम्

[४]संस्थाविकाशस्त्रिविधोऽयमुक्तस्त्रिधा प्रकाशोऽथ परो विकाशः।
यद्भौतिकं ज्योतिरिदं ततोऽन्यत् प्रज्ञानमन्यन्निखिलावभासम् ।।७९।।

वि[५]द्युच्च धिष्ण्यानि च सूर्यचन्द्राम्ब्वग्निश्च दिव्यौषधयो हिरण्यम्।
ज्योतिषीं सप्तैव तु भौतिकानि प्रज्ञा तु गृह्णाति हि तैर्गृहीतम् ।।८०।।

[१]सूर्याग्निचन्द्रावथ वागथाऽऽत्मा यस्यान्नमस्ति प्रथते तदन्यत्।
विज्ञानमाद्यं सदसद्विकाशस्तज्ज्योतिषां ज्योतिरिति प्रपद्ये ।।८१।।

न तत्र सूर्यो न च चन्द्रतारं न विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तं त्वनुभाति सर्वं तस्यैव भासा[२] निखिलं विभाति ।।८२।।

[३]वाग्घ्राणचक्षुःश्रवणत्वचां तु यश्चित्तस्य योगेन विशेष इष्यते।
प्रज्ञासु मृत्युः स मतोऽथ यावता तेष्वैकरूप्यं स विकस्वरो रसः ।।८३।।

[४]तत्राऽमृतं मृत्युयुतं विशेषवद्रूपं समाधाय पृथक् पृथक् पुनः।
तं तं प्रकाश्यं विषयं प्रकाशयत् पुनस्तदन्येन युनक्ति मृत्युना ।।८४।।

[५]सर्वेषु चैतेष्वमृतस्य मृत्योरस्ति ग्रहातिग्रहरूपबन्धः।
न पाप्मना तेन विना विकाशः प्रवर्तते नापि विनाऽमृतेन ।।८५।।

[१]न चाऽभविष्यद् यदि चेद् विकाशो वेदेऽग्निचित्या न तदाऽभविष्यत्।
विकाशतश्चेतयते यतोऽग्नि ततो विकाशः स हि चेतना चित् ।।८६।।

इति त्रिविधा दीप्तिः

संस्था विकाश की त्रिविधता कही गई—अब तीन प्रकार का ही प्रकाश का विकास बताते हैं—यह ही पर विकास है। दीप्ति अर्थात् ज्योति के तीन रूप—भौतिक ज्योति, इससे अन्य प्रज्ञा ज्योति और निखिलावभास ज्योति अर्थात् अखिल विश्व को प्रकाशित करने वाली ज्योति—रस ज्योति ।।७९।।

४. दीप्ति प्रकाश कहा जा रहा है, वह भी त्रिविध है—भौतिक ज्योति, प्रज्ञा ज्योति और रस ज्योति। रस ज्योति यहां 'निखिलावभास' पद से कही गई है।

भौतिक ज्योति सात रूपों में विभक्त है—विद्युत्, धिष्ण्यानि, (आकाश लीन हो जाने वाले तारागण), सूर्य, चन्द्र, अम्ब्वग्नि (जल की आग-बड़वानल), दिव्य औषधियों

की ज्योति—अर्थात् प्रकाश किरणों वाली औषधियां और हिरण्य—स्वर्ण ज्योति, इन सात भूत ज्योतियों का सहारा लेकर ही प्रज्ञा– बुद्धि रूप ज्योति विषय ग्रहण कर पाती है, अर्थात् इन सातों में से कोई ज्योति जब पदार्थ को प्रकाशित कर देती है—तब ही प्रज्ञा ज्योति ग्रहण कर पाती है । इनमें से कोई ज्योति न रहने पर पदार्थ भास सम्भव नहीं होता ॥८०॥

५. सप्तविध भूतज्योति की व्याख्या की जा रही है, धिष्ण्य शब्द उन ताराओं के लिए हैं—जो समय-समय पर आकाश में लीन होते हुए प्रकाश रूप में देखे जाते हैं—जिनको व्यावहारिक भाषा में तारा टूट गया कहा जाता है । यह भौतिक ज्योति का एक रूप, जल में रहने वाला अग्नि 'अम्बु-अग्नि' (बड़वानल), हिमालय आदि दिव्य पर्वतों में दिव्य औषधियों में जो प्रकाश दिखाई देता है वह षष्ठ संख्या का प्रकाश है । स्वर्ण भी तेजोमय होता है—अतः उसकी भी ज्योतियों में गणना की गई है । इन ज्योतियों से संयुक्त वस्तु को ही प्रज्ञा ग्रहण करती है ।

ये सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वाक् और जीवात्मा सब के सब जिसके अन्न बन रहे हैं—वह अत्ता (सर्व भोक्ता) जो सब में विकसित हो रहा है—वह ज्योति अन्य ही है । वह ही सर्वादि विज्ञान ज्योति है, वह ही सत्-असत् सबका विकास है – वह ही इन कथित ज्योतियों को भी ज्योति दान करता है—उस रस ज्योति की मैं शरण लेता हूं ॥८१॥

१. बृहदारण्यक उपनिषत् में छठे अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में—जो कि 'ज्योति ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध है—उसमें जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद है—उसमें जनक का प्रश्न है, इस पुरुष की ज्योति कौन सी है ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य क्रमशः पहले सूर्य की ज्योति से आधारित कहते हैं । सूर्यास्त हो जाने पर चन्द्र ज्योति, चन्द्र के न रहने पर अग्नि ज्योति, अग्नि संविधान भी न रहने पर वाक् ज्योति (अर्थात् अन्धकार अवस्था में भी वाणी के द्वारा ही दूसरों के साथ व्यवहार चलता है और किसी की आवाज सुनकर उसे पहचान लिया जाता है), वाणी भी जब शान्त हो जाय उस शयन अवस्था में स्वप्न में स्व ज्योति आदि क्रमशः कहा गया है । स्वप्न अवस्था में जो कुछ देखा जाता है उसे आत्मा ही उत्पन्न करता है—आत्मा ही अपने आप उसे जानता भी है । आत्मा पद से उस प्रकरण में अन्तःकरण का तात्पर्य है 'मन–बुद्धि–अहंकार की सम्मिलित अवस्था अन्तःकरण है) अनन्तर संवाद में निद्रा—सुषुप्ति आदि का विवरण करके अन्त में सारी अवस्थाओं में परिवर्तित हुए भी निर्विकार—सर्वप्रकाश एक मूल आत्मा का उपदेश किया कि वह ही एक मात्र स्वयं ज्योति तत्व है जिस ज्योति से सारा विश्व ज्योतित है । उससे प्रकट होकर सब कुछ उसमें ही लीन हो जाता है इसलिये वह सबका आत्मा है । उस प्रसंग का ही संकेत करते हुए यहां सब ज्योतियों का उदाहरण देकर—सारे विश्व के अन्तरात्मा को पर ज्योति रूप से स्वीकार किया है ग्रन्थकर्ता ने । इस पर ज्योति का सारा विश्व अन्न रूप है—यह मूल में कहा गया है– इसमें जो आत्मा अन्न भाव में गिनाया गया है—वह प्रज्ञा रूप ही है । अन्तिम परिगणना में आत्मा शुद्ध रस रूप है । यह आत्मा का रूप ही सर्वादि विज्ञानात्मा माना जाता है, यह ही सब ज्योतियों की भी ज्योति है, अर्थात् प्रज्ञा पर्यन्त ही सबका प्रकाश होता है । इस ही विषय को स्पष्ट करते हुए जो वेद मन्त्र है उसका अर्थभाव ही आगे के श्लोक में कहा जा रहा है ।

विशुद्ध रस रूप अमृतमय स्थिति में न तो सूर्य का प्रकाश रहता है, न चन्द्रमा का, न ही तारागण का, न वहां विद्युत् है, भौतिक कष्ठाग्नि तो होगा ही कहाँ से ? उस मूल अमृतमय ज्योति के भासित होने पर ही अन्य सब ज्योति भासित होती हैं—उस ब्रह्म के प्रकाश से ही सारा विश्व भासमान है।।८२।।

२. यह ही कारण है कि सुषुप्ति अवस्था में या मूर्च्छा में चैतन्य दब जाने पर कुछ भी भास नहीं होता।

वाक् (रसना), नासिका, नेत्र, कान और त्वचा आदि का जब मन से पृथक्-पृथक् संयोग होता है, तब तत्तत् इन्द्रिय सम्बन्धी विशेष ज्ञान होता है, इन चाक्षुष ज्ञान आदि पृथक्-पृथक् प्रज्ञाओं में पार्थक्य मृत्यु (मायाबल) के कारण माना जाता है किन्तु उस पृथक् भाव में भी विकासशील ज्ञानमय रस सर्वत्र एक रूप ही रहता है ।।८३।।

३. यहां वाक् पद से रसना इन्द्रिय ही ग्राह्य है। क्योंकि प्रकरण ज्ञान इन्द्रियों का है, और वाक् इन्द्रिय कर्म इन्द्रिय मानी गई है। रसना आदि ज्ञान इन्द्रियों का मन की सहायता से प्रज्ञा में अर्थात् ज्ञान में जो विशेष भाव आता है, यह चाक्षुष ज्ञान है, यह रसना का ज्ञान है इत्यादि,—यह सब बल के सम्बन्ध से होता है। ज्ञान रूप में सर्वत्र एक रूपता ही प्रकाश के अंश रूप से रहती है—यह एकता रस का स्वरूप है। विषय ही ज्ञानों में भिन्न-भिन्न होते हैं, विषयों के सम्बन्ध से ही विशिष्ट ज्ञान में विलक्षणता प्रतीत होती है। प्रकाश अंश में भेद नहीं पड़ता इत्यादि विषय पंचदशी में निरूपित है।

वहां सर्वत्र विशेष प्रतीति की रीति यह है कि अमृतमय प्रकाश एक मृत्यु (बल) से युक्त होकर विशेष के समान रूप धारण कर के फिर अन्य बल को प्रकाशित करने लगता है—इस प्रकार पृथक्-पृथक् पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ वह अन्यान्य बलों से योग करता रहता है ।।८४।।

४. एक मृत्यु से अर्थात् बल से योग होने पर एक प्रकाश—एक वृत्ति रूप ज्ञान। फिर दूसरे बल के योग से अन्य ज्ञान। यह भेद वास्तव में वृत्तियों का ही भेद है, मुख्य प्रकाश का कहीं भेद नहीं है, यह तात्पर्य है।

अमृत-मृत्यु के सम्पूर्ण योगों में ग्रह-अतिग्रह रूप बन्ध संसर्ग होता है। सृष्टि का विकाश न तो मृत्यु के बिना सम्भव है न ही अमृत के बिना ।।८५।।

५. इस वृत्ति रूप ज्ञान में अमृत का मृत्यु के साथ—ग्रह—अतिग्रह रूप बन्ध (सम्बन्ध) माना जाता है। सम्बन्धों का भेद ग्रन्थारम्भ में ही बता दिया गया है। उनमें यहां बन्ध रूप सम्बन्ध है—उस बन्ध संसर्ग में भी वैदिक परिभाषा में यह ग्रह—अतिग्रह भाव ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याख्यात हुआ है।

यदि चेतना रूप ज्योति विकास नहीं होता तो वेद को आधार मानकर अग्नि का चयन रूप यज्ञ भी नहीं होता, विकास से ही अग्नि को चेतन किया जाता है, विकास ही चेतना है—वह ही चित् है अर्थात् तीनों समानार्थक हैं ।।८६।।

१. यह ज्योति का विकास यदि नहीं होता तो चेतना भी नहीं होती। पहले जिन आयतन भूत–वेदों का निरूपण किया गया है, उनमें जब प्राणरूप अग्नि का ऊपर नीचे भाव से सन्निवेश रूप चयन होता है, तब चेतना की प्रतीति होती है। यदि विकास प्रक्रिया न हो तो एक का ही चयन कैसे सम्भव हो सके, विकास से ही अग्नि के प्राण की विविध रूपता होती है, उससे ही चिति होती है और उससे मनुष्य चैतन्य प्राप्त करता है। चेतना—चित्—चैतन्य—विकास ये सब शब्द समान अर्थ में ही व्यवहार में आते हैं ये तात्पर्य है। वेदों में अग्नि सम्बन्ध ही चेतना का हेतु है—यह विज्ञानमय लक्ष्य रखना चाहिये।

।। त्रिविध दीप्ति निरूपण सम्पूर्ण ।।

[२]संस्थाक्रमो यः स विकासरूपो मात्राक्रमो यः स विकासरूपः ।
दीप्तिक्रमो यः स विकासरूपस्त्रयस्तु शब्दा इह तुल्यमिष्टाः ।।८७।।

[३]ज्योतिर्हि यावद्विधृतिः प्रतिष्ठा वेदास्त्रयस्तावदुपक्रमन्ते ।
यज्ञश्च भर्गोऽस्य महर्यशो वा न ज्योतिषोऽस्मात् परतोऽस्ति वस्तु ।।८८।।

इति ज्योतिःपरिभाषा

इति ज्योतिराख्यानम्

विकास की व्यापकता—जो संस्था क्रम बताया गया वह विकास रूप है, जो मात्रा क्रम है वह विकास रूप है और जो दीप्ति (प्रकाश) क्रम है वह भी विकास रूप है, ये संस्था, मात्रा और दीप्ति विकास तीनों सदा साथ ही होते हैं ।।८७।।

२. ज्योति के प्रकरण का उपसंहार करते हुए तीनों विकासों का नियत सहचर रूप कहा है।

वाक् की प्रतिष्ठा रूपता, प्राण की विधृति रूपता तथा मन की ज्योति रूपता पहले व्याख्यात हुई है—जहां तक ये ज्योति, विधृति और प्रतिष्ठा भाव हैं वेदों का उपक्रमण वहीं तक होता है, इनके आधार पर ही यज्ञ प्रक्रिया चलती है। अतः भर्ग, महः और यश ये भी ज्योति भाव ही है –ज्योति से अतिरिक्त संसार में अन्य कुछ वस्तु नहीं है ।।८८।।

३. वाक्, प्राण और मनकी भी ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद रूपता ब्राह्मण ग्रन्थों में निरूपित हुई है। उनके ही विवर्त ये प्रतिष्ठा–विधृति, ज्योतियों में वेद हैं। इन प्रतिष्ठा आदि के बिना वेदों का विकास सम्भव नहीं होता। इनके द्वारा ही यज्ञ का निस्तार होता है। सूर्य आदि ज्योतिर्मय पिण्डों में इनका घटना क्रम देखिये। वहां ज्योति रूप जो पिण्ड भाग है—उसे 'भर्ग' कहा जाता है। ज्योति किरणों के प्रसार को 'महः' कहते हैं। जहां किरणों के प्रसरण में रुकावट आजावे (गृह के भित्ति आवरणों से वा वृक्ष आदि की घनता से) वहां भीतर अन्धकार में जो प्रकाश का अंश अन्तर्गर्भित रहता है अर्थात् किरणों की साक्षात् रुकावट हो जाने पर भी तम में ज्योति का आधान हो जाता है उसको 'यश' कहा जाता है। जैसे सूर्य मण्डल के चारों ओर जो रथरूप तेज का मण्डलाकार है—वह 'भर्ग' है, पृथिवी पर फैली हुई किरणें 'महः' हैं, आवरण से घिरे हुए भवन में किरणों का साक्षात् सम्बन्ध न रहने पर भी जो प्रकाश की अनुभूति होती है—वह यश रूप ज्योति भाव है। उनमें भर्ग ऋग्वेद है, महः यजुर्वेद है और यश साम रूप है यों

तीनों वेदों की स्थिति है। जितना वेदों का फैलाव या व्याप्ति है उस व्याप्ति भाव में ही विधृति और प्रतिष्ठा का भी प्रसार होता है। वेद भी उतने ही प्रदेश में व्याप्त होते हैं। ज्योति से परे कुछ भी नहीं है। इस ज्योति पिण्ड न्याय से रूप ज्योति पदार्थों के भी भर्ग, महः और यश भाव जान लेने चाहिये।

॥ ज्योति परिभाषा और ज्योति व्याख्या सम्पूर्ण ॥

(२१) विधृत्यधिकरणम्

[४]इहेदमस्तीति यतो मतिर्भवेद् विधारणा सा विधृतिर्धृतिश्च सा।
धृत्यात्मरक्षानुयतो न विच्यवः परस्य भक्तिश्च परो विधारणात् ॥८९॥

[१]यो यस्य भक्तः स हि तस्य बन्धुः प्रपद्यते भक्तिवशादुपास्ते।
भर्गस्थितो वाऽस्य महः स्थितो वा यशः स्थितो वा न परत्र याति ॥९०॥

[२]यद्वस्तु विम्बप्रधिकं स भर्गो यावद्बहिर्वायुमहस्तदुक्तम्।
तद् दृश्यता रूपकमण्डले स्याद्यशो धृतिस्तेषु च तारतम्यात् ॥९१॥

[३]यानस्थितो यानधृतः स भर्ग गत्यैव गच्छेदचलश्चलो वा।
ये मक्षिकापक्षिगणामहस्थाश्चला अपि स्युर्विधृताः स्थितास्ते ॥९२॥

[४]ध्रुवस्य येयं पृथिवीयशःस्था ध्रुवेण सेयं विधृता स्थिताऽऽस्ते।
गच्छन्त्यपीयं न च गच्छतीह ध्रुवस्य तन्मण्डलतो बहिर्धा ॥९३॥

तदित्थमुक्ता विधृतिस्तथैषा भक्तिर्निरुक्ता विधृते च भवते।
विधारकोऽयं विभवेद् व्रतैः स्वैर्भक्तोऽप्युपास्तेऽवहितो व्रतेषु ॥९४॥

इति विधृतिस्वरूपम्

अमुक स्थान पर अमुक वस्तु है यह बुद्धि जिससे होती है, उसे विधारणा, विधृति, अथवा धृति कहते हैं। धृति से आत्मा की (अपने आपकी) रक्षा होती है, स्व स्वरूप को विच्युति (गिरावट) नहीं होती, जहां व्यक्ति दूसरे का भक्ति रूप अंश बन जाता है, वहां वह जिसका अंश बनता है वही उसका विधारण करता है ॥८९॥

४. अब प्राण की विवर्त रूप अर्थात् स्व स्वरूप की विच्युति न होते हुए प्राण का परिवर्तित रूप जो विधृति है, उसका निर्वचन आरम्भ करते हैं। उसमें प्रथम विधृति का स्वरूप (लक्षण) बताते हैं कि—इस जगह ये वस्तु है—ऐसी आधार आधेय भाव रूप में, अथवा पदार्थ के स्वरूप परिचय रूप में जो बुद्धि जिस तत्व से होती है—वह ही धृति, विधृति, विधारणा इन पर्यायवाची शब्दों से व्यवहृत होता है। आधार–आधेय बुद्धि की प्रयोजक, अथवा अपने अस्तित्व ज्ञान की प्रयोजक विधृति ही होती है—यह तात्पर्य है। इसका स्पष्टीकरण ही उत्तरार्द्ध में किया कि धृति से आत्म रक्षा होती है अर्थात् स्वरूप की विच्युति (गिरावट) नहीं होती। इस प्रकार की अस्तित्व बुद्धि की प्रेरक विधृति होती है, यह विधृति का एक रूप और जिस धृति द्वारा दूसरा दूसरे का

भक्ति रूप अंश बन जाता है (यान स्थित पुरुष के समान) अर्थात् उस आधारभूत यान का अवयव के समान बन जाता है। वह विधृति का आधार-आधेय भाव प्रयोजक दूसरा रूप है।

सांसारिक व्यवहार में भी जो जिसका भक्त होता है—वह निश्चय ही उसका बन्धु भी कहा जाता है। वहां भी एक दूसरे का आश्रित होता है, उपासना भी भक्तिवश आश्रित होकर ही की जाती है, वहां भी ज्योति का ही आश्रय लिया जाता है, वह ज्योति भर्ग रूप हो, महः रूप हो अथवा यश रूप हो, किसी एक का सहारा पा जाने पर भी ज्योति क्षेत्र से ॥९०॥

१. चेतन प्राणियों में जो जिसकी सेवा करता है, वह उसका भक्त अथवा बन्धु भी कहा जाता है, बन्धुओं में भी आश्रय-आश्रयि भाव (रक्षण-रक्षक भाव) ही बन्धुता का योजक होता है यह तात्पर्य है। उपासना में भी भक्ति शब्द इस कारण ही प्रवृत्त होता है। जो जिसकी उपासना करता है-वह उसका भक्त अर्थात् भागरूप होकर उसके आश्रित हो जाता है। उपासना का यह विषय आगे उपासना अधिकरण में स्पष्ट किया जायगा। आधार-आधेय भाव भी तीन प्रकार का होता है—ज्योति प्रकरण के अन्त में तीनों की अर्थात् भर्ग, मह और यश की व्याख्या की जा चुकी है, उन तीनों में किसी एक का आश्रित हो जाने पर भी आश्रित ही कहा जाता है, उक्त तीनों भावों में से एक में भी स्थिति पा जाने पर ज्योति से बाहर नहीं जा सकता है-यह तात्पर्य है।

तीनों ज्योति भावों का स्पष्टीकरण—वस्तु रूप बिम्ब की परिधि में घिरा हुआ तेज भर्ग है, बिम्ब से बाहर निकल कर जहां तक ज्योति किरणें जा रही हैं— वह महः कहा गया है, जहां सीधी किरणें प्रतिफलित नहीं हो रही हैं—आवरण आदि की बाधा के कारण, वहां किरणों का अन्य रूपक मण्डल बनता है—उससे भवन आदि के भीतर भी प्रकाश अंश फैलता है वह 'यश' ज्योति है। ज्योति की धृति इनमें तारतम्य से रहना स्वाभाविक है ॥९१॥

२. भर्ग आदि का स्वरूप हमने अभी ऊपर बताया था, यहां मूल में ही उसका विवरण कर रहे हैं, परिधि से परिच्छिन्न बिम्ब ही 'भर्ग' है, बिम्ब से बाहर वायुमण्डल में फैले हुए प्राण विशेष—अर्थात् किरण ही 'महः' है, रूपक मण्डल का अर्थ–किरणों के प्रतिफलित न होने से प्रतिबिम्ब रूप कल्पित मण्डल में जो दर्शन प्रतीति होती है वह 'यश' है।

किसी यान में बैठे हुए चलते हुए व्यक्ति की यानगत भर्ग में धारणा या धृति बनी रहती है, यान में स्थित वह व्यक्ति चाहे अचल भाव में हो अथवा उसके शरीराङ्गों में चलायमानता भी हो तब भी गन्तव्य स्थल तक वह यान की गति से ही जाता है—स्वतन्त्र गतिमान नहीं होता—यह भक्त-अंश भाव का उदाहरण है। दूसरा 'महः' का उदाहरण मक्षिका वा पक्षिगणों का बताते हैं कि 'पृथिवी के महस् अर्थात् पृथ्वी प्राणों के आकर्षण में बन्धे हुए मक्षिका—पक्षिगण यद्यपि आकाश में संचरण करते हैं किन्तु पृथ्वीं के महस् से बाहर नहीं जा सकते–उसके अन्तराल में ही रहते हैं। पूर्वोक्त तारतम्य से ही वे चलायमान रहते हुए भी आकर्षण से धृत रहते हैं ॥९२॥

३. भर्ग आदि तीनों भावों में विधृति को उदाहरण सहित बता रहे हैं—जब कोई पुरुष यान में बैठकर चलता है तब उस पुरुष के शरीर की यान के भर्ग में विधृति होती है। यान की गति से उस पुरुष में भी गति हो जाती है—वह उस विधृति द्वारा ही होती है। यान में स्थित पुरुष के शरीर में हाथ, पैरों में भी गति होती है तो हुआ करे—गन्तव्य स्थान की प्राप्ति उस शरीर गति से न होकर यान की गति से ही होती है। दूसरी महस् रूपता का उदाहरण—मक्षिका और पक्षियों के समूह आकाश में विचरते हुए भी पृथ्वी के महस् से—अर्थात् पृथ्वी के प्राणों से आकर्षण बद्ध होते हुए पृथ्वी के महस् से बाहर नहीं जा पाते महस् के अन्तराल में ही स्थिति पाते हैं। इस ही कारण भू भ्रमण वादियों के मत में पृथ्वी पिण्ड यद्यपि क्षण-क्षण में सौ योजन का अतिक्रमण करता है, तथापि उसके ऊपर आकाश संचारी पक्षी कुछ क्षणों में ही अपने स्थिति स्थान पर आ जाते हैं। जितनी पृथ्वी की गति होती है, उतनी ही पृथ्वी के महस् में भी बाहरी वायुमण्डल में गति होती है, किन्तु उस महस् पर्यन्त गति में कभी पक्षियों का गमन प्रयास नहीं होता, अपितु पृथ्वी पिण्ड से बाहर—जिस प्रदेश तक उनकी गति सम्भव हो सकती है—वहां से वापस लोट आने का प्रयास ही वे करते हैं। यह महस् सम्बन्धी विधृति है।

यश रूप धृति का उदाहरण—ये पृथ्वी ध्रुव के यश भाव में स्थिति पा रही है, ध्रुव के द्वारा ही इसकी स्थिति हो रही है, भूभ्रमण मत में ये पृथ्वी चलायमान होते हुए भी ध्रुव के यश मण्डल से बाहर नहीं जा सकती ॥९३॥

४. तीसरी यश रूप धृति का उदाहरण—यह हमारी पृथ्वी ध्रुव से धृत हो रही है, अर्थात् ध्रुव के यश मण्डल में स्थिति पा रही है। भू भ्रमण वादियों के मत में यद्यपि इसकी सहस्रों योजनों तक गति होती है परन्तु ध्रुव के यश मण्डल से बाहर पृथ्वी नहीं जा सकती यह तात्पर्य है। यह यश विधृति है।

इस प्रकार यह विधृति का विवरण किया गया—उस विधृति द्वारा भक्ति का भी निर्वचन किया गया—भक्त रूप में दूसरे का अंश बनकर जो विधृत हो रहा है यह भी बताया गया, यह विधारक भाव अपनी सीमा में होता है। उपासना में भी भक्त अपने इष्ट देव का अंश बनकर सावधानी से इष्ट सीमा में ही रहता है ॥९४॥

स्वरूपात्मक–विधृति परिच्छेद सम्पूर्ण

[1]लोकेऽवलोकेऽनुगतां त्रिधा तां विधारणां वा विधृतिं धृतिं वा।
यत्र स्वयं न च्यवते स्वरूपादविच्युतिः साऽस्खलनं धृतिः स्यात् ॥९५॥

[2]नाभौ निकायस्थित सर्वधर्मा यथायथं स्युर्विधृता हि धृत्या।
ते पूर्वतः पश्चिमतोऽथ दक्षादथोत्तरादूर्ध्वमधो धृताः स्युः ॥९६॥

[3]भर्गस्थ एवं स महस्थ एवं यशःस्थ एवं विधृतोऽवसेयः।
भर्गस्थितादस्य यशःस्थ धर्मे सा तारतम्याद्विधृतिः परीता ॥९७॥

[4]आकर्षणं यत् क्रियते परेण परस्य तत् स्याद् बलकर्म किन्तु।
यत् स्यादुपासीनमिदं परस्मिंस्तद् भक्तिभूतं विधृतिर्मता सा ॥९८॥

[५]अनित्यकाला विधृतिर्हि सेषा बलात् परस्था विधृताः क्वचित्स्युः ।
पश्यामि नित्यां तु विधारणां यां सोक्ता पृथिव्या इह पार्थिवेषु ॥९९॥
[६]ये यस्य भक्ता महिमान एते भौमा यथोर्व्या इह तद्धृतियाँ ।
तामेव लोके गुरुतामिहाहुः प्रत्यर्थमेषा गुरुतार्ऽपिता स्यात् ॥१००॥
[७]पृथ्वीविधृत्या गुरुता निकाये निकायधर्मा विधृतास्तु नाभौ ।
नाभिस्थितस्तेन स वस्तुभारः प्रतीयते गर्भगतः स आत्मा ॥१०१॥
[८]बाधात्तु भास्वत्कृतया विधृत्या पृथ्वीविधृत्या लघुतां वदामः ।
यावद् विधृत्योः प्रतिबाधवीर्यं तावल्लघुत्वं च गुरुत्वमिष्टम् ॥१०२॥

लोक में विधृति तीन रूपों में सर्वत्र अनुगत देखी जाती है, विधारणा, विधृति और धृति रूप में । धृति का सामान्य लक्षण, स्वयं अपने स्वरूप से च्युत नहीं होना है । स्व स्वरूप को विच्युत् न होने देने वाली अर्थात् गिरावट रोकने वाली अस्खलनता को धृति कहते हैं ॥९५॥

१. धृति का त्रिविध विभाग—धृति, विधृति और विधारणा । सारे पदार्थ—अपने स्वरूप में सत्तावान् रहते हैं—संतुलित रहते हैं, वह स्वरूप की अच्युति—स्वरूप का स्खलित न होना, धृति नाम से कहा जाता है ।

सर्वत्र धृति का स्थान नाभि अर्थात् केन्द्र होता है । शरीर के सारे अवयव अपने अपने स्थान पर उचित अवस्था में इस नाभिगत धृति के द्वारा ही संतुलित रहते हैं । शरीर के ये भाग-आगे के ,पीछे के, दाहिने, बांये, ऊपर, नीचे के सब उस धृति के आधार टिके रहते हैं ॥९६॥

२. इस धृति का स्थान नाभि केन्द्र है । निकाय अर्थात् शरीर में जो धर्म—अर्थात् अवयव वा गुण हैं—वे सब नाभिगत इस धृति रूपा शक्ति से धृत रहते- वह शक्ति उन्हें धारण किये रहती है । जो अवयव जिस दिशा में होते हैं—वे सब वहां ही स्थित रहते हैं । यह नाभिगता धृति, प्राण-की विवर्त रूप है अर्थात् प्राण—धृति रूप में परिवर्तित है ।

भर्ग, मह वा यश ज्योति में से किसी एक में पदार्थ की धृति अवश्य जाननी चाहिये, भर्ग की अपेक्षा यश स्थिति के धर्म में विधृति का तारतम्य अवश्य रहता है ॥९७॥

३. पदार्थ अन्य पदार्थों के आधार से भर्ग, महस् वायशस् में सत्ता पाते हैं, यह विधृति क्रम पूर्व में उदाहरण पूर्वक कहा जा चुका है । उनमें भर्गस्थ पदार्थ की अपेक्षा महस् में वा यशस् में स्थित का तारतम्य रहता है—यह भी पूर्व कहा जा चुका है ।

विधृति की आकर्षण रूप मान्यता का खण्डन—आकर्षण में दूसरे के द्वारा बल-पूर्वक अपनी ओर खींचा जाता है, किन्तु भक्ति अवस्था में यान में व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा से बैठता है—वहां आकर्षण न मानकर विधृति ही माननी होगी ॥९८॥

४. इस विधृति को ही कुछ विद्वान आकर्षण कहते हैं, उनके मत का खण्डन करते हैं । आकर्षण में दूसरे के द्वारा बलपूर्वक अपने अभिमुख किया जाता है । किन्तु जो बिना किसी के बल

प्रयोग के स्वयं यान आदि का अंशभूत बनता, वहां वह यान की विधृति से ही धृत होता है। आकर्षण में दूसरे के बल से दूसरा आकर्षित किया जाता है, विधृति में अपने बल से ही अन्य का भक्त या भाग बनता है, यह भेद है।

नाभि केन्द्र गता धृति वा भक्तिगता विधृति ये दोनों विधृति भाव अनित्य कालिक हैं, इनमें भी विधृति तो बलात् अन्यत्र की अन्यत्र भी हो सकती है—वह तो स्पष्ट ही अनित्य है। नित्य तो केवल विधारणा है—जैसे पार्थिव पदार्थों में विधारणा पृथ्वी की है। यह ही मात्र नित्य विधारणा है ।।९९।।

५. तीसरी विधारणा की व्याख्या— अपने सजातीय तथा अपने घनभाव में जो नित्य बंधनभाव है—वह विधारणा है।

जो चेतन वा अचेतन पदार्थ अन्य पदार्थ के भक्त-भाग वा अंश बन जाते वे उस आधारभूत पदार्थ के महिमा रूप होते हैं, जैसे भूमि से उत्पन्न पदार्थ पृथ्वी की महिमा हैं। यहां जो धृति होती है--उसे ही लोक में गुरुता कहा जाता है। प्रत्येक पार्थिव पदार्थ में पृथ्वी की यह गुरुता अर्पित रहती है ।।१००।।

६. यह पृथ्वी की विधारणा ही धारण किये हुए पदार्थों में गुरुता रूप में परिणत हो जाती है अर्थात् भूमिगत भारीपन सब में रहता है।

पृथ्वी की विधृति के कारण शरीर में गुरुता होती है, शरीर के अवयव तथा गुण रूप धर्म नाभि-केन्द्र में विधृत हो रहे हैं। इस प्रकार पदार्थ का सम्पूर्ण भार नाभिकेन्द्र के आधार पर स्थिति पाता है—अतः स्पष्ट यह है कि नाभिकेन्द्र ही आत्मा रूप से गर्भ गत हो रहा है ।।१०१।।

७. यहां धृति, विधृति और विधारणा का एकार्थ पर्याय के रूप में ही लोक में व्यवहार होता है। इन तीनों के अवान्तर भेद जो ऊपर दिखाये गए हैं, लोक व्यवहार में उन भेदों की उपेक्षा करके पर्याय रूप में ही इनका व्यवहार देखा जाता है। इस प्रकार परम्परा से अन्वीक्षण करने पर नाभि केन्द्र को आधार बनाकर ही सब कुछ टिका हुआ है—इसलिये केन्द्र का आत्मा रूप से व्यवहार होता है—अर्थात् प्राण की केन्द्र में ही स्थिति रहती है यह तात्पर्य है।

जैसे पृथ्वी की विधृति में गौरव है, वैसे ही सूर्य विधृति में स्वाभाविक लाघव है, जब सूर्य विधृति द्वारा भूमिगत विधृति में बाधा आ जाती है--सूर्य विधृति बढ जाती है तो पृथ्वी विधृति दब जाने से गौरव हटकर पदार्थ में लघुता (भार हीनता) आ जाती है दोनों विधृतियों के टकराने पर जिस विधृति में अधिक शक्ति होती है--उसका ही प्रभाव विशेष होता है—उस आधार पर ही पदार्थ गुरुता वा लघुता मानी जाती है ।।१०२।।

८. सूर्यस्थ विधृति के द्वारा पृथ्वी की विधृति का बाध (रुकावट) हो जाने से पदार्थों में लाघव (हल्कापन) प्रतीत होता है। जहाँ सूर्य विधृति अधिकांश में प्रवृत्त होती है वहां पृथ्वी की विधृति बाधित हो जाती है। सूर्य विधृति की अधिकता में पदार्थों में लघुता प्रतीत होती है—यह तात्पर्य है।

यदेकमन्यत्तु विधर्त्तुमीष्टे न तत्र पृथ्वीविधृतिः स्वतन्त्रा ।
[1]क्षरेषु तेजो विधृतिर्वरिष्ठा संश्लेषविश्लेषगतिस्ततः स्यात् ।।१०३।।

[2]या तु च्युतिः सा च पराशनायाबलस्य तस्मिन् विलयो बलिष्ठे ।
स्वभावतः सर्वमिहाच्युतं स्याद् बलप्रयोगाच्च्यवते परेण ।।१०४।।

[3]तदित्थमेषा त्रिविधा प्रतीता विधारणा वा विधृतिर्धृतिर्वा ।
त्रैविध्यमस्या अथवा न मन्ये समानभावेन वदाम्यतस्ताम् ।।१०५।।

यथा[4] प्रतिष्ठापकतास्ति वाचः प्रकाशकत्वं मनसः स्वरूपम् ।
प्राणस्य तद्वच्च विधारकत्वं वदन्ति नैषा विधृतिः प्रतिष्ठा ।।१०६।।

नि[5]र्व्यापृत्तिः सा भवति प्रतिष्ठा स व्यापृतिं तां विधृतिं वदन्ति ।
त्यक्तं विधृत्या क्वचिदन्यगं स्यात् त्यक्तप्रतिष्ठन्तु विनाशमेति ।।१०७।।

एक बलवती विधृति जब आधिक्य के कारण अन्य विधृति को दबाकर पदार्थ को अपने में धारण करना चाहती हो, तब पृथ्वी की विधृति की कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती। उदाहरणतः—जिन क्षर पुरुषों में तेज की अर्थात् सूर्य की विधृति वरिष्ठ हो जाय, नित्य सापेक्षता से अधिक बढ जाय—वे पुरुष क्षर रूप होते हुए भी पृथ्वी संश्लेश को छोड़कर आकाश में उठ जाने में समर्थ हो जाते हैं ।।१०३।।

१. क्षर पुरुषों में सामान्यतया पक्षियों में—सूर्य विधृति अधिक होती है, पार्थिव विधृति का सम्बन्ध थोड़ा होता है—अतः उनकी आकाश गति संभव हो जाती है। सूर्य सम्बन्ध से अपना तेज विधृति से अधिक संबंध योगादि के द्वारा बनाकर मानव भी वैसा कर सकता है।

स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि भर्ग-महस्-यशस् रूप में जब सारा संसार तेज धृति-विधृति-धारणा से स्वभावतः धृत हो रहा है तो फिर स्वरूप विच्युति क्यों होती है? इसका समाधान कर रहे हैं कि—ज्यो भी विच्युति होती है, वह दूसरे के बलवान् अशनाया बल में अपने अल्प अशनाया बल के विलीन हो जाने पर होती है। "दूसरे को अपने में हजम कर लेने की बल प्रवृत्ति को अशनाया कहते हैं।" वास्तव में तो सबही यहां अच्युत (अडिग) भाव में ही हैं—किन्तु दूसरे के अधिक बल प्रयोग करने पर च्युति होती है। पर अर्थात् स्व से अन्य ही इस स्वरूप च्युति में कारण है ।।१०४।।

२. अशनाया नामक बल की व्याख्या बल प्रकरण में की जा चुकी है। दूसरे को अपने में प्रविष्ट करने के लिये जो बल का प्रयोग किया जाता है—उसे अशनाया कहा गया है—अशनाया—भूख। जब अल्प शक्ति का अशनाया बल अपने से अधिक बलशाली बल में विलीन हो जाता है तब उस अल्प अशनाया बल की स्वरूप से विच्युति हो जाती है—यह तात्पर्य है। इस प्रकार स्वभावतः तो सब अप्रच्युत-च्युत न होने वाले ही होते हैं किन्तु दूसरे के द्वारा बल प्रयोग होने के कारण—स्व स्वरूप से गिरा दिया जाता है। सर्वत्र इस प्रक्रिया को समझना चाहिये।

इस प्रकार ये त्रिविध प्रतीत होने वाली विधारणा, विधृति और धृति पृथक्-पृथक् व्याख्यात हुई है। अथवा यह भी माना जा सकता है कि, इसकी त्रिविधता न होकर एकरूपता ही है क्योंकि धारणा सर्वत्र समान है ॥१०५॥

३. उपसहार कहते हैं—धृति, विधृति, विधारणा तीनों का पृथक्-पृथक् निरूपण कर दिया गया। व्यवहार में अवान्तर भेदों की उपेक्षा करके तीनों को पर्याय रूप से ही लिया जाता है। स्व स्वरूप से भी तीनों में धृतिभाव समानतया सब में रहता है—अतः सब एक रूप ही हैं। विशेष जानकारी के लिये त्रिविधता की व्याख्या हुई है।

जैसे सामान्यतया कहा जाता है–वाक् प्रतिष्ठापक–स्थायिता सम्पादक है, ज्ञानमय प्रकाश मन का स्वरूप है, विधारकता प्राण का कार्य है, किन्तु जिस विधृति का ऊपर उल्लेख हुआ है—यह विधृति, प्रतिष्ठा रूप नहीं है, यह अवधान रहना चाहिये ॥१०६॥

४. कुछ विशेषता प्रकट करने के लिये पूर्व कथित का स्मरण करा रहे हैं। मन, प्राण और वाक् में, वाक् का स्वरूप प्रतिष्ठापक है, मन का प्रकाशक और प्राण का विधारकता (सब को धारण करना), यह कहा गया है। अर्थात् वाक्, प्राण और मन ही विभिन्न पदार्थों में प्रतिष्ठा, विधृति और प्रकाश रूप सम्मिलित हो रहे हैं। यहां विशेष यह है कि विधृति और प्रतिष्ठा को एक रूप नहीं मानना चाहिये। जो विधृति स्वरूप यहां बताया है—वह प्रतिष्ठा रूप नहीं होता है। कारण आगे बता रहे हैं।

प्रतिष्ठा भाव में कोई व्यापार—चेष्टा नहीं होती, विधृति में व्यापार होता है, पदार्थ एक धारणा से छूटकर किसी दूसरी धारणा पर भी टिकाव पा सकता है, किन्तु प्रतिष्ठाभाव छूट जाने पर तो पदार्थ का स्वरूपनाश हो हो जाता है ॥१०७॥

५. दोनों का मौलिक भेद बताते हैं, प्रतिष्ठा-व्यापार शून्य है, प्रतिष्ठा भाव में कोई क्रिया नहीं होती, विधृति में व्यापार-चेष्टा होती है। यह दोनों में स्वरूप भेद है। कार्य का भेद भी बताते हैं, विधृति से छोड़े जाने पर भी अर्थात् एक धारणा भाव से अलग हो जाने पर भी वह वस्तु अन्य धारणा में जा सकती है—वहां वस्तु का नाश नहीं होता। प्रतिष्ठा भाव के चले जाने पर तो वस्तु नाश ही हो जाता है। स्वरूप की प्रतिष्ठा रखने वाली जो केन्द्र सम्बन्धी विधृति का विवरण हुआ है—वह भी केन्द्र में आकर्षण रूप ही है और केन्द्र में शरीर के अवयव तथा गुण आदि को धारण किये रहने के लिये अनवरत क्रिया प्रवृत्ति होती ही रहती है। एक केन्द्र से पदार्थ की च्युति हो जाने पर अन्य केन्द्र से बंध जाने पर पदार्थ की स्थिति संभावना रहती है। जैसे प्रज्वलित अग्नि अपने अति सन्निहित जल आदि पदार्थों में अपनी उष्णता अर्पित कर देता है—तब वह उष्णता अपने केन्द्र से विच्युत होकर जल आदि अन्य पदार्थों केन्द्र से संबद्ध हो जाती है। प्रतिष्ठा का लोप तो तब ही कहा जाता है—जब वस्तु स्वरूप का नाश हो जाता है।

[१]यथा हि सामान्यगता विशेषा यथा तु कार्यं निजकारणस्थम्।
यथा च वायुर्गगनस्थितः स्यात्तथा प्रतिष्ठाविधृतिर्न तेषु ॥१०८॥

[2]गतेर्निवृत्तिः परतो यदि स्यात् तदा स्थितिं तां विधृतिं प्रतीयात् ।
लोपो न गच्छत्प्रकृतेः प्रकृत्या फलं तु तस्या विहितं विधृत्या ॥१०९॥
वि[3]कास सीमोदरसंस्थितानामन्तःप्रचारेऽप्यगतिर्बहिर्या ।
सोक्ता धृतिर्नामतया गृहीतं त्वन्नं न चान्नात् परतो धृतं स्यात् ॥११०॥
[4]यत्किञ्चिदस्यां क्वचिदस्ति पृथ्व्यां रथन्तरं यावदिवान्नमस्याः ।
सर्वं तयैतद्विधृतं बहिस्तद्रथन्तरान्न प्रभवेद्धि गन्तुम् ॥१११॥
[5]करोमि यत्रोत्प्लवनाय चेष्टां तन्मे बलं भूविधृतिं रुणद्धि ।
उत्प्लुत्य यावद्बलमेव पश्चात् तया विधृत्यैव पतामि भूमौ ॥११२॥
[6]यावद्बृहत्साम च भास्वतेदं सर्वं तदन्नं विधृतं ततस्तत् ।
न स्याद्बहिर्धा बृहतः कदाचित् सर्वत्र चैवं विधृतिं प्रतीयात् ॥११३॥

प्रतिष्ठा परिचय—विशेष भाव जितने भी होते हैं—वे सामान्य भावों के मध्य में ही होते हैं, कार्य भाव कारण में पहले से ही रहते हैं, स्थिर आकाश में गतिमान वायु की स्थिति रहती है । इन सबमें प्रतिष्ठा है, विधृति नहीं है ॥१०८॥

१. प्रतिष्ठा उदाहरण सहित—सामान्य में जो विशेष हैं—जैसे सामान्यतया गाय सेब बराबर होते हुए भी धूमिल रंग की गाय, सफेद गाय आदि विशेष मानी जाती हैं काली-धौली कहकर उनका परिचय भी होता है, वैसे ही सामान्य मनुष्यों में अपवाद पुरुष भी होते हैं । कारण भूत मृत्तिका आदि में घट आदि की स्थिति रहती है, निश्चेष्ट आकाश में वायु की स्थिति होती है, ये सब प्रतिष्ठा ही कही जाती है, धृति नहीं । क्योंकि सामान्य में, कारण में और आकाश में कोई क्रिया नहीं होती । और सामान्य के बिना विशेष की, कारण के बिना कार्य की, आकाश के विना वायु की स्थिति असम्भव है । ऐसी प्रतिष्ठा के विच्युत हो जाने पर विनाश ही कहा जाता है ।

दूसरे के द्वारा किए गए गति के अवरोध हो जाने पर जो स्थिति रूप बनता है—वह विधृति जाननी चाहिये । गति–आगति रूपा प्रवाहमयी प्रकृति का कभी सर्वथा लोप नहीं होता—अर्थात् गति-आगति प्रवाह अवस्था में तारतम्य भले होता रहे—विधारणा द्वारा प्रतिष्ठा रूप ब्रह्म सत्ता से पदार्थ नाश नहीं होता, यह प्रतिष्ठा ब्रह्म सत्ता जागरण रूप फल विधृति द्वारा सम्पादित होता है ॥१०९॥

२. अन्य के द्वारा किये गए गमन निरोध में जो स्थिति भाव होता है—उसे विधृति कहते हैं । जहां गति संभव ही नहीं है—वह प्रतिष्ठा है यह स्वतः सिद्ध हो गया । जैसे—सब पदार्थों में पहले कहे गए अक्षर—पुरुष कलाओं में परिगणित इन्द्र और विष्णु कलाओं द्वारा पदार्थ के अवयव तथा गुण-धर्मों की गति होती है—अर्थात् सतत विसर्ग भाव इन्द्र द्वारा चलता है—इस विसर्ग से होने वाली रिक्तता की पूर्ति के लिये विष्णु द्वारा आगति (ग्रहण) भी होती है—तथापि इस प्रकार प्रवाह रूप गतागत चक्र के चालू रहने पर भी पदार्थ रूपा प्रकृति का लोप नहीं होता, तारतम्य हो जाने पर भी यह पहलेवाला वह ही पदार्थ है इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञा रूप

मान बना रहता है। यह पदार्थ की विलुप्ति नहीं होने देना, स्वाभाविक प्रतिष्ठा द्वारा ही संभव होता है। पुरुष निरूपण प्रकरण में प्रतिष्ठा रूप ब्रह्म कहा गया है। ग्रन्थकार ने यहां गच्छन्ती प्रकृतिः—इसको गच्छत् प्रकृति बनाकर प्रयोग किया है। इस पद्य में विशेष ध्यान यह रखना है कि—एक प्रकृति पद गति आगति के आधार पर स्थित पदार्थ का वाचक है, तथा दूसरा प्रतिष्ठा प्राण का बोधक है। इस प्रतिष्ठा का फल—एक आधार पर टिकाव विधृति ने विहित किया।

विकास सीमा के उदर में (अन्तराल में) स्थिति पाने वाले अवयवों को तथा गुण, धर्मों की सीमा के भीतर ही गति होती है, उस सीमा से बाहर गति नहीं होती, इसको ही धृति या धारणा नाम से कहा गया है। विधृति द्वारा अन्न रूप धृत पदार्थ—अन्य किसी से धृत नहीं होता, निज स्वरूप में ही प्रतिष्ठित होता है ॥११०॥

३. पूर्व कथित का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—प्रत्येक पदार्थ की विकास सीमा नियत है, जिस प्रदेश तक पदार्थ के अवयव तथा गुण धर्मों की गति होती है—वहां तक विकास सीमा होती है, उसके भीतर ही उसके अवयव रहते हैं, बाहर नहीं जाते यह प्रदेश बन्धन विधृति द्वारा होता है। विधृति के द्वारा ग्रहण किया हुआ वाक् रूप अन्न तो वहां स्व स्वरूप से प्रतिष्ठित ही रहता है।

इस पृथ्वी पर जहां कहीं जो भी कुछ है—वह पृथ्वी के रथन्तर साम पर्यन्त है और वह सब पृथ्वी का अन्न माना जाता है। इस साम के भीतर सब कुछ विधृति रूप धारणा शक्ति के द्वारा टिकाव पा रहा है—वह रथन्तर सीमा से बाहर नहीं जा सकता ॥१११॥

४. दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—पृथ्वी का रथन्तर साम है अर्थात् पृथ्वी की सीमा सूर्य रथ पर्यन्त व्याप्त हो रही है, उसमें पार्थिव पदार्थ टिक रहे हैं। उससे बाहर नहीं जा सकते—यह विधृतिकृत नियमन है।

जब मनुष्य पृथ्वी से ऊपर अधर में उछलने की क्रिया—या चेष्टा करता है उस समय की उछाल का वह बल कुछ क्षणों के लिए भू विधारणा में रुकावट उत्पन्न करता है किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार लम्बी उछाल के अनन्तर पृथ्वी की उस धारणा शक्ति के द्वारा खिंच कर भूमि पर ही गिर पड़ता है ॥११२॥

५. यह अपने शरीर से ही सम्बन्ध रखने वाला धारणा रूप विधृति का उदाहरण है।

जैसे पृथ्वी का रथन्तर साम है तो सूर्य का बृहत् साम है—उसका ही निर्देश करते हैं कि जहां तक यह बृहत् साम भासमान रहता है—उसके अन्तराल का सब कुछ सूर्य की विधृति द्वारा धृत रहता है—वह सब सूर्य का अन्न कहा जाता है। इस बृहत् साम की परिधि से बाहर कदाचित् कुछ नहीं है, अतः संसार में सर्वत्र इस विधृति की व्यापकता समझनी चाहिये ॥११३॥

६. सूर्य मण्डल का साम—सीमाभाव सब से बड़ा है—अतः बृहत् साम उसकी संज्ञा अन्वर्था है। उस सीमान्त सूर्य की धृति रहती है।

भू'तानि भूम्यन्नमथेह देवाः सूर्यान्नमाभ्यां विधृतं पृथक् तत् ।
वयं तु जाता उभयेभ्य एभ्यस्तस्मादुभाभ्यां विधृता वयं स्मः ।।११४।।

पटे च मृत्स्वप्युदकं निधीयते पटेन मृद्भिर्विधृतं च नीयते ।
[2]सूत्रात्मनाऽङ्गान्यथ यच्च वायुना स्तब्धानि दृब्धान्यपि तद्विधारणम् ।।११५।।

[3]स्वरूपसंसृष्टमिहाशनाया बलं रसे चेद्विधृतिस्तदा स्यात् ।
बलं विधृत्या हि रसे स्वरूपात् संसृष्टमेकर्षिमुदाहरन्ति ।।११६।।

[4]प्राणः स एकर्षिरिहाक्षरोऽयं प्रोक्तो विधर्ता च विधारणश्च ।
तस्य प्रभावादितरेतरेण श्लिष्टाक्षराणां त्रयमेकवत् स्यात् ।।११७।।

तस्या[5] क्षरस्याथ रसे बलं चेत् स्वरूपसंसृष्टमुदेति चान्यत् ।
प्राणः क्षरोऽयं स च वा विधर्ता विधारकश्चेति मतस्तृतीयः ।।११८।।

तस्य[6] प्रभावादितरेतरेण श्लिष्टं क्षराणां त्रयमेकवत्स्यात् ।
वाणं न्ववष्टभ्य स एव देहं विधारयत्येष विचित्र कर्मा ।।११९।।

बले रसस्याथ परस्य चाक्षरे क्षरेऽक्षरस्यास्ति विधारणा पृथक् ।
प्रज्ञेऽक्षरं प्रज्ञगताश्च देवताः प्रज्ञाश्च तस्मिन् विधृताः सदेरते ।।१२०।।

भूमि से सदा सम्बद्ध रहने वाले भूतगण भूमि के अन्नभूत हैं । सूर्य से सम्बद्ध देवगण सूर्य के अन्न हैं,—इन दोनों ने पृथक्-पृथक् इनको धारण कर रखा है । हम मानवों की उत्पत्ति भूत और देवता दोनों से हुई है, अतः सूर्य और पृथ्वी दोनों की विधृति द्वारा हम धृत हो रहे हैं ।।११४।।

१. पहले के दो श्लोकों में जो अन्न शब्द का प्रयोग किया है—उसका अर्थ स्पष्ट कर रहे हैं—भूमि में स्थित भूतगण भूमि के अन्न हैं—अर्थात् भूमि के आकर्षण में स्थिति पा रहे हैं । सूर्य मण्डल के चारों ओर देवगण रहते हैं—वे सूर्य के अन्न हैं—अर्थात् सूर्य के आकर्षण से बंध रहे हैं । हम पृथ्वी के प्राणीभूत और देवता दोनों से बने हैं—अतः दोनों से बंधे हुए हैं । पंच-भूत मय हमारा शरीर है—इन्द्रियां सब देव रूप हैं ।

अति घन अवस्था में बुने हुए सूत के वस्त्र में जल ठहर जाता है और उस ठहरी हुई अवस्था में एक स्थान से अन्यत्र भी ले जाया जाता है, मृत्तिका के घट-शराब आदि में तो जल की विधृति का व्यवहार सर्वत्र होता ही है । हमारे शरीर में तो प्रत्येक अङ्ग सूत्रात्मा वायु के द्वारा धृत हैं और अपने-अपने स्थान पर अडिग हैं और आपस में जुड़े हुए हैं । ये सारे क्रम विधारणा से ही चल रहे हैं ।।११५।।

२. श्लोक के पूर्वार्द्ध में मृत्तिका और वस्त्र में जल की धारणा बताई गई है । हम प्राणियों के अङ्ग तो सूत्रात्मा रूप वायु के द्वारा बद्ध होकर धृत हो रहे हैं, अतः अपने-अपने स्थानों पर स्थित हैं और परस्पर संबद्ध भी हैं ।

अशनाया रूप बल रस में स्वरूप सम्बन्ध से रहा करता है, वह ही यदि विधृति द्वारा संस्थित होता है तब स्वरूप से पृथक् उसकी एक ऋषि संज्ञा हो जाती है ।।११६।।

३. अशनाया— बल रस में स्वरूप संसर्ग से स्थित है, वह ही स्वरूप से हटकर जब विघारणा से स्थिति पाता है—तब उसे एक ऋषि कहा जाता है। "ऋषि तत्व का सर्वादि स्वरूप यह है।"

कथित यह एक ऋषि–प्राण रूप है, यह ही अक्षर पुरुष है—यह ही सब संसार का विघर्त्ता है-–इसकी ही सारी क्रिया हो रही हैं। इसके प्रभाव से ही अक्षर कला रूप ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र एक दूसरे से ऐसे जुड़े रहते हैं कि तीन भावों में होते हुए भी एक के समान प्रतीत हैं। यह विघारणा का प्रभाव ही है ॥११७॥

४. अब पूर्वोक्त ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र इन तीनों पुरुषों में विघारणा की संगति विभिन्न रूप से दिखाई जा रही है। पूर्व श्लोक में जो एक तत्व ऋषि नाम से कहा गया है—वह प्राण ही है। यह प्राण ही अक्षर पुरुष है। अक्षर पुरुष की तीन कला जो ब्रह्मा-विष्णु और इन्द्र रूप बताई गई हैं, वे प्राण के विधृति—धारणा प्रभाव से ही परस्पर संश्लिष्ट होकर एक के समान प्रतीत हो रहे हैं।

रस–बलमय इस अक्षर पुरुष के रस में जब अन्य बल स्वरूप संसर्ग से संयुक्त होता है, तब एक अन्य प्राण उदित होता है, यह क्षर प्राण कहा जाता है, यह भी सबका विघर्ता और विधारक है। हमारे शरीरों का धारक यह ही है। यह तृतीय प्राण माना गया है ॥११८॥

५. आगे अक्षर पुरुष के रस में जब स्वरूप संसर्ग से अन्य बल समन्वित होता है, तब क्षर कला रूप प्राण का उदय होता है। यह क्षर प्राण तीसरा प्राण है। १ अवयव कला रूप प्राण २ उसका विकास स्वरूप अक्षर रूप प्राण ३ क्षर पुरुष कलाओं में आदिभूत यह तीसरा प्राण। यह व्याख्या पुरुष प्रकरण में पूर्व हो चुकी है। यहां दृष्टव्य यह है कि विधारकता तीनों में अनुगत हो रही है। वह धारणा शक्ति ही प्राण प्रवृत्ति की निमित्त बनी रही है। इस भौतिक शरीर को धारण करने वाला यह क्षर प्राण ही है।

इस क्षर रूप तृतीय प्राण के प्रभाव से क्षर कला गत प्राण, आप और वाक् ये तीनों परस्पर श्लिष्ट होकर तीन होते हुए भी एक के समान प्रतीत होते हैं। यह प्रधान क्षर प्राण ही शरीर को चारों ओर से थाम कर देह धारण करता है, इसकी क्रिया विचित्र हैं ॥११९॥

६. यह तीसरा क्षर कला रूप प्राण ही प्राण, आप् आदि विभिन्न कलाओं को परस्पर संश्लिष्ट कर एकता का भासक होता है। यह ही बाण रूप शरीर का धारक होता है। प्राणों की विवाद रूप श्रुति "अहमेवैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि" में प्रधान क्षर प्राण की उक्ति है कि "मैं ही इस बाण को धारण करता हूं", उस वेद वचन का संकेत यहां शरीर के लिये बाण शब्द का प्रयोग करके किया गया है। आगे के दोनों श्लोक पूर्वोक्त के अनुवादक हैं।

मूल रस से क्षर पुरुष पर्यन्त पृथक्-पृथक् विधारणा दिखाते हैं – बल में रस की विधारणा है, पर रूप अव्यय की अक्षर में, और अक्षर की क्षर पुरुष में विधारणा है। प्रज्ञ (अव्यय) में अक्षर, प्रज्ञ के मध्यगत देवता और विभिन्न प्रज्ञाभाव विधृत होते हुए सदा चेष्टावान् रहते हैं ॥१२०॥

अस्तीन्द्रियस्यार्थगता विधारणा तथात्मनः शक्तिगतास्ति धारणा ।
सुपिच्छिलस्य प्रतिबिम्बधारणा प्राणस्य चैतत्तनुवाणधारणा ॥१२१॥

[1]इन्द्रस्य सप्तर्षिषु चास्ति धारणा तद्भूतमात्रासु तदर्षिधारणा ।
न तत्क्वचिद्वस्तु न यत्र धारणा सर्वं तयाऽधारि ममेति धारणा ॥१२२॥

इति विधृत्युदाहरणानि

[2]आत्मा यदोत्सीदति दम्यते वा तदार्तमल्पं च स दुःखभावः ।
दध्यस्य चोत्सादगतस्य भूयो धृत्याप्तिमानन्दमुशन्ति विज्ञाः ॥१२३॥

[3]यत्रापि वीरः करुणाद्भुतो वा बीभत्सरौद्रौ च भयानको वा ।
रसेषु चेतो द्रवणेऽपि धृत्या स्वास्थ्यादिहानन्दरसोपपत्तिः ॥१२४॥

[4]आनन्दमाहुर्द्विविधं विधृत्या स्वास्थ्योपपत्तेः प्रथमः स उक्तः ।
अनुग्रहाद् भूमरसस्य सस्यादथात्मनो वृद्ध्युपपत्तितोऽन्यः ॥१२५॥

विना विधृत्यानु न वृद्धिरेषा संभाव्यते तेन सदोभयत्र ।
[5]तदन्वयादव्यतिरेकतश्च स्वानन्दहेतुं विधृतिं वदन्ति ॥१२६॥

इति विधृतेरानन्दरूपत्वम्

पदार्थों का धारण इन्द्रियां करती हैं, शक्ति का धारण आत्मा करती है, सचिक्कणता (स्वच्छ चिकनाई) प्रतिबिम्ब का धारण करती है, प्राण इस तनु बाण (शरीर) को धारण करता है ॥१२१॥

पूर्व कथित शरीर गत सात ऋषि संस्थाओं में इन्द्र की धारणा होती है, भूत मात्राओं में ऋषियों की धारणा है । संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जहां धारणा न होवे—अतः मेरी यह निश्चित मान्यता है कि धारणा शक्ति ने ही सारे जगत् को धारण कर रखा है ॥१२२॥

१. क्षर कला रूप प्राण सात रूपों में विभक्त होकर रहता है—उनमें मध्य भाग में इन्द्र प्राण की स्थिति है । इसकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण के छठे काण्ड के आरम्भ में हुई है । यहां भी पूर्व प्रकरण में व्याख्या की जा चुकी है । शरीर संस्था में सात रूपों में विभक्त ये ऋषि प्राण पक्ष पुच्छ आदि रूप से व्यवस्थित हैं, वे सब मध्यस्थ इन्द्र प्राण की धारणा से धृत हैं, यह तात्पर्य है । वे सप्त ऋषि अप् आदि भूतों को उत्पन्न करके उनको धारण करते हैं । इस प्रकार सब एक दूसरे से धारणा पा रहे हैं । इस सम्पूर्ण संसार में विधृति, धृति वा विधारणा के बिना कहीं कुछ दृश्यमान नहीं है । यह भाव है ।

"विधृति उदाहरण सम्पूर्ण"

आनन्द में विधारणा की व्याप्ति–जीवन साधनों की अल्पता से क्षीण होकर आत्मा में जब आर्त भाव आता है, अथवा अन्य किसी से आक्रान्त हो जाने पर जब दुःखानुभूति होती है तब धारणा शक्ति के द्वारा धैर्य भाव आ जाने पर पुनः आनन्द अवस्था में स्थिति होती है, अर्थात् धृति द्वारा ही आनन्द की भी स्थिति रहती है ॥१२३॥